चन्द्रमहीपतिः

कमला

एतावत्सरसिजकुड्मलस्य कृत्यं
भित्वाम्भः सरसि विनिर्गमो बहिर्यत् ।
आमोदो विकसनमिन्दिरानिवास-
स्तत्सर्वं दिनकरकृत्यमामनन्ति ।

श्रीनिवास शास्त्री

कर्तव्यमूर्तये कर्मयोगिने
विद्यावाचस्पतये
उपकुलपतये
श्रीमते इन्द्राय सादरम् —
श्रीनिवास शास्त्री
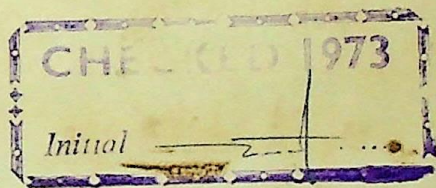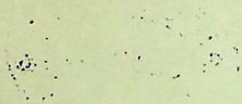
श्रीमदाचार्यश्रीनिवासशास्त्रिकविताकान्तविरचितः

चन्द्रमहीपतिः

पार्वतीविवृतिसहितः

कमला

प्राक्कथनलेखकः

श्रीनरहरि विष्णु गाडगील

समालोचकौ

क० श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री (संस्कृतभाषायाम्)

डा० श्रीशतकोटिमुखर्जी (आङ्ग्लभाषायाम्)
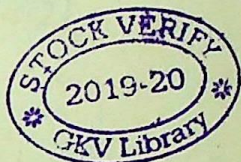
वाणी ममैव सुरसा यदि रञ्जयित्री न प्रार्थये रसविदामवधानदानम् ।
सायन्तनीषु मकरन्दवतीषु भृङ्गाः किं मल्लिकासु परमन्त्रणमारभन्ते ।।

* * *

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालैर्दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्धया ।
तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने वसन्ति ।।

निर्माणकालः १९९१ वैक्रमः
प्रथममुद्रणकालः २०१६ वैक्रमः

प्रकाशक:
श्रीनिवासशास्त्री
११८, अमहर्स्ट स्ट्रीट,
कलकत्ता–६

मूल्यम्, रूप्यकषट्कम्

पुस्तकप्राप्तिस्थान

(१) जीवो, १७, शिवतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता-७
(२) भारद्वाज ट्रेडिङ्ग कम्पनी, ५४, इजरा स्ट्रीट, कलकत्ता-१
(३) बम्बई पुस्तक भण्डार, १६५।५, महात्मागांधी रोड, कलकत्ता
(४) चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस। चौखम्बा विद्या भवन चौक, वाराणसी।
(५) भारद्वाज भवन, राजगढ़, पो० सादुलपुर, राजस्थान।
भारत के समस्त प्रख्यात पुस्तक विक्रेताओं के निकट।

मुद्रक:
श्रीफणिभूषण हाजरा
गुप्त प्रेश
३७।७, बेनियाटोला लेन,
कलकत्ता–६

वैयाकरणकेशरिणां

पूज्यजनक-
श्रीनवरङ्गरायशास्त्रिणां

करारविन्दयोः समर्पणम्

आराध्यदेव !

श्रीचरणसान्निध्ये समधिगतं शास्त्रप्रकाशमर्थ-जगतो विभीषिकान्धतमसं विलुम्पति । तस्य क्षीयमाणज्ञानप्रकाशस्य कतिपयानवशिष्ट-शब्दांशूनवचित्य न्यास एष सम्भालयितुम-शक्यः सम्भाव्यमानः श्रीमद्भ्य एव सादरं सश्रद्धं सलज्जञ्च प्रत्यावर्त्तयता समर्प्यते—

—श्रीनिवासेन

श्रावणी पूर्णिमा १९९१ वैक्रमः

भारद्वाजभवनम्,

राजगढ़, बीकानेर

(राजस्थान)

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते। तत्र--

ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां पाठकर्मणा।
सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत् ।।

इति हि धर्मशास्त्रकाराः समामनन्ति। तत्र ऋषीणां पाठकर्मणेतिवचनस्य तात्पर्यमिदमेव यदृषिभिः प्रज्ञानेत्रेण विलोक्य यद् ग्रन्थेषूपनिबद्धं तत्साभिनिवेशमनुशीलनीयं तदनुरूपा नव्याश्चापि ग्रन्था विरचनीया इति। एवमेवर्षिप्रतिपादितं रिक्थं परिरक्षितं परिवर्द्धितञ्च स्यात्, ऋषि ऋणञ्च निर्यातितं स्यात्। अधन्यतया पुनरस्माकमद्यत्वे खलु निरल्पतमा एव ऋषिऋणविनयाय प्रयासमातिष्ठन्ति, सुविरलतमाश्च तत्र साफल्यमधिगच्छन्ति। एष्वेव च सुविरलतमेष्वन्यतमः श्रीश्रीश्रीनिवासशास्त्रिमहाभागः। साहित्यव्याकरणादिविविधशास्त्रेषु कृतश्रमेण विपश्चिदपश्चिमेन शास्त्रिमहाभागेन रसभरनिर्भरेण गद्येन चन्द्रभूपतिकथा समुपनिबद्धा। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्" इत्युपदेशमनुपालयतापि शास्त्रिमहोदयेन लेशतोऽपि प्रसादो न परित्यक्तो न वा माधुर्यमुत्सारितमित्यहो सुवर्णेऽपि परमामोदः। प्रमादा अत्र वर्त्तन्ते केचन, परं चारुतरतरुण्याः कपोलकज्जलवन्न प्रभवन्ति ते कथागतमुत्कर्षमपहन्तुम्। अवश्यमेव समास्वादनीयः कथाया अस्या रसः सहृदयैः। प्रतिविद्यालयं प्रतिमहाविद्यालयं प्रतिपुस्तकशालञ्च रक्षणीयमिदम्। पुस्तकस्यास्य कृते शास्त्रिमहोदयो राष्ट्रकर्णधारैः पारितोषिकेण संवर्द्धनीय इति नः प्रतिभाति।

अत्र पद्यान्यपि भूयांसि विलसन्ति। तेषु च कानिचन ग्रन्थकृत एव, अपराणि च तेषां तेषां कवीनाम्। सर्वाण्येव सरसानि मनोहराणि च। इतरकविषु च प्रतिवादिद्विरदपञ्चानने पण्डितराजजगन्नाथे शास्त्रिमहोदयस्य बहुमानो दृश्यते। शास्त्रिमहाभागस्य गद्ये पद्ये च सममेव नैपुण्यं परिलक्ष्यते।

चिरञ्जीवतु शास्त्रिमहोदयश्चिरञ्च समलङ्करोतु सुरसरस्वतीमीदृशीभिः सुमनोमालाभिरिति शिवम्।

८, भूपेन्द्र बोस एवेन्यू कलकत्ता २१।४।५९.	श्रीक्षितीशचन्द्रचट्टोपाध्यायः मञ्जूषासम्पादकः
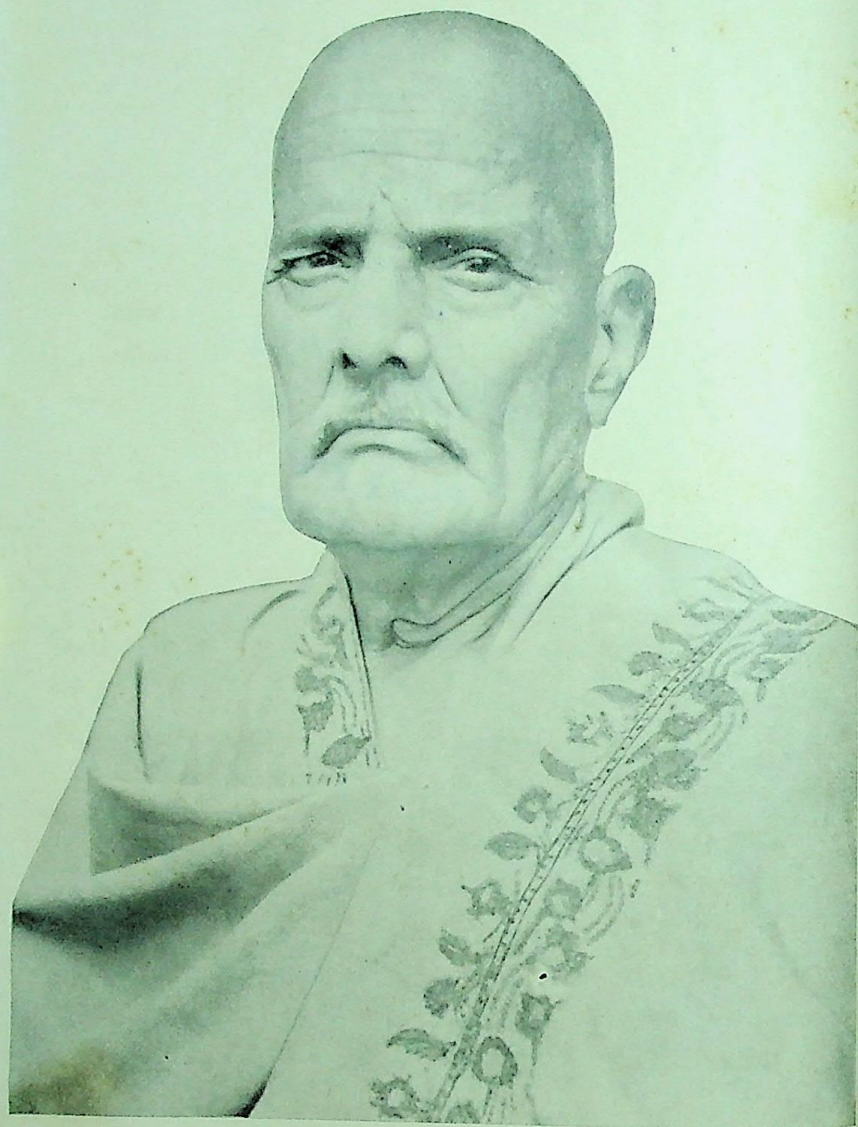
वैयाकरणकेशरी श्रीनवरङ्गरायशास्त्री

राजभवन
चण्डीगढ़।

पञ्जावराज्यपाल महामहिम श्रीनरहरि विष्णु गाडगोल महोदय का
प्राक्कथन।

मनुष्य प्रातःकाल उठ कर अपने शरीर के कार्य करता है, फिर अपने बान्धवों के, फिर मित्रों के, फिर दूसरों के। यह सब पहलुओं में लागू होता है। कुछ स्वयं बन कर राष्ट्र को बनाने का उद्देश्य उत्तमपुरुषों का सभी राष्ट्रों में रहा है। उन्हीं सब कार्यकलापों के एक प्रणालीबद्ध निरूपण को उस पुरुषोत्तम के द्वारा या बाद में एक वाद का स्वरूप मिलता है। इसी उद्देश्य से विश्व में विश्वहित के लिये विभिन्न वाद देखे जाते हैं। वाद के प्रणेता एवं उसके अनुगामी उस अपने वाद को ही सर्वाधिक विश्वजनहिताय मानते हैं। परन्तु इन सब वादों से ऊपर उठ कर इनकी वास्तविकता देखने से सभी अपूर्ण से दिखाई पड़ते हैं। यही कारण है कि अनेकों वाद विश्वमंच पर आये और विलीन हो गये। परन्तु सर्वोदय एक ऐसा समन्वयात्मक वाद है जिसमें स्थायित्व की क्षमता है। लेखक ने सर्वाभ्युदय का प्रयोग विशेष उद्देश्य से किया है, और व्याख्या की है...'सर्वेण' 'सब मनुष्यों द्वारा' 'सर्वस्मिन्' 'सब काल और स्थितियों में' 'सर्वस्मै' 'सब के लिये' 'सर्वस्मात्' 'सब उपायों से' 'सर्वस्य' 'प्राणिमात्र का' अभि='समन्तात् उदयः सर्वाभ्युदयः'।

इससे उसकी व्यापकता में और चार चांद लग जाते हैं ; सबका उत्कर्ष और वह भी सर्वतोभावेन। लेखक की दृष्टि में यह कोई वाद नहीं अपितु स्वभाव है और वह स्वभाव मानव में सृष्टि के आदि से है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

यहां सब के लिये कल्याण और सुख की कामना है, बहुजनों के लिये नहीं। यह पुरातन ऋषि का सर्वप्रथम आशीर्वाद है, संकल्प है। यह कोई हवाई किला नहीं अपितु विश्वरोगों की व्यवहरणीय अव्यर्थ महौषध है। इसकी आधारशिला है आध्यात्मिक अद्वैत। समन्वय, सामञ्जस्य, सामरस्य इसकी प्रणाली है। यह वस्तुतः जीवनमात्र के लिये जीवनामृत है। यह मानवनिर्मित वैषम्य को दूर करता है और प्राकृतिकवैषम्य को घटाता है। यहां प्राणिमात्र के लिये समादर प्राप्त है। इसमें स्वामी और नौकर का, मिलमालिक और मजदूर का अन्तर नाममात्र का रहता है। यदि घर में कोई नौकर कार्य करता है तो वह कृपा करता है कि अपना कार्य छोड कर हमारा कार्य करता है। अतः उसके लिये हमें हेय भाव नहीं रखना चाहिये, अपितु समादरभाव रखना चाहिये। "भोजनं जीवनस्तरश्चाधिपतिसमः स्यात्।" इसी प्रकार व्यापारिक प्रतिष्ठानों में काम करने वालों का अधिपति के समान स्वत्व होना सर्वाभ्युदय का उद्देश्य है। दस बीस आदमी मिल कर काम करें तो वह साझेदारी का काम है अगर उसमें कोई अधिक हड़पना चाहे तो वह बेहयापन है तथा चोरी है।

सर्वाभ्युदय का उद्देश्य है दूसरों के लिये जीवो, ऐसा समाज निर्माण जिसमें व्यक्ति को सर्वविध विकास का अवसर प्राप्त हो। इसमें न अमीर न गरीब, फिर भिक्षुक का तो प्रश्न ही नहीं।

आज श्रमी को श्रम का मूल्य नहीं मिलता। किन्तु यथाकथञ्चित् जीवनधारण के लिये कुछ मिलता है। शेष वह साझेदार हड़प जाता है जिसे आज की पूंजीवादी भाषा में "स्वामी" कहा जाता है। इस हराम की कमाई का निराकरण सर्वाभ्युदय के लिये परमावश्यक है। यन्त्रों का उपयोग मानवविकास

के लिये हो, धनसंचय के लिये नहीं। आज मानवता संकट में है और उससे त्राण पाने का एक मात्र रास्ता है "सर्वाभ्युदय"।

हमारा इन शताब्दियों का इतिहास पूंजीवाद से प्रभावित होकर स्वार्थ-नीति से नितान्त दूषित रहा है। हममें से ही कुछ ने विदेशोंसे आततायियों को भारतविदलन के लिये बुलाया। हमारे भीतर विद्यमान स्वार्थों के बल पर ही उनका शासन चला। मनमाने अत्याचार हुये और अन्त में भारतमाता के खंड हुये। आज भी यत्र, तत्र, सर्वत्र राजनीति, व्यापार और सम्प्रदाय में यह स्वार्थ ही सर्वोपरि है। सरकारी नौकरियों व व्यापारिक प्रतिष्ठानों में ऊँचे पदों में स्वार्थ व पक्षपात ही दृष्टिगोचर होता है। तिकड़मी स्वार्थी समानशील अधिकारियों से सांठगांठ कर भ्रष्टाचार फैलाते हैं। ऐसे अक्षम मनुष्यों से न तो समाज की रक्षा होती है न उत्थान। धनार्जनके अतिरिक्त इनका कोई उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार की धनलोलुपता से पतन अवश्यंभावी है। इन तथा समाज में व्याप्त अन्य समस्त दोषों के लिये सर्वाभ्युदयवाद अमोघ औषध है। आइये, हम स्वार्थपूर्ण इतिहास को उज्ज्वल बनाने के लिये कटिबद्ध हों।

हिमालय के समान उज्ज्वलधवल, आकाशके समान विशाल, वायु के समान व्यापक एवं सूर्य के समान सप्रभ संस्कृत वाङ्मय में गद्यग्रन्थों की अल्पताका कारण उस समय के रसिकों की रुचि का अभाव ही प्रतीत होता है। उस समय छन्दोबद्ध विषयों का ही जनता रसास्वादन करती थी। और विशेषतः पद्यात्मक रचना ही कविता मानी जाती थी। यही कारण रहा होगा कि इस वाङ्मय में गद्यग्रन्थ अंगुलीगणनीय ही रहे। अब इस ओर विद्वानों का ध्यान जायेगा तो अवश्य ही उसकी पूर्ति हो जायेगी। आधुनिक काल में साहित्य की श्रीवृद्धि में अधिक हाथ गद्यग्रंथों का ही रहता है। अन्य भाषाओं का साहित्य गद्यग्रंथों के ही आधार पर समृद्ध हुआ है।

क्रान्ति लाने में सबसे प्रथम काम साहित्य का है। उद्बुद्ध मनुष्यों के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला साहित्य ही भविष्य में क्रान्ति लाने की क्षमता रखता है। आज भी हम रावण का पुतला जलाते हैं और राम को पूजते हैं तथा कृष्ण को प्रणाम करते हैं और कंसको गाली देते हैं, विभिन्न

तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं। यह सब साहित्य के कारण हुआ और हो रहा है। अतः उत्तम साहित्य ही राष्ट्रके स्थायी स्तंभ हैं।

कवि समय का प्रतिनिधि होता है, उसकी रचना यद्यपि इतिहास नहीं होती पर उस समय का ज्ञान अवश्य कराती है। यह बात प्रस्तुत लेखक की कृति के अन्दर सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। लेखक ने जिस विषय को चुन कर जो सर्वथा मौलिक अभिनवकृति साहित्य को दी है वह सामयिक तो है ही पर भाषासौष्ठव से अभिराम व मोहक भी है। सम्भवतः संस्कृतसाहित्य में यह सर्वप्रथम पुस्तक है जिसमें लेखक ने सर्वाभ्युदय की स्थापना की है।

पुस्तक का बाह्य कलेवर भाषा है। सर्वप्रथम उसी की ओर पाठक का ध्यान जाता है और वह आकर्षित होता है। भाव या उद्देश्य तक तो धीर गम्भीर बुद्धि वाले ही जा पाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक की भाषा की छटा बहुत आकर्षक है जो लेखक को प्राचीन कवियों की श्रेणी में उपस्थित करतो है। वर्णन में छोटे छोटे पदों के कारण सुगमता होते हुए भी कहीं कहीं बाण और दण्डी के जैसे दण्डक भी हैं। यदर्थ लेखक ने अन्तमें लिखा है कि—न्यासि कचन कचन प्रीत्यै विदुषां मया नु काठिन्यम्।

नीरजमृदुला तन्वी कुचयोः कठिनैव सम्भाति ॥

प्रकृतिवर्णन

लेखक प्रकृतिवर्णन में अद्भुत योग्यता रखता है। पाठकों को इन मनोमोहक अंशों का आनन्द अवश्य लेना चाहिये। लेखक इसी तरह आधुनिक शैली के प्रयोगमें भी सफल हुआ है।

उद्देश्यनिरूपण

यद्यपि पुस्तक के अन्तमें लेखक ने प्रतिपाद्य वस्तु का सर्वाङ्गनिरूपण किया है किन्तु पुस्तक के प्रथमपद में ही उसकी झलक प्रतीत होती है। सूर्यप्रभा के साथ प्रथम आलाप, स्वतन्त्रता संग्राम के मुकदमे का वर्णन, दुर्भिक्ष, बाढ और दुर्घटना आदि के विवरण में उसका प्रत्यक्ष अनुष्ठान दिखाया गया है।

समस्त पुस्तक में लेखक के विविध विषयों के ज्ञान की स्पष्ट छाप स्थल स्थल पर दिखाई देती है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। जीवन में प्रतिदिन व्यवहरणीय भोजनों तथा यन्त्रशस्त्रों व वैज्ञानिकतथ्यों का समन्वय साहित्यमयी भाषा में करके पाठकों के लिये एक अद्भुत उपयोगी कोष दिया है। यथा—

"प्रौढमनोरमेव कुचमर्दनेन सङ्कुचितशरीराभवद् यामिनी, विप्राश्च शब्दरत्नैर्भैरवीत्वं जहुर्विभावर्याः"। "णेणात्विति सूत्रमिव जातार्थगुप्तिः", "व्याप्ति लक्षणमिव प्रभूतनिवेशभासमानः, खण्डनखण्डखाद्यमिव खण्डितानेकशासनः, शब्देन्दुशेखर इव सिद्धान्तव्याख्याता"। 'सुध्युपास्यो मध्वरिरिव धात्रंशोऽलाकृतिः।'

'रसगुणवलिजारितपारदसेवनक्षीणक्षयः साक्षाच्चन्द्र इवालक्षि'। 'स्वर्णाद्रिगिरिगुहायामामलकीयं रसायनमास्वाद्येव', 'प्रदरं नाशयितुं पुष्यानुगमिव सेवमानायामनुपेयाभिर्दुग्धधाराभिरिव सिच्यमानायां वसुमत्यां", "विविधकल्पा सविमाना सासवा सभस्मचूर्णा चरकसंहितेव बभौ होलिका। सुश्रुता वाग्भटेन केनाप्यनुत्तरेण नावतस्थे।" "अस्या वाणी भगवद्भक्तिरक्ता कवितेव सरसा गाङ्गप्रवाहवत् स्वच्छा, शिशुहासवत् सरला, पतञ्जलिभणितिरिव भावपूर्णा सुबोधा च विद्यते।"

"चन्द्रस्तु न नाऽऽजह्मलौकिकिकासहकारमञ्जरीपीयूषपानपीनमधुपपुङ्गवः", "आयुर्वेदशास्त्रमिव लक्ष्मीविलासभागी", 'प्रियबालमनोरमश्छात्रवर्ग इव', 'कामेश्वरमोदकमुदिता', 'रम्याणि चित्राणि पुण्यश्लोकानां सर्वादीनां सर्वनामानि चाङ्कितानि सन्ति', 'रचितबृहन्न्यासो वररुचिः, वाग्वरिःदैत्यारिः श्रीशो विष्णूदयो होतृकारः','बभूव इव सुस्पष्टमज्ञायमानभ्वस्तितया', 'सोऽयं वारणार्थानामीप्सितः कालो वर्तते,' यत् कुङ्कुमेनाङ्कितोऽवितोऽकुण्ठितः शास्त्रेषु गुम्फितो गुणरत्नैः, "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इव सोदाहरणो राजा राजते।

कुछ ऐसे वाक्य हैं जो जीवन को उपदेश देते हैं, चमत्कृत करते हैं। यथा—

"स्मर! स्मर्तव्यः कुतोऽपि पुरभिदाऽशेषे जागर्षि जगति"। "हर्षेऽपि विषं भवति सौन्दर्येऽपि गरलम्", "अघटनीयघटनापटीयसः पाटवं खाटपाटस्य को जानीते", "अणुरप्यग्निः कान्तारमन्तयति", "दैवहतकेन दष्टः शन्निलयेऽपि शिवभवनेऽपि सुखी न तिष्ठति", "वस्तुतो रत्नं स्थान एव राजते", "पुमान्सुखे सर्वं विस्मरति", "महामदो लक्ष्मीविषम्," "आर्त्तवत्सलो भगवान् स्वतः सर्वं साधयति", "लेखकललनेव विचारमलिना सन्ध्या शय्यां भेजे",

"भोजनप्रिये विप्र मनस्वितेव नेक्ष्यते स्माह्लादः", "सुभिक्षे वणिगिव दुर्दृश्यदशमासीन्नगरम्", "वैयाकरणकाव्ये रसानुभूतिरिव क्वचन क्वचन प्रेक्ष्यते स्म जनावस्थितिः", "परतन्त्रतायां घृतादनात् स्वतन्त्रतायां घासादनं गरीयः", "मरुमणिः प्रतापो घासमेव जघास", "स्वार्थिनो देश्या वा स्युर्विदेश्या वा स्वार्थं लुण्ठतां रक्तं शोषयतां धनिनां वा नान्तरम्", "कुशाग्रबुद्धिरुद्योगशीलः सद्यः साफल्यमश्नुते", "मृत्युमुखं विशतां कोऽवसर उत्सवस्य", "समुद्रः शुष्कोऽपि मानसं सरस्तिरस्कर्तुं प्रभवत्येव", "दृढप्रतिज्ञं साहसिनं नरं प्राकृतिक्यो बाधा निश्चितपथान्न निवारयितुं शक्ताः", "साधनाविरहितः कथं प्राप्नुयान्मानवोऽभीप्सितम्", "मम प्रासादः साधनास्थलं न भोगभूमिः", "दोषा देव! भावनाश्रयाः", "मात्सर्यं भोगभूमावेव भवति न साधनास्थले", "अप्रियमेलनं प्रेयसीनां दुःखम्", "प्रज्ञावतां प्रज्ञायास्तदेव सुकर्म येनानाडम्बरमप्रदर्शनं जगतो विराजो भगवतोऽफलाभिलाषमर्चनं भवेदिति", "अहिंसा प्रेम च मानवस्वभावः", "वित्तच्छायायां नरो विवेकविच्युतो भवति।"

अन्तमें सर्वाभ्युदयस्थापना में महाकवियों के पद्यरत्नोंके गुम्फन ने इस स्वर्णपुस्तक को हीरकमण्डित सा कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि इस प्रकार के संदर्भों का समाज में अधिकाधिक आदर हो। और सद्यःप्रचार की दृष्टि से इसका परीक्षाओं में सर्वत्र सन्निवेश हो, ताकि संस्कृतसाहित्य की श्रीवृद्धि को प्रोत्साहन मिले।

अन्तमें आधुनिक भाषा की इस उत्कृष्टतम कृति के विद्वान् लेखक कविराज श्रीनिवास शास्त्री को भूरि भूरि धन्यवाद के साथ आशीर्वाद देता हुआ परामर्श देता हूँ कि वे संस्कृतसाहित्य के विशाल भवन में इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी दें।

चण्डीगढ
दिनाङ्क १९-३-५९

अत्यन्त आनन्द और स्नेह के साथ

नरहरि विष्णु गाडगील

अभ्यस्तानेकदेशभाषोऽनल्पलिपिज्ञः कलिकाताविश्वविद्यालयस्य तुलनात्मक-भाषाशास्त्रे सम्मानिताध्यापको भारतशासनसङ्घटितसंस्कृतायोगस्य भूतपूर्वाध्यक्षः पद्म-भूषणो डा० सुनीतिकुमारचट्टोपाध्यायः M.A. (CALCUTTA), D.LIT. (LONDON)

সভাপতি	Chairman	सभापति
বিধান-পরিষদ্	Legislative Council	विधान-परिषद्
পশ্চিমবঙ্গ	West Bengal, Calcutta	पश्चिमबङ्ग
কলিকাতা ॥	December 2, 1958.	कलकत्ता ॥

I have gone through the Sanskrit work in both prose and verse "CHANDRA MAHIPATI" which has been composed by Kaviraj Shri Shriniwas Shastri of the Shri Visuddhanand Saraswati Marwari Hospital in Calcutta. This is a work of a new type in which he has sought to give in simple sanskrit prose, with verse stanzas in different metres occasionally interpersed, an exposition of the Sarvodaya ideal, in the form of a story. The Author has a very remarkable facility in the use of Sanskrit and he is a true poet to whom Sanskrit Versification in different Styles comes most easily. I am sure, a book like this will be very much appreciated by those who can read Sanskrit, and it should be useful for students of Sanskrit who want some good reading matter outside of the classical texts which they have to study.

I wish a wide publicity for this Book and I TRUST ON ITS OWN MERITS it will be accepted by our sanskrit Scholars all over the country.

Suniti Kumar Chatterji

GOVERNMENT SANSKRIT COLLEGE

Calcutta, the 14th January, 1959.

No. 2339/A1

I have gone through the book entitled "CHANDRA MAHIPATI" by Pt. Shriniwas Shastri, It has given me very great pleasure to notice that even in present time a Scholar can write sanskrit Prose with much ease and flexibility of style. I would only wish the book a **wide publicity.**

Dr, GAURINATH SHASTRI,
Principal
Sanskrit College, Calcutta.

Judge High Court

36, Ballygunge Park,
Calcutta-19.

Calcutta

I have read with great pleasure and interest CHANDRA MAHIPATI a sanskrit work of Kaviraj Shriniwas Shastri of S.V.S.M. Hospital, 118, Amherst St, Calcutta-9. The book is well written. The Story rings true to the universal ideals of the Hindu Sanatan Dharma. The author has done a distinct service. First, to the ideals of such Dharma and Secondly, to the cause of Sanskrit. **It is a Commendable endeavour.**

Dated Monday the 9th day of February, 1959

(Sd) P. B. MUKHARJI
(Honourable Justice High Court Calcutta)
President. Bangiya Sanskrit Shiksha Parishad.

MINISTER
Law Deptt. and Local Self-Government
and Panchayats Department
Government of West Bengal.
६-२-५९

मैने पं० श्रीनिवासजी शास्त्री का "चन्द्रमहीपति" नाम का उपन्यास संस्कृत भाषा में पढ़ा। शास्त्री जी ने इस उपन्यास को अत्यन्त सुन्दर रूप से लिखा है। इसके भाव और भाषा दोनों ही सराहनीय हैं। यह पुस्तक संस्कृतज्ञों के लिए पठनीय है। इस सफलता के लिए मैं पंडितजी का अभिनन्दन करता हूँ।

ईश्वरदास जालान

विश्वविख्यातश्रीसरआशुतोषमुखर्जीमहोदयज्येष्ठपुत्रस्य, लोकनायकस्य मुक्तात्मनोऽमरकीर्त्तेः श्रीश्यामाप्रसादमुखर्जीमहाशयस्याग्रजस्य न्यायसिन्धुरमाप्रसादमुख्योपाध्यायस्य—

Phone ४८-१८९१ ७७, आशुतोषमुखर्जी रोड, कलकत्ता-२५

कविराजश्रीनिवासशास्त्रिविरचितं कथाकाव्यमालोक्य परां प्रीतिमाप्तवानस्मि। प्रशंसनीया पदविन्यासपरिपाटी, आधुनिकविभिन्नविषयाणामनुशीलनशैली, भारतीयसंस्कृतावनुपमानुरक्तिश्चास्य काव्येऽस्मिन् मया समवलोकिताः। व्याकरणसाहित्यायुर्वेदादिषु वैदुष्यमुपेयुषः शास्त्रिणः काव्यकलानैपुण्यं मनीषिमनःप्रीणनहेतुतामर्हति।

परमेशप्रसादात् श्रीनिवासस्य कवेः काव्यमिदं यशसेऽर्थकृते शिवेतरक्षतये चास्तु इति मे शुभाशंसा।

श्रीरमाप्रसाद मुख्योपाध्याय न्यायसिन्धुः

कविचक्रचक्रवर्तिनश्चक्रवर्त्तिनो महामहोपाध्यायस्य श्रीकालीपदतर्काचार्यस्य कविकाव्यप्रशस्तिः —

श्रीश्रीनिवासशास्त्रिग्रथितं नानागुणैः समाश्लिष्टम्।
चन्द्रमहीपतिकाव्यं गद्यनिबद्धं मया दृष्टम्॥१॥
गद्यं सहृदयहृद्यं कविगुणनिकषं चिरं वदन्त्यार्याः।
बाणसुबन्धुप्रमुखाः कवयो यत्र श्रिताः कीर्त्तिम्॥२॥

संस्कृतकाव्यविभूतिः क्रमशः क्षीणा वसुन्धरापृष्ठे ।
दृष्टं जनयति तापं सुचिरात्तत्रानुरक्तानाम् ॥३॥
पद्यं कथमपि हृद्यं बहवः कवयः सदा निबध्नन्तः ।
सम्प्रत्यपि सन्तोषं विदधति यत्नैरनायासैः ॥४॥
किन्तु न गद्यनिबन्धे भाति बहूनां विपश्चितां यत्नः ।
अथवा सत्यपि तस्मिन् स्वल्पजनानामिहोत्कर्षः ॥५॥
श्रीश्रीनिवासशास्त्री व्यरचयदेतद् यदुत्तमं काव्यम् ।
सुघटितगद्यमयं तत् सुखयति चित्तं सचित्तानाम् ॥६॥
वृत्तं बहुरसवित्तं निर्वृतचित्तं स्वया धियोपात्तम् ।
कवितोत्कर्षात् सत्यं प्राकृतमप्राकृतं भाति ॥७॥
नूत्नं कल्पनरत्नं कविना यत्नाद् वृतं परं चित्रम् ।
बाणप्रभृतिकवीनां स्मरणं येन प्रसिद्धानाम् ॥८॥
शक्तिः कापि समृद्धा स्वभावसिद्धा मतिर्नयाविद्धा ।
सुकवेरत्र समिद्धालङ्कृतिशास्त्रे तथा श्रद्धा ॥९॥
ललितालङ्कृतिरम्यध्वनिपदसुभगा कृतिर्यथा योषा ।
विलसत्सुरसविशेषा रसयति चेतो रसज्ञानाम् ॥१०॥
शब्दपयोनिधिपारं न किमयमाप्तः कवीश्वरो बाढम् ।
येन विवक्षितभावा विवृताः सर्वे स्फुटाकारम् ॥११॥
क्वापि सुरम्यं गीतं क्वापि सुपद्यं प्रसङ्गतो नद्धम् ।
सारस्वतगतिभेदे कथयति निखिले कवेर्दाक्ष्यम् ॥१२॥
प्रोच्छ्वसदच्छतरङ्गा रिङ्गति गङ्गा यथा निरासङ्गा ।
प्रसरति ललितोल्लासा तद्वत् सुकवेरितो भाषा ॥१३॥
एष हि काव्यनिबन्धः सुमधुरबन्धः प्रसाधितानन्दः ।
सुकवेरस्य किल स्याद् विजयपताका जगत्यस्मिन् ॥१४॥
दवयतु दैवतवाणीमृतिपरिवादं जनैः कृतोन्नादम् ।
मानरहितमहिमानं वहतु किलासौ ससम्मानम् ॥१५॥

श्रीश्रीनिवासशास्त्री सुकवियशोभिः सुशोभयन्नाशाः ।
रसिकविशेषानेवं रमयतु नियतं सरस्वत्या ॥१६॥

आमयविरहितमायुश्चिरमयमीयाद्दयावशाद्धातुः ।
एवं ललितनिबन्धैरान्ध्यं जगतस्तथा छिन्द्यात् ॥१७॥

ईदृशकाव्यविचाराद् विबुधा मुग्धा दृढं विबुध्यन्ताम् ।
संस्कृतभाषामसमां राष्ट्रियभाषापदे योग्याम् ॥१८॥

जयति कविकुलश्रीः श्रीनिवासो नवीनः
सुमधुरसुरवाणीगद्यविद्याप्रवीणः ।
जयति विबुधवाणी तेन दत्ताभिमाना
जयति भरतभूमिस्त्वद्गुणैरेधमाना ॥

१३६५ बङ्गाब्दीय सौरमार्गशीर्षस्य त्रयोदशदिवसीया लिपिरेषा । } महामहोपाध्यायश्रीकालीपदतर्काचार्यस्य ।

म० म० डा० श्रीयोगेन्द्रनाथतर्कसाङ्ख्यवेदान्ततीर्थानामाशीर्वादः—

कविराजश्रीनिवासशास्त्रिप्रणीतश्चन्द्रमहीपतिनामकः सन्दर्भो मया साद्यन्तमवालोकि। सन्दर्भोऽयमधुनातनीं समस्यां स्पृशन्, इदानीन्तनीं प्रणालीं व्यवहरन्, प्राचीनकवीनां मनोज्ञमधुरां रीतिमप्यतिशयानो बाणस्य प्रबन्धसौन्दर्य्यम्, कालिदासस्य स्वाभाविकताम्, दण्डिनः पदलालित्यम्, भारवेरर्थगौरवम्, माघस्य पाण्डित्यम्, हर्षस्य वर्णननैपुण्यम्, त्रिविक्रमभट्टस्य श्लेषम्, शङ्करस्याद्वैतसिद्धातञ्च पुनः पुनः स्मारयति। मन्ये संस्कृतसाहित्येऽयमपूर्वो विषयो लेखकेन साधिकारं निबद्धः। श्रमेणास्य प्रसीदन्नहं सस्नेहमाशिषा संयोजयामि।

म० म० डा० योगेन्द्रनाथतर्कसाङ्ख्यवेदान्ततीर्थः डि० लिट्,

दिनाङ्कः २७-३-५९

सत्यं परं धीमहि

महामहोपाध्यायमहाकविभारताचार्यश्रीहरिदाससिद्धान्तवागीशमहोदयानामाशीर्वचनं बङ्गाक्षरं देवनागरीलिप्याम्—

श्रीश्रीनिवासशास्त्रिप्रणीतं चन्द्रमहीपतिकाव्यमवलोक्य नितरामानन्दितोऽस्मि। येन हि पदे पदे अनुप्रासालङ्कारझङ्कारेण काव्यमिदं स्मृतिपथमानयति महाकविश्रीहर्षकृतं महाकाव्यं नैषधीयचरितम्। स्थाने स्थाने भावगाम्भीर्य्यं माधुर्य्यमातनोति। प्रायेण नानाविधा अर्थालङ्कारा नितरां प्रीणयन्ति हृदयम्। तन्मन्ये काव्यमिदं काव्यरसरसिकेषु पण्डितमण्डलेषु सर्वथा समादरं लप्स्यते इति।

श्रीहरिदाससिद्धान्तवागीशशर्मा

तारिख २२-७-१३६५

महनीयमहिम्नोः श्रीजीवन्यायतीर्थश्रीनारायणचन्द्रस्मृतितीर्थयोः—

गद्यपद्यरचनानिपुणश्रीश्रीनिवासकृतकाव्यविशेषम्।
चन्द्रभूपतिविचित्रचरित्रं शीलयन्नतुलमोदमुपैमि॥
शक्तिप्रकाशकुतुकी कविरेष नव्यं काव्यं परैरपरिशीलितमार्गगामी।
निर्माय निर्मलमतिः सुमनोमनस्सु सानन्दसान्द्ररससौरभमातनोति॥
भट्टपल्लीवास्तव्यश्रीश्रीजीवन्यायतीर्थशर्मणः

अत्र ममापि सम्मतिरस्ति प्रीतिमाशीर्वचोऽपि वितरतो भट्टपल्लीवास्तव्य-श्रीनारायणचन्द्रस्मृतितीर्थशर्मणः।

कलिकाताविश्वविद्यालयाध्यापकशास्त्ररत्नाकरविद्यासागरमीमांसा-न्यायसाहित्याचार्यश्रीपी०एन०पट्टाभिरामशास्त्रिणाम्—

पण्डितवरैः श्रीश्रीनिवासशास्त्रिभिर्विरचितं 'चन्द्रमहीपति'-नामकं मधुरं गद्यकाव्य-महमवालोकयम्। संस्कृतवाङ्मये गद्यकाव्यानां सत्यपि वैशिष्ट्ये तद्विरचने लोकानां प्रवृत्तिर्लुप्तप्रायैव। तत्रापि सरसानां सरलानाञ्च गद्यानां वैरल्यमेवेति कथनं नासङ्गतमिव। तदिदं वैरल्यं श्रीशास्त्रिणोऽसहमाना इव ग्रन्थमिमं रचयाम्बभूवुरिति ते नितरामभिनन्दनीया

एव। अस्मिन् काव्ये न केवलं कथावस्तु सहृदयानां मनांसि रञ्जयति; वर्णनाचातुर्यम्, सरलानामेव पदानां गुम्फनम्, प्रायो दीर्घसमासराहित्यम्, शैल्या मधुरिमा आमूलचूलं प्रसादगुणप्रवाहश्चेति नूनं हृदयान्यावर्जयन्ति। स्वतन्त्रेऽस्मिन् भारते शिक्षाधिकारिण इमं ग्रन्थं शिक्षाक्रमे संयोज्य साकं निलिम्पवाण्याः प्रचारेण श्रीशास्त्रिणः पुरस्कुर्युरिति विश्वसिमि।

६।१।५९ पट्टाभिरामशास्त्री

अधिगतमस्माभिरान्तमधीतञ्च जयपुराभिजनेन श्रीमता श्रीनिवासशास्त्रिणा विरचितं चन्द्रमहीपतिरित्याख्यमुपन्यासरत्नम्। एतादृशे मनोऽभिरामे वस्तुनि रत्नमिति नैकान्तत उच्चैर्वादः। पठितुं प्रवृत्तस्यासमाप्य त्यक्तुं खिद्यते पुरोवर्त्तिवृत्त-विज्ञानोत्सुकं चेतो जनस्य। सलीलापि सरलापि ललितबन्धशालिनी भाषेति यत् सत्यं सुवर्णे गन्धसम्बन्धोऽयम्। क्रमोत्कर्षमारोहन्ती विचित्रा घटनापरम्परा उत्कण्ठा-कण्टकितानि करोति पठतां चेतांसि। एतस्य परिच्छेदाः प्रत्येकमेकनिःश्वाससमाप्यतया निःश्वाससञ्ज्ञामलभन्त। तत्र तत्र वर्णिता वनशैलकालादिरूपा प्रकृतिरपि वृत्तावर्त्त-पतितस्य संस्थापनामिव विदधाति मानसस्य। न केवलं गद्यनिषद्यायां पद्यपद्व्यामपि दृश्यतेऽस्य कवेर्महार्हं पण्यजातम्। एतानि च पद्यानि न केवलं सहजकवित्वसर-सान्यपित्वाहार्यकविप्रतिभाभासुरैः श्लेषयमकचित्रादिभिर्भूषितानि चिन्ताशक्त्युन्मेषेऽपि किमपि साहायकं विदधति पाठकानाम्। खलता खल्वधिगुणेष्वल्पभाषणमपीति विदन्नपि प्रसङ्गादिपर्यालोचनयात्रैव विरमन् नवीनस्यास्य कविप्रकाण्डस्योत्तरोत्तरोन्नति-मीशसकाशे सुदृढमाशासे इति शुभम्। साङ्ख्यतीर्थस्य श्री उपेन्द्रमोहनदेवशर्मणः।

१८८० शकीयसौरमाघस्य पञ्चमदिवसीयम्। मुनीन्द्रविद्यायतनम्
४, आनन्द लेन, कलकत्ता।

सम्मतिरत्र श्रीनगेन्द्रनाथशास्त्रिणः, ईश्वरचन्द्रशास्त्रिणश्च।

श्रीबालाजीमन्दिरचान्दोदबडोदास्थश्रीधर्मचन्द्रोदयपीठाधीश्वर-
वेदान्तशिरोमणिश्रीमदनिरुद्धाचार्यवेङ्कटाचार्य्याणाम्—

सरलया सरसया संस्कृतभाषया सुन्दरतमं सरसमेकमुपन्यासं चन्द्रमहीपतिनामकं श्रीनिवासशास्त्रिणो निबबन्धुः। यस्मिन् वर्त्तमानकालिको जनसमुदाचारः समुपन्यस्तः। काव्यरसिकाः कथारसिकाश्चेममवलोकेरन्नित्याम्रेडयामः। स्वतन्त्रया शैल्या कविः स्वाभिप्रायानाविष्करोति। अधिकरोति चोपनिबद्धा तेषु। ग्रन्थस्य कर्त्रे वेदोक्ता आशिष आशासाना वयं ग्रन्थस्य प्रथनमभिलषामः, इति शम्।

कलकत्ता—दिनाङ्कः २८-१-५९ अनिरुद्धाचार्यवेङ्कटाचार्यः

ता० २५-२६-२७ दिसम्बर १९४० में प्रथम बीकानेरराज्यसाहित्य-सम्मेलन, डा० श्रीदशरथ शर्मा एम० ए० के सभापतित्वमें हुआ था। उसमें चन्द्रमहीपति को प्रथमश्रेणी का प्रमाणपत्र निर्णायकों ने दिया था, एवं नीचे लिखी सम्मति दी।

मैंने पण्डितवर श्रीनिवासजी शास्त्री द्वारा रचित चन्द्रमहीपति का कुछ अंश देखा एवं पढ़ा है, प्रयास वास्तव में स्तुत्य है। लेखक महोदय ने कवित्व एवं संस्कृतज्ञान दोनों का ही अच्छा परिचय दिया है। आपके चित्रालङ्कार वास्तवमें अपने ढंगके बहुत अच्छे नमूने हैं। आशा है कि आप नवीन ढंगसे कुछ नवीन उपन्यास एवं आख्यायिकाओं को लिखकर संस्कृतसाहित्यसंसार को अवश्य उपकृत करेंगे। आपने कथानक को पर्याप्त रोचक बनाया है; प्रकृतिवर्णन की भी कमी नहीं। हमें आशा है कि, संस्कृतसाहित्य के विद्वान् इनकी कृति को अपना कर लेखक महोदय की उत्साहवृद्धि एवं संस्कृतसाहित्य की श्रीवृद्धि करेगें।

२७।१२।४० (डा०) दशरथ शर्मा

बीकानेरराज्यसाहित्यसम्मेलनप्रधानसभापतिः।

डूंगर कालेज, बीकानेर के हिन्दीविभागाध्यक्ष ख्यातनामा श्रीस्वामी नरोत्तम दासजी—

श्रीमान् पंडित श्रीनिवासजी शास्त्री की अभिनव अनुपम कृति चन्द्रमहीपति के कई अेक अंश मैंने देखे और सुने। यह ग्रन्थ पंडितजीकी काव्यशक्ति का सुन्दर परिचायक है। वर्णनों की निराली छटा के साथ साथ अलंकारादि का तथा व्याकरणविषयक विविध बातों का मनोहारी सौन्दर्य ग्रन्थ में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। पंडितजी की यह रचना सर्वप्रकारेण अभिनन्दनीय है। आशा है अिस प्रकार की अनेकानेक सुन्दर-रचना से पंडितजी अमरवाणी के भंडार को भरते रहेंगे।

पौषवदि १४ सं० १९९७

नरोत्तमदास स्वामी एम० ए०

सप्रमोदमिदमावेद्यते यद्राजस्थानीयविद्वन्मणिमालायामभिनवमणीयमानस्य श्रीमतः श्रीनिवासशास्त्रिण आयुर्वेदाचार्यस्याभिनवा कृतिः "चन्द्रमहीपति"—नामकः संस्कृतोपन्यासग्रन्थोंऽशतः समालोकि। इतः प्रागपि कियांश्चिदंशोऽस्य दृशोगोंचरतामनायि। महानयं हर्षावसरो यदधुनापि संस्कृतविदुषामुर्वराशक्तिसम्पन्नं मस्तिष्कमीदृशि सर्वविधगुणसम्पन्नानि काव्यानि निर्मातुं प्रभवति। काव्यस्यास्य भाषा, भावः, रीतिः, गुणालङ्कारादियोजनं चेति सर्वमेव मनोहारि। ग्रन्थरत्नमिदमासाद्य सूक्तिधेनुर्भगवती भारती प्रसीदतामिति निर्मायेन मनसाऽऽशासे—

हनुमत्प्रसादशर्मा (साहित्याचार्यः)

प्रधानाध्यापकः

एच्० आर० संस्कृत कालेज

रामगढ (सीकर)

राजस्थान

विद्यावारिधिः

विद्याधरशास्त्री एम० ए०

संस्कृतविभागाध्यक्षः—

डूंगर कालेज, बीकानेर

सरदारशहर

पौ० कृ० १३

वै० सं० १९९७

शब्दरत्नभाण्डागार इव ललितहास्यरुचिसमन्वितः संस्कृतभाषाविकासहेतुत्वादध्येतव्यः सामयिकश्चायं श्रीनिवासशास्त्रिणश्चन्द्रमहीपतिः कमलानामको ग्रन्थः।

वृद्धिकामस्त्रिकालदर्शी तीर्थराजमिश्रज्योतिषी।

श्रीनिवासशास्त्री का चन्द्रमहीपति देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वर्णनशैली, भाषा प्रवाह विशेषरूप से उल्लेखनीय है। मानसिक भावों का संघर्ष उपन्यास के तत्त्वों में प्रधान गुण माना जाता है जिसे सुन्दर रूपसे सन्निविष्ट किया है।

रामकृष्ण भारती, शास्त्री, बी० ए० साहित्यरत्न
सरस्वती कालेज, लाहौर

सरदारशहर, २६।१२।४०

Sri Bhandarakere Mutt. Udipi, (South Kinara)

Dated 2-2-1959 Camp कलकत्ता।

स्वस्तिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकत्वाद्यनेकविरुदाङ्कितवदिक द्वैतमतप्रतिष्ठापकजगद्गुरुश्रीमन्मध्वाचार्यशुभसम्प्रदायप्रवर्त्तकश्रीमदुड्पिभण्डारकेरिमठाधिपतिश्रीविद्यामान्यतीर्थस्वामिपादाश्चन्द्रमहीपतिनामकग्रन्थकर्तृभ्यः श्रीनिवासशास्त्रिभ्यो नारायणस्मरणपूर्वकं निवेदयन्ति—युष्माकं चन्द्रमहीपतिनामको ग्रन्थः सर्वाभ्युदयायात्युपयुक्तः प्रतिभासते, मनोहरकथाप्रसङ्गेन जनानां चित्ताकर्षक इति मन्यामहे। अस्मिन् ग्रन्थे सर्वे जना आदरं करिष्यन्तीति वयमाशास्महे, इत्यनेकनारायणस्मरणानि।

[वेदविद्याप्रयतमानमानसः
कलिकातास्थो व्यापृतवैरिष्टरः
श्रीकालीप्रसादखेतानः]

"Naurang"
6. South End Park.
P. O. Rash Behari Avenue.
Calcutta-29,
22nd March, 1959.

The publication of CHANDRA MAHIPATI by Kaviraj Shriniwas Shastri is a very interesting event in the field of modern Indian literature. It is a novel written in modern Sanskrit. The style is Composite, partly of the old and partly of the new. Ingenious forms of grammar and of descriptions of nature alternate with coined scientific expressions and modern political and social topics. I must state frankly that all the translations of the scientific words are not likely to be accepted by the public. But that does not affect the merit of the book. It is a bold attempt to employ Sanskrit once again as a medium for popular literature. What is more, is that the book is bound to prove to be a source of inspiration to writers in Sanskrit even including himself..........

(Sd.) Kali Prasad Khaitan

लेखकस्य द्वित्राः शब्दाः

युगद्वये व्यतीते पञ्चविंशतिं सम्प्राप्तो युवेव चन्द्रमहीपतिमन्मञ्जूषातो निःसृत्य मृत्पूर-निरुद्धो बीजाङ्कुर इव श्रीमतां समक्षं समायात एव।

सर्वत्र राष्ट्रे स्वातन्त्र्यपूरे प्रवहति, प्रत्येकस्य मानसे सुखेन समृद्धया च युक्तं राष्ट्रं द्रष्टुं व्याकुले, विदुषां संसारे विभिन्नभाषासु सत्स्वप्यनेकेषु ग्रन्थरत्नेषु "सर्वोऽप्यर्थो बुधैः स्पृष्टो यद्यपीह तथापि मे। सत्सन्दर्भाशविर्तता ममता केन वार्यते"। इति हृयुक्तदिशा दुःसाहसेन मयैव निबद्धः। परं संस्कृतलेखकानामार्थिकी स्थितिर्भीषणा, प्रकाशनमतिदुष्करम्। अधुनैतत्प्रकाश्यते—इति विचार्यैवाहं प्रसीदामितमाम्।

विंशे वयसि यौवनोचितया निरनुभवया स्वेच्छाचारितया, अबहुज्ञतया, अबहुदर्शितया च सह लेखनवचनाभ्यासः शैशवसुलभा पण्डितम्मन्यता चासीत्। अतः सन्दर्भेऽस्मिन् तत्सुलभमौद्धत्यं क्वचन क्वचन विद्यते। परिग्रहफल्गुत्वमपि शिशोः प्रमोदास्पदम्। तद्विदन्नप्यहं तथाविधमेव मुद्रापयितुं निरदिशम्, यतो बालकवेर्मानसस्य परिचयः पाठकैर्यथावल्लभ्येत। प्रौढकवीनां मकरन्दस्यन्दिन्यः पीयूषमाश्च्योतयन्त्यो हार्दकमय्यो रचना भवद्भिरनेकश आस्वादिताः, सम्प्रतीमां बालकाकलीमप्याकलयन्त्विति।

पदार्थस्याभिव्यक्त्यै सन्धिनियमे क्वचन क्वचन शैथिल्यमवलम्बितम्। तदर्थं पूज्यान् धृष्टतायै क्षमापये।

उपमानोपमेये समानलिङ्गवचनतायाः शास्त्रीया परिपाटी विद्यते, परम्, "नोपमा दूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्" इति दण्डिनः काव्यादर्शस्याश्रयेण तां विद्वत्सह्यं परिवर्त्तितवानस्मि।

महनीयमहिममण्डिताः कुन्दकुमुदविलसत्सत्कीर्त्तयस्तपोमूर्त्तयो मान्याः! पुरा भारते भारवाहा अपि संस्कृतां वाचं भाषन्ते स्म। परमद्य तु कतिपय एव तत्र शक्ताः। यद्येवमेवाभविष्यत्तदा संस्कृतग्रन्थाः पुरातत्त्वविभागसंस्कृतागारस्य सम्पत्स्वरूपा एवाभविष्यन्। समस्तमस्तकमण्युचिता अस्मदादिभिर्जीवद्भिरपि पुत्रैरुपेक्षिता जननी शोचनीया दयनीया चेदिदं महद् दुःखावहम्। किं भवद्भ्य एतदेव रोचते?

अवधार्यताम्, कथमद्य हिन्दी एधते? नवोदितैषा कथं राष्ट्रभाषासिंहासन-मध्यास्ते? कथमस्याः साहित्यश्रीरैधिष्ट? तत्र कारणमासीद् यन्नवीनानामल्प-ज्ञानामपि रचना जनैरादृताः। विशेषतो न गणनीया अपि रचनाः परीक्षासु स्थानं

प्रापिताः। एकैकश आसन्नविंशानि संस्करणानि तेषां भूतानि। स्वल्पज्ञाना अपि लेखकाः कण्ठमधुरिम्णा मञ्चमापूरयन्तस्तुकान्तपद्यैर्यशो धनञ्चापुः। फलतो नवीनाया अपि अल्पज्ञलोकबाहुल्येन लोकप्रियतामुपेताया हिन्द्या राष्ट्रभाषात्वं भूतमेव।

परं संस्कृतम्? प्रथमतो लेखका एवाङ्गुलिगण्याः, तेऽपि दीना जीवनयात्रायां व्यापृता वीतरचनानैपुण्या विरचय्यापि प्रकाशयितुमकल्पाः प्रकाशितेऽपि च क्रेतॄन् न लभन्ते। संस्कृताजीविनोऽपि संस्कृतग्रन्थान् क्रीत्वा न पठन्ति। संस्कृतपरीक्षा-सञ्चालकाः, विश्वविद्यालयेषु पाठ्यनिर्धारयित्रीसमितेः संस्कृतसदस्याश्च नवीनां रचनां परीक्षासु न सन्निवेशयितुं गृहीतशपथा इव प्रेक्ष्यन्ते। केवलं प्राचीनानि घृष्टपिष्टानि पुस्तकानि निवेश्यन्ते। अस्यां स्थितौ कथं सम्भाव्येत संस्कृतोन्नतिः?

परम्, सत्स्वपि विषमकष्टेष्वस्माभिः प्रतिज्ञातव्यम्, समस्तभाषाजनन्या आद्य-भाषाया उन्नत्यै चेष्टितव्यञ्च। नवीनलेखकानां संवर्द्धने, स्वप्रभावेण नवीनरचनानां परीक्षासु सन्निवेशने लेखनप्रकाशनविक्रयणे च सोत्साहैरस्माभिर्भवितव्यम्। ग्रन्थ-विक्रेतॄन् गत्वा नवीनाः कृतीः क्रतुं जिज्ञासितव्यम्, येन ताः क्रय्यास्तिष्ठेयुः। विद्यालये-ष्वन्यत्र वा एताः कृतीरुपहर्त्तुं प्रेरयितव्यञ्च। भवादृशानां विद्याधनानां संस्कृत-प्राणानां विदुषामाशीर्वचनैरेव दुरूहेऽस्मिन् पथि सानन्दं प्रयातुं पार्य्यते।

देववाण्या अनन्योपासका अप्रतिमाः प्रतिभावन्तस्तस्यै सोत्साहमिदं विधास्यन्तीत्या-शासानो विरमामि। अथवा मामकीनः श्रमस्तु श्रीमतां करारविन्दयोराधानानन्तर-मुपरमति, सम्प्रत्यग्रिमकर्त्तव्ये श्रीमन्तः प्रमाणम्।

एतावत्सरसिजकुड्मलस्य कृत्यं
भित्वाऽम्भः सरसि विनिर्गमो बहिर्यत्।
आमोदो विकसनमिन्दिरानिवास-
स्तत्सर्वं दिनकरकृत्यमामनन्ति ॥

पुस्तकमिदं श्रीमतां समक्षमेव, करकङ्कणाय दर्पणेन किम्? ग्रन्थमधीयतां श्रीमतां विचारान् ज्ञातुमहमुत्सुकः।

रामनवमी,
२०१६ वैक्रमः
११८, अमहर्ष्ट स्ट्रीट,
कलकत्ता-९
१७।४।५९

श्रीः

"चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः"

(समालोचना)

लेखक :—कविराजः श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री, साहित्याचार्यः, आयुर्वेदाचार्यः, विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, संस्कृतार्णवः, जामनगरस्थे आयुर्वेदीयस्नातकोत्तरशिक्षणकेन्द्रे मौलिकसिद्धान्तविभागस्याध्यक्षः।

'वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्।'
नैवाद्रियन्ते बहुभाषिणं तु दुर्गे पथि प्रक्रमणं मदीयम्॥

अयमुदयतेऽभिनवोऽपि परिपूर्णः, सकलकलोऽपि निष्कलंकः, सनिःश्वासोऽप्यमन्दानन्दप्रकाशः, कथाकाव्यबन्धं बन्धुरयन्, उपन्यासाकाशं भासयन्, रसिकजनमनांसि चन्दयँश्चन्द्रमहीपतिः। इतो विंशतेर्वर्षेभ्यः प्रागयं काश्चित्कला एवादीदृशत्, अधुना त्वखिलाभिस्ताभिर्मध्येगगनं मोदमानो नभो द्विचन्द्रं चरीकर्ति।

यद्यपि भाषान्तराणां वाङ्मयानि गद्यैरेव तुन्दिलयन्ति वपूंषि, स्वल्पान्येव तेषु पद्यानि प्रचकासति। परन्तु संस्कृतवाङ्मयस्य कथैवान्यथा। इह तु वेदाः पद्यमयाः, पुराणानि पद्यात्मकानि, स्मृतयः पद्यगतयः, आयुर्वेदोऽपि पद्यैः सुवेदः, आस्तामन्यत्, कोषोऽपि न पद्येषु निर्जोषः। छन्दोऽनुरोधादस्वच्छन्दा अपि तस्मिन्नेव पथि स्वैरं प्रासरन् कवय इति तु मन्ये देशस्यास्य आनन्दैकतानताया गानैकाभिव्यङ्ग्यतां पश्यतः संस्कृतेरेव माहात्म्यम्। यद्यपि "नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः" इतिवत् 'नैकं पद्यं न गद्यं वा रसभावविदः कवेः" इत्यपि वक्तुं शक्यम्, अन्वसरँश्च तमेतमाभाणकं बाणदण्डिसुबन्धुसदृशा महाकवयो निबबन्धुश्च ते निरवद्यैर्गद्यैरपि श्राव्याणि काव्यानि, तथापि ते सन्त्यङ्गुलिगणनीयाः।

अभून्नातिचिरातीतायां शताब्द्यामपि राजस्थानगौरवगीष्पतिः, नानाविधगद्यपद्यनिबन्धबन्धनैकविधिः, जेगीयमानावधानविधानावदानः, घटिकशतकोपाधिः, श्रीमानम्बिकादत्तव्यासो नाम महाकविः, यदीयं 'शिवराजविजयं' नाम गद्यकाव्यं सौष्ठवेन, सारल्येन, भाषाव्युत्पत्त्या, विषयनिरूपणपरिपाट्या चातीव प्रशस्यते मनीषिभिः। पुनरयमवतरति रङ्गभूमौ राजस्थानीय एव महाकविः श्रीनिवासो नाम वस्तुतः

सरस्वतीनिवासो विद्वन्मूर्धन्यश्चन्द्रमहीपतिं प्रकाशयन्नद्वितीयानपि महाकवीन् सद्वितीयान् विदधच्च।

यद्यपीदं युगमस्ति तुलनात्मकसमालोचनायाः, तथापि कस्यचिल्लघनेन कस्यचिच्च महनेन बुद्धिभेदापादनं पूर्वेषां कृतिकीर्तिविलोपनञ्च न रुचिरं मन्यन्ते नीरागरोषा मनीषिणः। नैव नासंस्तादृशा अपि चाटुकाराः केवलकवयः कपयो ये दिनैकपर्याप्ताहारलाभपरितुष्टाः पंचषग्रामाधीशमपि 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' इति स्तुवन्तो वाचं विग्लापयामासुः, परन्तु न सर्वेऽपि तादृशाः, न वा सर्वे कुचकचनयनवदनेऽम्रियन्त। यैर्हि राष्ट्रम्, समाजम्, धर्मम्, संस्कृतिञ्च समुज्जीवयितुं कृतो वाचो देव्या वरदानस्य श्लाघ्यः सदुपयोगः, वस्तुतस्ते त्रिकालवन्दनीयाः सर्वस्य जगतः। श्लाघ्यताया अयमेव परीक्षानिकषो यज्जनसेवा सर्वाभ्युदयकामना च।

प्रस्तुतमभिनवं चन्द्रमहीपतिनामधेयं काव्यं परीक्षमाणाः सर्वथा निर्दोषमेतदाकलयामः। इह कांश्चिद् दृष्टिकोणान् पुरस्कृत्यैव समालोचनं विदध्मः, ते चेमे क्रमशः—

(१) लक्षणानुसरणेन यद्यपि कथाकाव्यमिदं व्यपदेष्टुं शक्यम्, कादम्बर्यादिवत् वासवदत्तादिवच्च, कल्पितनायकादिमत्त्वात्, तथैवारम्भे बहुभिः श्लोकैर्मङ्गलादिसमाचरणाच्च, तथापि तत्रेवात्र कथासम्बद्धानां नायकनायिकादीनां देशनगरादिपरिचयः पूर्वमेव न दीयते, अपि तु घटनाक्रमेणौत्सुक्यमुत्पाद्य तदनु तदुपशान्तिरुपजन्यते। संस्कृतवाङ्मये सर्वथैवाभिनवोऽयं पन्था आङ्ग्ल्यादिषु नवलकथावत् हिन्द्यादिषूपन्यासवच्च काञ्चिदपूर्वां छटां विच्छुरयतीति उपन्यासकाव्यमिदमिति कथनमधिकमुचितं भाति। कल्पितत्वेऽपीतिवृत्तं तथात्र सुश्लिष्टं सुसङ्गतं च यथा तस्य क्रमिके हृदयोपारोहे न मनागपि श्रमानुभवः स्यात्। पाठकः सकृत्पुस्तकं हस्ते कृत्वा लालसमानसोऽग्रेऽग्र वृत्तरसमास्वादयंस्तत्परिचयाय त्वरमाणश्च समाप्तिं यावत्तन्न जिहासति।

(२) युवकानां युवतीनां चापि शृङ्गाराद्यभिव्यञ्जनावसरेऽपि न क्वचिदुच्छृङ्खलता नग्नता वाऽवलम्बिता, प्रत्युत "अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्" इति नियमानुरोधेनौचित्यरक्षणाद् रसनीयता सर्वत्रैवाव्याहता लब्धुं शक्या। ततश्च कुमाराणां कुमारीणां यूनां वृद्धानाञ्च सर्वेषां हस्ते निर्विचिकित्सं निर्विशङ्कञ्च दातुमर्हमिदम्।

(३) काव्यैकप्रणयिनो रसिका यथेह समुचितेन, अलङ्कृतेन, सगुणेन, ललित-

ललितेन बन्धसौष्ठवेन रसभरं निपीय मोमुदति, तथैव हि वैयाकरणा इदम्प्रथमतया निगुम्फितसूत्रसिद्धान्तादीनां काव्याङ्गतामनुभूय प्रवणान्तःकरणा भवन्ति, नैयायिकाः स्वनयेषु मनो नयन्तो नेषदपि तदुद्विग्नतां निनीषन्ति, साङ्ख्याः स्वतत्त्वानि सङ्ख्याय सर्वथैतद् विचिख्यापयिषन्ति, वेदान्तिनोऽप्यत्रानिर्वचनीयां शान्तिमनुभवन्तो न नोपसीदन्ति, बालकबालिका ललल्लीलारसालसाः स्युरत्र, नैतिका नीतिवित्ताः, समाजोद्धारकाः सुधारधोरणीधीराः, सेवाहेवाकिनस्तत्प्रकारपरिचिताः, सभासमितिसंसद्राजदरबारव्यवहारनैपुणीप्रणीतमनसश्च तत्पटवः स्युः, किं बहुना, काव्यपुराणदर्शनायुर्वेदज्योतिषविज्ञानादिविविधविषयविशेषविषक्तचित्ताः सर्व एव स्वस्वपरिचितविषयोचितां सामग्रीमिह सम्प्राप्य सम्प्रसीदेयुः। अत एवोक्तं कविना—

> वित्तो व्याकरणेषु काव्यनिपुणः पौराणिकेष्वग्रणी-
> र्गण्यो दर्शनवेदिनां व्यवहृतौ सम्प्राप्तसम्पाटवः।
> आयुर्ज्योतिरधीतिनां सुकुशलो विज्ञानविज्ञो व्रती
> राष्ट्राचारविदां वरो वरमतिः स्पृश्यादिदं पुस्तकम्॥ इति।

इहेदृग्योग्यताविधुरो नास्मिन् पुस्तके हस्तमपि दद्यादिति नैव निषेधे तात्पर्यमास्थेयम्, अपि तु किं किमत्र पुस्तके श्रमेण निगुम्फितमस्तीति स एव ज्ञातुं शक्नुयाद् यो ह्येतावद्योग्यतासम्पन्नः स्यात्, स्पृशेर्दृशेरिव ज्ञानसामान्यार्थवाचित्वादिति सर्वं समञ्जसम्।

(४) स्थलविशेषेषु क्लिष्टाप्रतीताप्रयुक्ततया भासमाना अपि केचन शब्दा न केवलं तज्ज्ञेन कविना प्रयुक्तास्तज्ज्ञेषु गुणायैव सम्पद्येरन्, प्रत्युत विकसति नवनवे ज्ञानविज्ञानप्रचारप्रसारे विगोलति चैककुटुम्बिनामिव देशदेशान्तराणां पारस्परिके विविधे व्यवहारेऽभिनवशब्दरचनायै गीर्वाणवाणीमुखमेव प्रेक्षन्ते सर्वे इति शब्दास्ते व्यावहारिकशब्दभाण्डागारमपि पूरयेयुरेव, एतादृशशब्दरचनायै मार्गमपि दर्शयेयुरेव च।

(५) इह कविना हृद्यानि पद्यान्यपि तत्र तत्र व्यरच्यन्त प्रायुज्यन्त च, "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" इति परीक्षानिकषे तु तदीयानि निरवद्यानि गद्यान्येव सर्वथा निर्मलाभी रेखाभिः समङ्कितान्युद्बोधयन्ति काञ्चन चमत्कृतिं चेतस्सु। अस्मिन् विषये कविरयं सर्वथा साफल्यमवाप्तवानिति निर्माय निगद्यते। किं च शिशुपाल-

वधकाव्यनिर्मातृमाघवत्, शिवराजविजयादिकाव्यनिर्मातृश्रीमदम्बिकादत्तवत्, नाना-काव्यादिनिर्मातृहरिद्विजवच्च कविरयं श्रीनिवासशास्त्रिप्रवरोऽपि राजस्थानीयः। अनेकेषां पावनचरित्राणां राज्ञां महाराजानामिव, पण्डितप्रकाण्डानां वैज्ञानिकधुरन्धराणामिव च राजस्थानस्य पुण्यभूमिरेतादृशानां कविपुङ्गवानामप्युर्वरा प्रसवित्रीति सदा प्रमोदेरन्नेव गुणैकपक्षपातिनो निर्मत्सरा मार्मिकाः।

(६) इह हि नानाशास्त्राणां मनोरमसमन्वयवत्, नवप्रभाभास्वराणां जीवनो-पयोगिनां समस्तानां यानादिसाधनानाम्, शस्त्रास्त्राणाम्, यन्त्राणाम्, वादानाम्, व्यव-हाराणाञ्चापि तथा नाम चेतोहारी संनिवेशोऽक्रियत, यथा नाम कवेरस्य सर्वत्र बहुज्ञता बहुदर्शिता च प्रस्फुटं प्रतिभासते। विरला एवैतादृशाः कवयो व्युत्पन्ना विद्वांसश्च।

(७) इह सूर्याचन्द्रमसोरुदयास्तमयाः, नक्तन्दिनस्यावस्थापर्यायाः, शरद्वसन्त-हेमन्तादीनामृतूनां प्रवृत्तयः, वनोपवनरम्यहर्म्यनदनदीसरित्समुद्रपर्वतदरदादिसंनिवेशानां वर्णनानि च चेतश्चटुलयन्ति तथा सजीवानि सन्ति, यथा द्रष्टुः पुरस्ताच्चित्रमिवा-ङ्कयन्ति। सकृद्विस्मृत्यात्मानं मुग्धो विदग्धो जनोऽलौकिके कस्मिँश्चनानन्दापार-पारावारे चिरं निमज्जत्येव, यावदुन्मज्जति तावत् परः कश्चनानन्दौघः पुरः प्रसर्पन्नात्मनि विलीनयति सहृदयम्। नेमानि कथञ्चिदपि हीयन्ते कादम्बर्यादीनां वर्णनेभ्य इति मुक्तकण्ठं वक्तुं शक्यते।

(८) प्राकृतिकं वर्णनमिव समस्तपात्राणां चरित्रचित्रणमपि सुरुचिरं स्वाभा-विकमत्युत्तमं च। "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये, तथा कान्ता-संम्मिततयोपदेशयुजे" लोकशिक्षणायाप्यपेक्ष्यते, तदेतत्प्रयोजनं साधु निर्व्यूढं काव्ये-नानेन। परमभिनन्दनीयं चेदमनितरसाधारणेन गुणोत्कर्षेण। यद्यपि मुख्यनायकस्य चन्द्रस्यैकाधिकपत्नीपरिग्रहः केषाञ्चित्परिशङ्कनीयः स्यात्, तथाप्यवस्थाविशेषेऽपरिहार्य-कर्तव्यतयाऽऽपतितोऽसौ न मनागपि तच्चरित्रमपकष्टुं प्रभवति। पदे पदे चन्द्रचरित्रं संयमि परमोज्ज्वलं च तं चतुश्चन्द्रचन्दिरं करोति। दृश्यतां प्राथमिके परिचये सुनिगूढोऽपि कमलायाः पूर्वरागो यथा भासते, न तथा चन्द्रस्य। परस्तादपि देशसेवैकनिरतस्य तस्य चरित्रमतितमामुज्ज्वलं स्पृहणीयं चेतोहारि च।

(९) मानसिकभावानां संघर्षस्तत्संश्लेषणञ्चैवोपन्यासकाव्यस्य जीवातुभूतम्।

तदेतदत्र पर्याप्तं निर्व्यूढं रस्यते रसिकैः सुसूक्ष्माध्ययनेनामन्दानन्दसन्दोहपरम्पराः परिप्राप्य ।

(१०) सर्वतोऽप्यधिकं यदेतत्काव्यसम्बन्धे वक्तव्यं तदिदम्—"भारतीयस्यादर्शभूतस्य समाजस्य स्वरूपं तथात्र विशदम्, सजीवम्, मूर्त्तम्, उज्ज्वलञ्च निबद्धमस्ति यदितोऽन्यस्मिन् साहित्ये प्रायो दुर्लभमेव । प्राचीनार्वाचीनादर्शयोरयं समन्वयप्रकारोऽभूतपूर्वः सातिशयमुदारश्च । श्रीश्रीनिवासव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिद् विद्वानिदं कर्तुमशक्ष्यन्न वेति सन्देहं तु भविष्यन्नेव कालो निराकरिष्यति । कृतिरियं कविना श्रीशास्त्रिणा तरुणे वयस्येवाकारि, येयमिदानीं दृशोर्गोचरतां प्राप्य सुरसरस्वतीसेवैकरसिकानां सहृदयानां मनांसि सदैव मोदयिष्यति । कवित्वशक्तिरस्मिञ्जन्मजातेति सूच्यते । तावति तारुण्ये मन्ये स्वल्पा एव सुश्लिष्टसुसम्बद्धकाव्यनिर्माणे विशिष्टप्रतिभानवन्तः स्युरिति ।

यस्य समाजवादस्यादर्शरूपं चित्रितं कविना, सोऽयं रामलीनेन महात्मना गान्धिना 'सर्वोदय'—नाम्ना व्यपदिश्यते स्म । अस्मिन् काव्ये तु तस्य नाम 'सर्वाभ्युदयः' इति निर्दिश्यते कविना । सर्वाभ्युदयशब्दस्तु "सर्वेण = समाजस्थमनुष्येण, सर्वस्मिन् = काले, सर्वस्मै = मानवाय, सर्वस्मादुपायात्, सर्वस्य प्राणिजातस्य अभि = समन्तादुदयः सर्वाभ्युदयः" इति व्युत्पत्तिं पुरस्कृत्य कविना कृत इति संस्कृतभाषाया व्युत्पत्तिनिर्वचनादिविधयाऽर्थप्रतिपादनेऽद्भुतां कामदुघां शक्तिं सूचयति । कवेश्चापि तत्र मर्मज्ञतामाविष्करोति । सर्वाभ्युदयवादस्यास्यातीव सजीवं दार्शनिकं पाण्डित्यपूर्णञ्च विवेचनमिह लप्स्यन्ते भावुकाः, अनुभविष्यन्ति च दार्शनिकीमनुभूतिं स्वैरम् ।

(११) प्राचीनादर्शानां सर्वेषां हीनतानुभावके, तत एव च विषमविषमयज्वालावलीविलीढदुःखौघनिपातदुःसहे निर्महेऽस्मिन्ननेहसि कान्दिशीकानामितस्ततश्च विद्रवतां जागतिकानां जीवानां भारतीया संस्कृतिरेव समुद्धारायालं भविष्णुः । तस्याः संस्कृतेः प्रकाशश्च केवलं संस्कृतविदुषामेव कृतिसाध्यः । परन्तु—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥

इति द्विसहस्रवर्षपूर्वमुदीरितेन भर्तृहरिवचसा, न जाने, कति कति वसुन्धरारत्नभूतास्तादृशा विद्वांसः स्युर्येषां रचना दरिद्रतावशात्प्रकाशमनासाद्य स्वाङ्गेष्वेव जीर्यन्ति, न केवलं

ता एव, अपि तु तद्रचनाकर्तारोऽपि स्वाङ्गेषु जीर्णा अहरहर्जीर्यन्ति च। परन्तु व्यतीतं तद् वैदेशिकपरतन्त्रतापाशपारवश्यं दुरितोदर्कं दुर्युगम्। सम्प्रत्यभ्युदितो युगान्तरकारी स्वातन्त्र्यसूर्यः। केन्द्रीयशासने प्रान्तीयेषु शासनेषु चानेके महामहिमशालिनो मन्त्रिणो राज्यपालाश्च, राष्ट्रसर्वस्वं राष्ट्रपतिश्च निखिलभुवनैकधात्रीं तामेताममरभारतीं हृदयेनाभ्युदितां कामयन्ते। सा चेदियमात्मगौरवोचिते सिंहासने भूयोऽपि प्रतिष्ठाप्येत, तर्हि न दवीयस्तद् दिनं यत्र शान्तिसुधाधाराः सर्वाभ्युदयाय सर्वत्र निःष्यन्देरन्। मातृभूमिगौरवसंरक्षणजागरूकैः समाजनेतृभिर्विषयेऽस्मिन्नौदासीन्यं विहाय जागरितव्यम्। पुरस्करणीया राष्ट्राभ्युदयायैव न, अपितु, विश्वाभ्युदयाय जाग्रतः संस्कृतविद्वांसः, विशालेन सङ्घटनेन प्रकाशनीयाः प्राचीनाः सारभूता ग्रन्थाः। सर्वासां वैज्ञानिकीनां प्रवृत्तीनां चिरजीवनायाभिनवा विरचनीयाः शास्त्रसन्दर्भाः। भूयोऽप्यत्र चिरविलुप्तं सारस्वतं स्रोतः प्रतिदिशं प्रवहत् पावयेन्निखिलां बन्धुरां वसुन्धराम्। अभ्युदेतु च सर्वोऽपि लोकः। ये सन्त्यधुनापि कतिपये प्राचीना विद्वांसस्तत्साहाय्यमवश्यमिहोपयोज्यम्।

कविरपि चायं द्वित्रैः शब्दैर्वाच्यो यद् युगेनानेन परिवर्तितान् प्राचीनादर्शान् प्रतिष्ठापयितुं स्वनिर्माणकौशलेनान्यानपि समुत्साहयेत्, परस्परसहयोगेन च न केवलं भारते वर्ष एव, अपि तु, विश्वस्मिन् भुवने भारतीयसंस्कृतेरादर्शान् प्रचारयितुं नेतृत्वमालम्बतामिति। सर्वः समाजोऽप्यत्र सर्वात्मना सहयोगं विदध्यादिति च।

काव्यमिदं हृदयेन प्रशस्य भूयोऽपीदमाशंसे—

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' रेखोज्ज्वला तत्र च याऽद्भुताऽभूत्।
सा श्रीनिवासस्य कवेः सदा स्यात् सर्वत्र सर्वाभ्युदयैकधात्री ॥ इति ॥

२६।३।५९
गुरौ

[signature]

A Review

By **Dr. Satkari Mookerjee,**
Director, Nava Nalanda Mahavihara
Nalanda (Patna).

Chandra Mahīpati—a modern novel in Sanskrit by Kavirāj Śri Śrīnivāsa Śāstri, price Rs, 6/- only.

——

Nobody could imagine that in modern times a scholar endowed with an extra-ordinary poetic skill and a wonderful mastery of the Sanskrit idiom could write a novel in faultless Sanskrit in the manner of the Classics written by the novelists of Europe and India. It proves that Sanskrit is still a living language and can evolve unwonted modes of expression embodying the charming features of Bāṇabhatta's *Kādambarī* together with the modern realistic approach. It is a *tour-de-force* of talent and scholarship. A Sanskrit scholar will be really surprised by the novel nuances of expression which while reminiscent of Classical beauty of the romances composed by Subandhu, Bāṇabhatta and Dandin are examples of modern realistic pictures of the current state of things. Apart from the plot, the author's melodious language is sure to grip the attention of the lovers of poetry. The author has coined new expressions which faithfully and effectively represent modern ideas. Those who are steeped in the terms of the old Sanskrit Classics, whose number, however, is extremely fewer than the modern output, will be thrilled with pleasant surprise to find that the work under review makes a happy departure from the ancient style and manner without forfeiting the attractiveness of Classics. Though on several occasions, the difficulties caused by unfamiliar expressions, may be felt by modern students accustomed to easier expressions, he will be amply recompensed by the labour undergone in mastering a rich vocabulary. In the general course of this story, the style of

the author is simple direct expressive and effective and the reader will not feel the jerks and jolts which are frequent in the celebrated classics. The work is thus remarkable for its combination of the old and the new styles.

As is the case with modern novels, it contains dialogues and conversations in a style which will not allow the interest of the reader to flag or flop. Of course it is pre-supposed that the reader is possessed of a modicum of knowledge of Sanskrit in order to be able to appreciate the beauty of this achievement. I am optimistic enough to believe that in India and outside where Sanskrit is cultivated, the present adventure will not fail to win the approbation of a large number of connoisseurs. This is in brief my evaluation of the author's language and style which ought to be regarded as setting up a new genre.

The author hails from Rajasthan which is noted for its multitudinous episodes of chivalry and romance. The love and admiration of the chivalry of the mediaeval knight-errants has been imbibed by him from the milieu and the tradition of the Brahmanical family devoted to the cultivation of the poetry and scientific discipline of the old in which he has been nurtured. In the present day, when men are accustomed to the drab commonplaces of struggle for existence,-the story of love adventure, thrills and narrow escapes may strike a modern reader as unrealistic and romantic. But with a little imagination and sympathy, the reader will get to the core of the human interest unfolded in it. It must be acknowledged that the author believes with Bernard Shaw in recent times and Mammata Bhaṭṭa of the 12th Century, that the poet has a mission and a philosophy of life, which he teaches for the edification of his readers. He is not purposely didactic and has skilfully shunned the boring effects which a pedagogue produces on his auditors. The author is not

slavishly chained to the ideas of the old order of kings and knights and has faith in the inherent rights of the average run of men and women to the good things and opportunities of the world. The story he has spun, underlines the transition from aristocracy and plutocracy to real democracy.

The communistic philosophy is now extending its sway over the undeveloped countries of the world. This philosophy is based on the hatred of classes and seeks to root out the inequalities in the distribution of wealth by violence. It ends in Dictatorship which ironically enough thrives on the enslavement of the mass. It seeks to conciliate the mob by providing food and drink and shelter in exchange of hard labour in factories. The author is keenly alive to the misery and degradation of poverty. He pleads for the liquidation of this debasing state of things in which a few men and women fatten on the drudgery of the mass. But his method is entirely different. In this novel, the author demonstrates the way in which this position of affairs can be radically reformed by a philosophy of love. He believes that, if persons who hold position and power are trained in the philosophy of love to develop a cultured and sensitive mentality, they will ungrudgingly share their wealth with their fellow beings. He calls it 'Sarvābhyudaya' which he prefers to 'Sarvodaya' This philosophy of life has been preached by Mahatma Gandhi and is going to receive a concrete shape under the leadership of Binoba Bhave with his able lieutenants as Sri Jayprakash Narayan and the like.

The author has made his hero Chandra Mahipati, a king who gives up all his wealth to his subjects. The king feels supreme joy and satisfaction in denuding himself of his superfluity of the material possessions. This was the ideal of Rāmachandra and also of Mahatma Gandhi who craved for

the establishment of 'Rama Rajya' in India after the departure of the British rulers. Our present author shows that this is not an unattainable utopia. He develops his plot with consummate skill and makes the transition from monarchy and aristocracy to democracy a natural process and eventuality.

Now the monarchial state of things has come to an end in India. India has adopted the parliamentary system of Government which is in vogue in Great Britain and America. But the high officials, from Governors and Ministers down to the humble officers of the state, are threatening to form an order of aristocracy which tends to widen the cleavage between the rulers and the ruled. This condition can be remedied and reformed if the love of superfluous wealth is shown to end in self-stultification. The horrors of poverty accentuated by foreign rule of nearly one thousand years have produced an unhealthy reaction. Our people are becoming egocentric and individualistic. It is necessary that they should learn the lesson of History that the poverty of the majority and the wealth of the minority can not go uncombatted. A new philosophy of life is to be evolved in which nobody should exploit the poverty and greed of the people. If abundance cannot be secured, we must all elect of our own free accord to share the privations with our fellow men and women. I trust, that the work of Śrinivās Śāstri will prepare the ground for this consummation.

The present novel proves the truth of the maxim of Bhāmaha, the ancient author of Sanskrit poetics. that there is no art or science which does not contribute to the making of a poet's work. Our author is a versatile scholar. He has showed his capacity to utilize his knowledge of Panini, classics and systems of Indian philosophy in the constitution of a work of art. With suitable instructions, even a beginner will be

able to appreciate the propriety and beauty of these gems constituting a mosaic of uncommon excellence.

It is encouraging to find that the persons who are placed in high positions are now realizing the necessity of preserving and fostering the cultivation of the Sanskrit language and the age old treasures of wisdom and science for the emergence of a united Indian nation. Sanskrit was the cultural language of entire India. Centuries of foreign rule have not succeeded in putting Sanskrit out of vogue. Sanskrit can still claim to be the universal language of India. It is not more difficult than English. With wise modification in pedagogy and curriculum, it can be made the official and cultural language of India as before. It is almost impossible to hope that a provincial language will become the all India language. Sanskrit can be made easy. It is only imperfection of knowledge which is responsible for imperfection of sympathy. We have had enough of lip-homage rendered to Sanskrit. It is now time to get down to brass tacks. The Sanskrit Commission has recommended the universal culture of Sanskrit in our schools and colleges. Our author has showed that Sanskrit possesses an unlimited power for evolving new words and expressions for representing the modern concepts of science, politics and law etc. No other language in India can approximate to this perfection of Sanskrit. Only if the modern universities can take courage to make Sanskrit the universal language of culture in India and give rightful encouragement and patronage to modern writers like the author of the book under review, the aspiration will attain fruition and fulfilment.

13-4-59 **Satkari Mookerjee**

Institute of Asian African Relations
108 Raja Basanta Roy Road, Calcutta-29
Director:

Dr. KALIDAS NAG, M.A. (Cal.), D. Litt. (Paris)
Visiting Professor of Asian Civilisation, Hill foundation, St. Paul, Minnesota, U.S.A.

President : Indo-Middle East Association, Calcutta
Chairman : Tagore Centenary Committee, Calcutta
Member : Indian Council for Cultural Relations, Ministry of Education. New Delhi. Phone 46-4315

Dated 25 January, 1959

Kaviraj Shriniwas Shastri is not only a Vaidya for the human body but aspires to cure the mortal diseases of our Body Politic as depicted by our master Dharmashastrins like Manu and Yajnavalkya. **With full faith in the efficacy** of Hindu Juristic ideas, Kaviraj Kavi Shriniwasji has composed an original upanyas in Sanskrit where he shows **mastery in forceful Prose and charming Poetry.** The plot is worked out as in our age of transition from individual monarchial state to socialistic welfare state "Sarvodaya" as outlined by **Mahatma Gandhi,** the father of Indian freedom.

I offer my deep appreciation to the learned author for his literary and moral ideas which should inspire men and women of free India.

So I recommend the excellent book "CHANDRA MAHIPATI" to the Schools and Colleges where simple Sanskrit language as the spiritual language of Bharat is being taught and cultivated. I wish the author every success.

Dr. Kalidas Nag
Ex-Member Raj Sabha,
Life member Viswa Bharati.
Santiniketan.

सुप्रसिद्धमेव सुरभारत्याः कल्पान्तरस्थायि नवयौवनवैशिष्ट्यम्। आसृष्टेर्जगत्यां कियत्यो भाषाः समुत्पन्नाः कालेनाकाले कवलिताश्च। प्राकृतमागधीपालीसाहित्यावलोकनान्निश्चप्रचं तासां साम्राज्यमनुमातुं शक्यते परम्, "सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः" इति स्मृत्वैव दीर्घं निःश्वसन्ति तद्भक्ताः। परमिमां चतुर्दशविद्यानां चतुःषष्टिकलानाञ्च प्रसवित्रीं प्रतिनिमेषं नवनवायमानामविकृतामविकलाङ्गीमनुक्षणं लोकोपकारि साहित्यं सृजन्तीमाद्यां देवभाषामालोक्य कमपि नवं मोदमुद्वहामः। सर्वदैवानया यथाशक्यं जगत्सेवाव्रतं निरलसया निरूढम्। आस्तिकनास्तिकसिद्धान्ताः, दर्शनानि, विविधा वादाश्चास्यां सम्यङ्निबद्धा इति को नाम विपश्चिन्नाङ्गीकुर्यात्। नात्र तनीयान् संशयलेशोऽपि यदधुना सातिशयं लोकप्रियतामुपेते सर्वोदये साम्यवादे च नवीनेन कविना भिषग्वर्येण श्रीनिवासशास्त्रिणा प्राञ्जलसंस्कृतेनोपनिबद्धोऽतीवमनोहरश्चन्द्रमहीपतिरुपन्यासः कादम्बरी-दशकुमारचरितशैलीमनुकुर्वन्नतिशयं प्रमोदोत्सवमावहति। कविरत्र विषयवस्तुप्रतिपादने-ऽतीव सफलः। आधुनिकैः प्रचारितः साम्यवादो निरीश्वरः केवलं भौतिकोऽतो न भारतीय-विदुषां प्रमोदावहः। परं कविनामुना सेश्वरो वैदिको भारतीयो मनुव्यासादिसम्मतः साम्यवादः प्रतिष्ठापितः। (यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभि-मन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ योऽसद्भ्यो धनमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति। स कृत्वा प्लवमात्मानं तारयेत्तावुभावपि) किमस्मादप्यधिकमुत्क्रामकं वचो विद्यते मार्क्सवादेऽपि ?

भारतीयः साम्यवाद ईश्वरं धर्मं परलोकञ्च सम्यङ् मन्वानः साम्यमभिलषति प्राणिनाम्। तच्चन्द्रमहीपतेर्भाषणे नवमनिःश्वासे सम्यगालोचयन्तु विचक्षणाः। भारतीयविद्यालये-ष्वस्याध्यापनं छात्राणां संस्कृतिवैमुख्यं निरुन्धत् वैदेशिकसाम्यवादादुत्तमं साम्यवादं शिक्षयिष्यतीति मे मतिः। आशासे कवेः कृतिरसमं सम्मानमाप्स्यतीति—

दिनाङ्कः ६-४-५९ काव्यसाङ्ख्यस्मृतितीर्थः कविराजहरिवक्षजोशी

प्रकाशक का नम्रनिवेदन

यह काव्य आप के हाथों में देख कर प्रसन्नता है। कलकत्ते में मुद्रण-व्यय अधिक है और संस्कृतज्ञ कम्पोजिटरों प्रूफरीडरों की अल्पता अथ च संयुक्ताक्षरों की न्यूनता भी। मुद्रापण का यह प्रथम प्रयास था और प्रूफ शोधन एक कला है, जिससे जानकारी न थी, अतः पुस्तक में यत्र-तत्र बहुत अशुद्धियां रह गईं, कुछ अंश छूट गये तथा कुछ उलट-पुलट छप गये, ये सब अब द्वितीय मुद्रण में ठीक होंगे। फिर भी जिन श्रद्धास्पद मान्यमित्रों ने अपने व्यापृत जीवन के अमूल्यकणक्षण देकर इस कार्य को बहुत सरल बना दिया, उनके नाम हम बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं—

(१) कामेश्वर औषधालय, नोहर (राजस्थान) के प्रधानचिकित्सक—
श्रीसत्यनारायण शास्त्री साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य।

(२) श्रीकृष्णाचार्यजी मिश्र, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य।

(३) श्रीतिलकधारीजी पाण्डेय, साहित्याचार्य, एम० ए०।

इनके अतिरिक्त श्रीहनुमत्प्रसादजी शास्त्री साहित्यायुर्वेदाचार्य, संस्कृति एवं संस्कृत के प्राण, संस्कृत मासिक पत्रिका "मञ्जूषा" के यशस्वी सम्पादक श्रीक्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इसमें सर्वतोमुख सहयोग दिया। गुप्तप्रेश के सुयोग्य परिचालक श्रीसमीरकुमार वसु एवं वहाँ के विभागीय कर्मचारियों ने भी बड़ी धीरता एवं लगन के साथ इस कार्यका सम्पादन किया।

पञ्जाब के महामान्य राज्यपाल महोदय ने अपने व्यापृतजीवन में समय निकाल इस पर प्राक्कथन लिखा, डा० श्रीशतकोटि मुखर्जी, डायरेक्टर, नव नालन्दा महा विहार, नालन्दा, ने अंग्रेजी समालोचना तथा पोस्ट ग्रेजुएट ट्रेनिङ्ग सेन्टर इन आयुर्वेद, जामनगर के सीनियर प्रोफेसर, साहित्यावतार क० श्रीहनुमत्प्रसादजी शास्त्री ने संस्कृत में समालोचना लिखने की कृपा की। इन सभी महानुभावों ने अपने संस्कृत-भाषाप्रेम के कारण अपना कर्त्तव्य पालन किया है, धन्यवाद वा आभारप्रदर्शन से इनके कार्य की महत्ता को लघु करना सङ्गत नहीं। प्रार्थना है कि सभी संस्कृतज्ञ इसी प्रकार अपना कर्त्तव्य पालन करें।

विनयावनत—प्रकाशक

श्रीमदाचार्यश्रीनिवासशास्त्रिकविताकान्तविरचितः

चन्द्रमहीपतिः

स्वोपज्ञपार्वतीसमाख्यया विवृत्या विवृतः

—*—

कमला

प्रथमो निःश्वासः

समरमृदितदैत्याऽऽदित्यहर्षप्रकर्षा
ललितवदनभालाद्विस्रवत्स्वेदवृन्दा ।
विगलदमृतबिन्दोर्बिभ्रती कान्तिमिन्दो-
र्जयति विहतविघ्ना कापि सा भक्तिनिघ्ना ॥१॥

महार्हरत्नाचितरक्तशाटीसुवीतमध्याद्भुतकम्रकान्तेः ।
जयन्ति फुल्लन्नलिनायितानि प्रशान्तनेत्रान्तनिरीक्षितानि ॥२॥

कार्त्तस्वराभास्वरवस्त्रभासो बुधेन्द्रसम्मानपरम्परस्य ।
श्रियां निवासस्य विदां वरस्य प्रियप्रियायाः कमलालयायाः ॥३॥

प्रत्यूहपूराहतिदिक्करेणवः शिवे ! शिवास्त्वत्पदपद्मरेणवः ।
जयन्ति साष्टाङ्गपतत्पुरन्दराः किरीटभाभानुजुषो विकस्वराः ॥४॥

वनावनिं यद्भिरभिज्ञसिद्धैः प्रासीददल्पं विपुलार्चनेन ।
दिश्याद्विपद्भङ्गमनङ्गभङ्गी भर्गो विनार्चामनुकूलभूतः ॥५॥

शिवे शिवां वञ्चयितुं प्रवृत्ते विधाय नारीमयमात्मरूपम् ।
वस्त्रान्तनिर्यत्तटिनीप्रनष्टेऽभीष्टेऽट्टहासाः प्रजयन्ति भासा ॥ ६॥

त एव सद्योऽद्य विनाशयन्तु विस्फूर्जितं यद् हृदये तमोऽन्धम् ।
यैर्वै हिमानीधवलं पुरारेर्वपुः सुधास्नातमिवावभाति ॥७॥

श्रीकालिदासामरबाणहर्षान् जगद्धरं वाग्विलसद्विभूतिम् ।
प्रणम्य विक्लेशमगम्यमार्गे विशाम्यशङ्कं सुमनःप्रपूर्णे ॥८॥

येषां निवासाय विदामधीश्वरी वागीश्वरी स्वान्तनिशान्तमीप्सति ।
शास्त्रामृताऽऽपूर्णपयोधिमन्दरा वन्द्याः कथं नाम न ते कवीश्वराः ॥९॥

क्व साध्यमेतत् पृथुशेमुषीजुषा क्व चास्म्यहं स्वल्पमतिश्चलेन्द्रियः ।
तथापि मूर्ध्ना विदुषां सतीं शिवां वहन्ननुज्ञामलमातनोम्यदः ॥१०॥

रम्यं सुधास्पर्धि कविप्रियं न चेन्न चैव सम्पन्नधियां मनोरमम् ।
तथापि रस्यं रसयन्ति कोविदा विपन्नपं लोकहितात्मकं वचः ॥११॥

त्रुट्यो यदि स्युः क्वचनाप्यमुष्मिँल्लेखात् प्रमादान्मतिविभ्रमाद्वा ।
शोध्यास्तदा सद्भिरमर्षमोषं जोषं कदा मुह्यति लेखको न ॥१२॥

ईर्ष्याहितान्तःकरणा द्विजिह्वा वागाशिषा शेषजनान् दशन्ति ।
वृत्त्यानयाऽऽनन्दितचेतसोऽमी दुःखात्परं दुःखमलं भजन्ति ॥१३॥

ततोऽपि कष्टं प्रचुरं विषह्य मनो न तस्या विनिवर्त्तयन्ति ।
सत्यं न शिष्टैः कथितं किमेतद्दग्धापि रज्जुर्वलनां न मुञ्चेत् ॥१४॥

नाम्ना भरद्वाज उदक्प्रतिष्ठो जगद्गदध्वान्तभगो महिष्ठः ।
अचाक्षुषज्ञाननिधिर्गरिष्ठोऽभवन्मुनिर्योगविदां वरिष्ठः ॥१५॥

जातो धनुर्धृतिपराहतशत्रुसङ्घः शास्ता समस्तकुरुपाण्डवबालकानाम् ।
तस्मादमेयगुणगौरवपूर्णकोणो द्रोणो विशस्तरिपुरक्तकृतान्यशोणः ॥१६॥

तदन्वये धन्वनि धान्यधन्ये सत्खेतडीरक्षितलाम्बिपल्ल्याम् ।
निश्शेषवेदान्तविशुद्धबोधो हनूतरामो व्रतिनां विरामः ॥१७॥

भूपालमौलिमणिशाणितपादपद्मः
सत्पात्रदत्तधनराशिविधूतपापः ।
तापप्रतप्तजगतो नवनीरदाभो
लेभे प्रभां विपुलबुद्धिवरो वरेण्याम् ॥१८॥

वाग्देवता मण्डलमण्डनस्य प्रकाण्डवागब्धिवगाहिनोऽस्य ।
स्वयं भवन्ती समुपस्थिताऽरं मातेव कार्यं सकलञ्चकार[1] ॥१९॥

विवेकविद्याजलपूरपूर्णाः सत्तन्त्रमीनाञ्चितचेतसोऽमी ।
सत्पूरुषाम्भोदचयैर्निपीता जयन्ति सज्ज्ञानपयोनिधानाः ॥२०॥

इन्द्रो यथा कश्यपतेजसोऽजनि स नारदोऽप्यात्मभुवो यथाऽजनि ।
तथाऽजनि श्रीमदमन्दमोदकः श्रीभानुरामो महसां निधिस्ततः ॥२१॥

---

१ जयपुरराज्याधीनखेतडीराज्यान्तर्गतलाम्बीवासिनो हनूतरामस्य शिष्यो निकटस्थ-पचेरीग्रामाधिपः क्षत्रियो नरहत्यापराधे आजन्मकारावासं प्राप। तद्बन्धुभिरानम्य हनूतरामो निवेदितः। एतैरुक्तं मोक्ष्यते भगवतीप्रसादात्। ततस्तैश्चण्ड्याः पाठ आरब्धः। आसप्ताहं नोत्तस्थुर्न जक्षुर्न चोचुः, किम्बहुना आसनपरिवर्त्तनमपि न चक्रुः। यस्मिञ्जीर्ण-तृणोटजे देवीमस्तौत्तदकस्माद्धारित्यं भेजे। तदैव पचेरीतो रथ आगत्य उपराजमातृ एतान्निनाय। तत्र किलकारसिंहमुखाज्ज्ञातं यदहं केनापि महसा जयपुरकारातो निःसार्य स्वग्रामसीम्नि निगडमोचं पातितः, इति। ताभिरवनताभिरुक्तं याच्यतां यथेष्टम्। परन्तैर्नायाचि, केवलं पचेरीवासिविप्राणां विवाहकरमोचनाय न्यवेदि। ताभिश्च प्रतिज्ञातम्। श्रूयते तद्दुर्गेऽन्तःपुरे वृद्धभावात्तेषां निष्ठ्यूतचिह्नं भित्तिलग्नं दृष्ट्वैवान्तःपुरस्था आश्नन्। सुधालिप्तेऽपि सौधे तत्स्थानमलिप्तमेवास्त। अष्टादशशताब्द्या नवतितमे वर्षे वृत्तमदः। एवंविधाः शतशश्चमत्कृतयस्तेषां गीयन्ते। पञ्चोत्तरैकोन-विंशतिशततमेऽब्दे ते देहं तत्यजुः।

पार्श्वस्थपौरव्रजपूजितो यो रेजे दधच्चन्दनपुष्पमालाः ।
माहेश्वरध्यानपरायणस्य यस्यास्त हस्तामलकं त्रिलोकी ॥२२॥

भवन्ति सत्यामृतवर्षिणो भवे रहोजुषस्तथ्यपुषो विपश्चितः ।
क्व तादृशाः संसरणस्वभावके भवन्ति चेत्ते विरला वनौकसः ॥२३॥

ततोऽभवत् पण्डितमण्डनाग्र्यः कुशाग्रबुद्धिः श्रुतपारदृश्वा ।
सन्तुष्टिदारः श्रितशास्त्रसारो विद्याधनो नान्यकरामसञ्ज्ञः ॥२४॥

धैर्ये धरां तेजसि चित्रभानुं क्रोधे यमं वाचि गुरुं सुराणाम् ।
जित्वाऽमृताप्तिप्रतिभाप्रसन्नश्छन्नेऽर्चयामास सुरान् सुखं यः ॥२५॥

तस्मात् सुपुत्रौ निपुणावभूतां मन्दारकल्पाववनौ द्विजानाम् ।
ज्येष्ठो बुधेन्द्रो नवरङ्गरायः पत्यन्तरोऽन्यो गणरायनामा ॥२६॥

ज्येष्ठो वरिष्ठैरथ जुष्टनिष्ठैः षट्शास्त्रवार्धेरवगाहवित्तैः ।
संसेव्यमानः कृतिभिः समास्तेऽसौ पण्डितेन्द्रो नवरङ्गरायः ॥२७॥

यत्पाठिताश्छात्रमचर्चिका अलं प्रकाण्डसत्त्वाः प्रथिता मनीषिषु ।
अधीतविद्याः प्रतिवादिभीषणाश्चरन्ति चर्याचकितीकृताचलाः ॥२८॥

तपःसुपुष्पा शुचिकीर्त्तिवल्लरी षट्शास्त्रसौगन्ध्यवती क्षमाफला ।
आशासु येषाँ विततातिशोभना छात्रालिसङ्गीतगुणा क्षरद्रसा ॥२९॥

अयातयामागमदीप्तकान्तेः शान्तात्मनस्तोपधनस्य यस्य ।
कात्यायनीकान्तकृपाकटाक्षैर्हेमद्युतेः पञ्च सुताः स्तुताः स्मः ॥३०॥

ज्येष्ठश्च वादीन्द्रवितीर्णमुद्रात् प्रशस्तशास्त्रौघबृहत्समुद्रात् ।
अभूद् बुधः केशरनामिकायां विद्वद्विनेयः करुणात्मिकायाम् ॥३१॥

बालोऽल्पदर्शी श्रुतविश्रुतेभ्यः शब्दागमे प्राप्य मनाक् प्रवेशम् ।
अज्ञानरुद्धेन्द्रियचापलोऽयं स श्रीनिवासो विदुषां विधेयः ॥३२॥

येनायमद्धा सुकुमारसंविदा सच्चिद्घनानन्दमभीप्सता भुवि ।
अनष्टमोहाविलया विमुग्धया धिया विनोदाय बुधां निबध्यते ॥३३॥

— : ० : —

कथारम्भ:

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः । सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ शु० य० वे० अ० २२।२२ ।

अयमाद्यो राष्ट्रियः सर्वाभ्युदयभावः । हे ब्रह्मन्! राष्ट्रे ब्राह्मणः = विप्रः (ब्रह्म अधीते वेद वा) ब्रह्मवर्चसी = ज्ञानप्रकाशित आजायताम् = सम्यक् प्रकारेण भवतु । राजन्यः = क्षत्रियः, शूरः = पराक्रमी, इषव्यः = इषुप्रयोगकुशलः, अतिव्याधी = अतिक्रान्तं धर्मशत्रून् वा विध्यति सः, महारथः = योद्धा, आजायताम् । ब्राह्मणो ज्ञानप्रधानः क्षत्रियश्च कर्मप्रधानः । तयोः सम्यग्योगादेव राष्ट्रस्योन्नतिः, परिवारस्य दम्पत्योरिव । वैश्यशूद्रयोः सेवकयोः पूर्वद्वयप्रेरितत्वेन न पृथङ्निर्देशः । धेनुर्दोग्ध्री, अनः = शकटं वहति सोऽनड्वान् वोढा=वहनक्षमः, सप्तिः = अश्वः, आशुः = शीघ्रगामी जायतामिति सर्वत्रान्वयः । सर्वे पशवोऽपि स्वस्वकर्मणि नैपुण्यभाजः स्युः । अत एवैष सर्वाभ्युदयः । योषा = स्त्री, पुरन्धिः = परिवारपालनकुशला स्यात् । अस्य यजमानस्य = देवानां गुर्वादीनां सत्कर्त्तुः सञ्जिगमिषोर्दानशीलस्य च युवा वीरो जिष्णुः=विजयी, रथेष्ठाः = योद्धा, सभेयः = सङ्घटनशीलो जायताम् । नः = अस्माकं राष्ट्रे पर्ज्जन्यः = मेघः, निकामेनिकामे = आ परितोषाद्वर्षतु । ओषधयः = ओषध्यः फलपाकान्ताः, अनेन सर्वेषामन्नानामपि ग्रहणम् । फलवत्यः=प्रशस्तफलयुक्ताः (प्राशस्त्ये मतुप्) पच्यन्ताम्= पक्वाः स्युः, देहे क्षेत्रे च । नः = अस्माकं योगः = अलब्धलाभो योगः, लब्धरक्षणं क्षेमश्च, कल्पताम् ।

विकलयति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति ।
अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देवः ॥ त्रिविक्रमभट्टः ।

स्वस्वव्याप्तिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिविपाटितारपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात् ।
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः सम्प्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः ॥ पण्डितराजजगन्नाथः ।

"प्रवर्षणधौता इव साभाः ककुभो व्यपगतरजसः कलाजुषः प्रासादाः प्रसादपत्रप्रभाः पादपाः कृष्णोज्ज्वला वल्मीकं प्रविविक्षवः सर्पा इव सरला विदूरगामिनो लोकपथाश्चावश्यं मनः प्रसादयन्ति देव ! । प्रियदिदृक्षाहर्षविधुतविवेका बहोः कालाद्वियुक्तेव सङ्गन्तुमुत्त्वरा वक्रगत्या मार्गलाघवं रचयन्ती, अष्टकेलिं कुर्वती सायन्तन्या सौरीप्रभया रक्ताम्बरावृतेव नवयौवनोल्लसिता वप्रमिव विधित्सन्ती तुङ्गोर्मिभिः, स्वयमुल्लासवाद्यं वादयन्ती सुधामधुरैः कलकलैरानन्दमेधयमाना, उच्छलत्तरङ्गैरवगुण्ठनमपनीय प्रियप्राप्तिमिव प्रेक्षमाणोन्नतग्रीवा मदिरेक्षणा परिणतयौवना नदी मानिनीव रूपगर्विता दूरेऽक्षिपथाल्लुप्ताऽन्तर्हिता । यत्र जनसान्निध्ये तस्या महदधैर्यं वीक्ष्येव मूढा उन्मत्ता इवासङ्गता द्वित्रा दूरं प्रेक्ष्यन्ते पादपा ध्यानमग्नेव शान्ता धरित्री च । चलत्तरङ्गभङ्गायाः पीतभङ्गाया इव घूर्णमानाया नद्यास्तटे उत्फुल्लकमलामोदेऽमलवारिणि हारिणि कृत्रिमेऽवकोकिले सरसि मृदुमृणालिनीमुकुलशय्याशायिभिः प्रजोपवननिकुञ्जशोभिनो मञ्चा मुक्ताः, इदानीं व्यञ्चाः शनैश्शनैः पूर्य्यन्ते । येषु महार्हवाससामाकर्षिका विकसितस्मिता आकृतयः कमलासनस्य कौशलं प्रकाशयन्ति । केचन वार्त्तामिग्ना भग्नप्रेमाण उदश्रवः परस्परावद्धैकैकबाहूनि यौवनमधुमधुराणि सेर्ष्यं वीक्ष्य युगलानि विक्षता विलोकयन्ते, परे चाभिनवप्रेयसीप्रेमपतिता अवैधप्रमणा प्रकृष्टमाकृष्टाः प्रचण्डवासनावातोद्धतबुद्धयो वधिरान्धा महामोहान्धाः । केचन पलाशपत्रपुटकेषु दध्यम्लवेशवारोपस्कृतान् वटकान् पीतशाकरसान् रसगुल्मांश्च प्रसादविकसिते प्रेयसीमुखे ददतो भक्षयन्ति, परे च पुटपातं प्रतीक्षमाणा मनोर्मणिवकाः पतनसमकालमेव ताँल्लिहन्ति ।

इतश्च नरा अप्यश्वायिता वहन्ति नारीर्नराँश्च स्वसमान्। कीदृशो व्यामोहः! कीदृग्वैषम्यम्! यद् दृष्ट्वा मनः खिद्यते।

केचन विद्यालयमसमये विमुच्य काव्यरसमनास्वाद्य वारुणीभक्ता दोलालोलां लक्ष्मीं निबन्द्धुं द्यूतव्यासक्ता अन्वयागतपरम्परापाटनपटवो रूपयौवनसमृद्धा अविवेकाश्चलचित्रगाननिरता वित्तभूचित्तभूमत्ता मोदोन्मादिनो जपन्तो मञ्चनटीनाममालां पुष्पमालां वक्षसि श्रयन्त आनासिकं पापपङ्के निमज्जन्तः प्रेक्ष्यन्ते पितृपितामहार्जितधना निकुञ्जवासवित्ता धुतसाधुताः साधितसाधिता जीवनचिन्तामणिं काचमूल्येन विक्रीणाना निद्राणास्तथ्यपथ्यपथाद्विद्रुता वासनायासिनो वितृष्णा युवानः, इतश्चै कान्तप्रियाः प्रियविद्या भविष्यज्जीवनवनध्वान्तविदिध्वंसिषया नवनीलनीरदरुचिरेऽङ्कुरितदूर्वे वृक्षच्छाये शास्त्राण्यभ्यस्यमानाश्च। इतश्च कञ्चुककोशाकलनपटवः पक्षकोटरापहृतधनास्तस्करशिशवो गुरवेऽर्पयन्ति यामार्जितं भिक्षामिव चिन्वच्चोरचिकीर्षितव्यानि शिक्ष्यमाणाश्च। इतश्च पश्चिमाशाभरणभ्रंशं प्रतीक्षमाणाः प्रवयसो वदनवलीका अपि मसृणारक्तसितावचूर्णनेन तिरोहितवलीकाश्चन्दनवन्दितवदनश्रिया यक्ष्मजर्जरेन्दुं जिगीषव इव पलितकलितकेश्योऽपि कृष्णाप (खिजाब) कृष्णकेश्यश्च्युतदन्त्योऽपि कलितदन्त्यो व्यपेतविनया लोलाक्ष्यः कान्ताकारकेशकीर्णकुन्दकुसुमा वलयितव्याले धम्मिल्ले फुल्लसितसुमस्रजः परिमलगन्धवहान्धीकृतकामुका निर्धूतशोणिम्नोरधरयोः कप्याभयोः कपोलयो रागम्, चारुचकोरचञ्चलचरयोः प्रजागरतुन्दिलशोणयोरुन्मदाक्ष्णोः कज्जलस्य सूक्ष्मां रेखाश्चायोज्याधःकृतनवयुवतयः सर्वदोत्फुल्ला लता इव प्रसन्नप्रभा यौवनजलविरहिता नीरसा अपि स्मररससरसिम्मन्याः कमलमुकुलतूलकोमलौ कुचौ लोकयूनां परिरिप्सयेव समुत्थाप्य मनोभवभूपतेः पटकुट्येव कञ्चुकिकया कुलिशकर्कशौ प्रत्याययन्त्योऽविच्छिन्नामृतबिन्दूनिव वर्षन्त्यः प्रियेषु, नारीलोकस्य स्वातन्त्र्यं दुरुपयुञ्जाना इदानीन्तननारीसमाजस्य मार्गदर्शिका हिताहितविचारविरहितबुद्धयोऽनार्यजुष्टवेशविशालगर्वाः शिशिरतरेऽपि सरति समीरे तडिल्लेखाभेनेषद्वातव्याधूयमानेनाम्बरेण दिगम्बरा इव साम्बरा अपि, शाम्बरीमिवाश्रिता मायां मायामयस्य मायाः पवनापनीतपरिमलसुरभितनभस्काः विस्रब्धं युवकहस्ताश्लेषचतुरा युवकविलोकनाकुलितचेतसो युवकरुचिरसञ्चारा भ्रूचातुर्याकुञ्चिताक्षाः स्वैरं स्मयमानाः कामकलाललितविलासवसतयो जनानां मनांसि नीविं वा विरेकुं कमनीयकरैर्गृहीतकल्लोललोलकौशेयकन्थाः शूर्पणख्यः

प्रियप्रेमोद्रेकस्खलितैर्ललितलीलाविलसितैर्मदभरशिथिलन्यस्तैरखर्वविचारपर्वतेष्विव साभिप्रायं स्खलन्त्यश्चलन्त्यो विषयाग्नावनग्निदाहं दह्यमाना इवानुद्देश्या अप्यनूनवेगं व्रजन्त्यः कामिन्यः, चञ्चदञ्चितवासोभिरानखशिखं रत्नजटितैरलङ्कारैश्चालङ्कृतास्तम्यामनभ्रं द्योतमाना विद्युत इव सक्षणक्षणं वर्यमरुत्तरादवतीर्यानधिगतचातुर्यास्तुर्यामिवावस्थां भजमाना धनानन्देन साशङ्कमितस्ततो वीक्ष्य 'एकं धनं द्वितीयं नास्ती'तीव निश्चित्य दधिमृष्टान् वटकान् क्रीत्वा युगपदेव निजिगलिषया व्यात्तमुख्यो निःसरत्स्रवन्नेत्रा एकाकिन्यो धनिन्यश्च या वीक्ष्य मनस्त्रस्यति। इतश्च श्यामदूर्वे कुचमादिनः शिशवः, यान् वीक्ष्य मानसं हृष्यति। इतश्चोद्यानकोणे प्रारब्धं राजनीतिविफलानां वरकार्यविघटनपटूनां कटूनां गर्जितबधिरितदिशां परोन्नतिकथामात्रेण शिरःशूलिनामभ्यस्ताक्षरद्वयानामप्यल्पज्ञानोद्भूतप्रतिभाभिमानानां परदोषदिव्यदर्शिनां पूर्वत्रासिद्धानां लोकप्रियव्रवाणानां वाचालानां वाग्जालम्, वृत्तवित्तानां वृत्तपत्रप्रतिनिधीनां गुप्तचराणां सङ्केतलेखनञ्च। अपरस्मिँश्च भवभयविघाताय क्षिप्तां शप्तां सुप्तां लुप्तां लुण्ठितां मानवतां पुनः प्रचिचारयिषूणां विगतायासक्लेशानां शास्त्राभ्यासे गमितवयसां लोककल्याणैकमनसां पापापनोदनपटीयसां तमश्छन्नं जीवनपथं प्रकाशयतां दुष्कृतबहिष्कृतानां गुणागाराणां काव्योरुमेरूणां पुराणप्रवीणानां नन्दनीयवन्दनीयकर्मणां प्रसादमधुराणां वीतसारमपि संसारं ससारं सम्पादयतामिद्धबोधानां सतां विदुषां प्रवचनम्। यत्र द्वित्रा एजद्ग्रीवा विलोक्यन्ते वाचंयमाः। एते भ्रान्ताः समाजेन सावमानं सगलग्रहणमवकरगर्त्ते निक्षिप्ता अपि समाजस्य भूत्यै विशिथिलं परिकरं बन्द्धुमुद्युञ्जाना प्रतीयन्त एव विक्षिप्तचेतसो मुग्धाः। यान् वीक्ष्य चक्षुः क्लिद्यते।

इतश्चाल्पवयसोऽनङ्कुरितकूर्चका उत्फुल्लामलकोमलोत्पलमुखा मुग्धस्मिताः शिशव उपानत्परिष्करणे दाक्ष्यम्, केचन मुद्गफलीनामङ्कुरितानां मुद्गमकुष्ठानां प्रशंसां समुद्घोषयन्तो लवणाम्ललिप्तानां भृष्टखिन्नचणकानां बल्यतामुष्णताञ्चोपदिशन्तः शार्करजम्बीरचूषिका विक्रीणाना उदरभर्तिसिता विद्योद्योगं जीवनस्य श्रेष्ठामिष्टामिष्टिं मिष्टिं विहातुं बाधिता भ्रमन्ति, यान् वीक्ष्य मनः क्लाम्यति।

इतश्च विश्वम्भरस्य विश्वभरणप्रतिज्ञामिवाह्वयमाना बुभुक्षाभक्षिता बलिना कलिना कवलितधर्मणः पुण्यभूमेर्भारतस्यासाधारणमहिमानस्तपोधामानो मुनय इव शुद्धाः प्रगृह्यपदवदविकारा नीरजसोऽपि रथ्यारजोधूसरिताः प्रकृतिप्रत्ययोपेता अप्यपदाः पुमांसः, अनन्यक्षुण्णश्रीका

अपि क्षुत्क्षीणश्रीकाः पतिपरायणाः पाषाणाक्रान्ता दूर्वा इव पीता महिलाः, क्षुभ्यत्क्षोणीश्रयिणः क्षुत्क्षामाः शवा इव शिशवश्च, आयासशतोत्पादितविपुलक्षेत्रसम्पदः समस्तमस्तकमण्युचिता अपि शताब्दीभ्यः समाजानुमतिप्राप्तैश्चोरैरस्तप्रणतकरुणैररुणाक्षैः परपरितापनकुतुकिभिरुत्कटकालकूटकुटिलैराजीवनाभ्यस्तपापपटलप्रतिष्ठितैः कर्कशोग्रतीव्राभद्रभावैः सर्वजयिलोभलुण्टितमतिभिः परिपूर्णभोगाभोगगरिमभिर्भोगिभिः सर्वग्रासिभिर्वार्धुषिकैर्निष्प्रयोजनं लुण्टितसर्वस्वाः कृपाकणिकाशून्येन मौनमग्नेन समाजेनानिराकृततापविपदः, जिजीविषया, उग्रदंष्ट्रान्मृत्योर्मुखान्निर्यियासया सर्वतापशमनैकभेषजं प्रपन्नभयभञ्जनं मृत्युञ्जयमिव नगरं मत्वाऽऽश्रिता लोकपथपार्श्वानाकुलयन्तो घर्षयन्तश्च प्रयत्नसहस्रेणापि भृतिमनाप्नुवन्तः स्वेदस्यन्दिनः खिन्नास्तुन्ना दीना दूनाः प्रतिनिमेषं विषवद्वर्द्धमानदुःखा जठरज्वलनज्वालोत्तप्ताः प्रसारितकम्पितहस्ता एकतानकातरदृष्ट्या वीक्षमाणाः सकरुणामभिव्यक्तिम्, असहायां विह्वलतां निष्कपटां भङ्गिञ्च प्रत्यादधाना अनभ्यस्तयाचनवचनैः सहैव निःसरत्प्राणा अल्पप्राणाः प्रेक्ष्यन्ते ग्रामीणाः, यान् वीक्ष्य मनो भ्राम्यति ।

इतश्चार्थैषणया दारगवं विहाय राजधानीमुपेता वैफल्यविकलाः परिभ्रमणश्रान्ताः कर्मक्लान्ताः कर्तव्ये भ्रान्ता मललुलिता भावशून्याः श्रमक्लमापनोदनाय सरितः श्लक्ष्णशीतशिलासूपविशन्तो युवानः, यान् वीक्ष्य मानसं खिद्यति । देव ! बृहच्छोको लोकः ।"

"नियतिः केन नियन्तुं शक्यते देवि ! कर्मणां विधिविपाको हीदृशः । बलवान् विधिरयं स्वेच्छयाऽऽचूलमूलश्रीकांस्तुच्छयन् भग्नखर्परान् प्रपूरयन्, विदुषो विडम्बयन्, समुद्रान् विरिञ्चन्, उन्नयन् पातयन् आकुलयन् सुखयन् क्रीडति, नात्र कश्चन परिवर्त्तने प्रभुः । धावनेन चेद्भाग्योदयस्तदाश्वः श्वा वा सर्वाधिकमुदियात् । परं किं कियच्चाचक्ष्महे साम्प्रतिकजीवजगतः । नैतादृशेषु विषयेषु तवोचितो विचारः । अस्तु, अपि स्वास्थ्यमनुभवति भवती व्यपगता चोदरवेदना ?"

"आम्, आर्यपुत्र ! सम्यक् स्वास्थ्यमनुभवामि ।"

"कस्ते विचारो नवेन्दुना सम्बन्धाय ?"

"मन्ये बाल्ये शयनासनाहारविहारान् क्रीडाकौतुकं बन्धुत्वव्यवस्थया भाविविधानञ्च भवान् व्यधित, तदा कल्पनैव नासीद् यत् सोऽकल्प्यमहत्त्वं राज्यं समधिगमिष्यति । किन्तु सम्प्रति समधिगतमातुलराज्यस्य तस्य यौवनोद्गमलसदभिनवप्रभं नवं वयः, प्रचुरबलेन

यशसा सहैवासादिता न्यक्कृतामरश्रीः श्रीः, जनसङ्कुलं कुलम्, अवरुद्धपरपदक्रमो विक्रमः, अपुण्यजनदुर्लभा लब्धख्याते राज्ञः पुत्री पत्नी, प्रचुरवसुर्वसुन्धरा, लोकोत्तरचमत्कृतिर्मतिः, जितपुण्डरीकाखर्वगर्वं जगद्धितानीभवद्भव्यं यशः—इति महामहिमा महाकर्मा नवेन्दुवर्मा स्वभावपरवशो वृत्तमिदमुपहासास्पदं विमृशेच्चेत्...?"

"अये! बालविहसितवत् सरलः, शुकविभणितवत् सरसः कान्ताकटाक्ष इव मनोहरो हास्याभिमुखो गर्वबर्वरेणादूषितः शैशवत एवाभिनवविलासोक्तिचमत्कृतः श्रीमतः स्वभावः।"

"श्रीमते यथा रोचते तद्विधेयम्। धात्रीनिर्विशेषाणां गृहविहारिणीनां रमणीना-मत्र कः परामर्शः। सन्ततिसंस्काराणां प्रायशः पितैव प्रभुः।"

"अस्तु, प्रसवानन्तरं वयमुज्जयिनीं यास्यामः। यत्र भगवत्या हरसिद्धया अर्चना भविष्यति जातस्य चौलसंस्कारश्च।"

"देव! केयमुज्जयिनी? अपि देवो गतवाँस्तत्र?"

"उज्जयिनी मालवदेशस्य राजधानी। रम्योऽसौ प्रदेशः स्वास्थ्यप्रदश्च। भवती तत्र प्रचुरं मनोविनोदं सुदृढञ्च स्वास्थ्यमधिगमिष्यतीति मामकीनो विश्वासः। के नाम न परि-चिन्वन्ति तमःस्पृशो जगद्वलयमपजिहीर्षोर्भगवतो महाकालस्याधिवासभूमिम्, संस्तुति-ख्यातमाहात्म्याया भगवत्या हरसिद्धया विहारवाटिकाम्, धाराधरेशपरमप्रेमपूजितपादपद्मस्य भामिनीभर्त्सनाभस्मितमौर्ख्यस्य विश्वविख्यातवैदुष्यस्य कविप्रवरकालिदासस्याराध्यायाः कालिकायाः क्रीडास्थलीम्, विश्वविश्रुतविद्यावैभवां धन्यनामधेयामुज्जयिनीम्। के चाप-रिचिता आदित्याङ्कस्य दीनदुःखदहनपटोः संवत्सरप्रवर्त्तयितुर्वीरविक्रमस्य प्रातराख्येयेन नाम्ना। प्रजाहितव्रतिनं यं प्रातः स्मरन्तो धन्यास्तपस्विनः। यस्मिँश्च राजराजे महीं शासति निरागसामविदग्धमुग्धानां शिशूनां वक्षो रक्षःसमैः राजपुरुषैः परुषं परशुभिर्न भिद्यते स्म, स्पष्टं प्रवदतां वक्त्रं वेत्रैर्न भज्यते स्म। सत्यस्य धर्मनीतेश्च हिंसा नासीत्। कुलाङ्गनानां शीलं राजपथेऽधिकारमदैर्न धिक्क्रियते स्म। कारागाराणि जनसेवकानां कुलेन नाकुलान्यासन्। मद्यैः प्रमदाभिश्च न्याया न विक्रीयन्ते स्म। प्रतिदिनं बुभुक्षा-राक्षसीभक्षितानां परःसहस्राणां यूनां शिशूनाञ्च शवैर्गङ्गास्रोतसि सेतुर्न निर्मीयते स्म।

मुष्टिमात्रमंकुष्ठाय क्षुद्व्याकुलेन कुलीनेन भ्रात्रा निरस्तनिश्शेषदोषा तरुणी भगिनी व्यभिचारिषु न विक्रीयते स्म। बुभुक्षया रुदतां शिशूनां करुणक्रन्दनेन मातृणां वक्षः शिशुभिः सममेव न विदीर्यते स्म। योजनदीर्घेषु राजमार्गेषु क्षुधाशोषितानां शवानां गगनचुम्बिनः कङ्कालकूटा नेक्ष्यन्ते स्म। अधिकारगर्वितानां यानानि क्षुत्पीडिताँश्चित्कुर्वतो वक्तु गन्तुञ्चासमर्थान् मुखेषु तृणमाधाय सङ्केतैरेव प्राणभिक्षां भिक्षमाणान् म्रियमाणान् सम्मर्द्य तेषामस्थिकङ्कालं सञ्चूर्ण्य शिष्टान् द्वित्रान् शोणितपृषताँश्च पथि प्रसार्य शुष्कान्त्राणि श्वभ्यो विकीर्य पवित्रभारतरक्तेनानिच्छन्तीमपि भगवतीं मेदिनीं मेदस्विनीं विधाय च न भ्रमन्ति स्म। देशभक्तानां गलपाशप्रोषितपतयो युवतयो निरवलम्बा नासन्। येन च विश्वजिता राजघेन सनाथासीत् सरस्वती मही भारतं वर्षञ्च ………।"

"आर्यपुत्र! विरम्यताम्, नाहमधिकं श्रोतुं समर्था। वैदेशिकशासने परतन्त्राः पक्षिणोऽपि दुःखिताः, का कथा ज्ञानविज्ञानसम्पन्नानां मानवानाम्।"

"अहमप्येकदा परममित्रेण नवेन्दुना सार्द्धं तत्र समग्रामैतिहासिकसामग्रीमद्राक्षम्। सोऽयमेव नवेन्दुर्यस्य धर्मपत्नी ऐषमो भाद्रे शुक्लदशम्यां पुत्ररत्नं प्रासूत।"

एकस्मिन् मृदुलतूले तरलमञ्चे सितोपबर्हं पृष्ठेन स्पृशन्ती गर्भभरसालसाऽल्पालङ्करणा सुन्दरी, जितचामीकरोत्पलसौन्दर्येण केशपाशकारागतेन चन्द्रेणेव मुखेन स्मितामृतैः प्रसादयन्ती प्रासादम्, ग्रीवया परिभवन्ती लावण्यरत्नाकरोद्भूतकम्बुम्, अनङ्गाभरणकाश्मीरतिलका निवातनिर्व्याधिनीलनीरजनिर्विशेषनेत्रा स्मिते किञ्चिदुद्गताभ्यां कपोलाभ्यां निर्वासितकाश्मीरसेवा, भ्रकुटिधनुःकोटिसमुत्सारितसाम्या, हारगुलिकावदातदन्तपङ्क्त्याऽजातधवलिम्ना सौन्दर्यसमुद्रजेनेव विद्रुमाधरेण, धिक्कृताङ्घ्रिपापत्यमानालक्तकरञ्जितचरणा, स्वर्णसूत्रस्यूतपुष्पलतास्तबकपरीतां रक्तां शाटीं दधाना सुषमेव उन्मुक्तप्राचीरं प्रासादाट्टं प्रकाशयन्ती स्थितास्ति विश्ववधूमूर्धन्या कापि धन्या।

पुरश्च वेत्रासन्दीमासीनश्चन्दनगौरः पुण्डरीकनयनः सुन्दरवर्त्तुलवदनो विस्तृतभालो वाससा भास्वद्विग्रहः सविग्रह इव वीररसो गौरववर्षिणा गौरशोभिना कृष्णश्मश्रुणा, हस्तिहस्तपातसहेन विपुलोन्नतेनोरसा परिघदीर्घाभ्यां मांसलाभ्यां भुजाभ्याञ्च विज्ञपितबलवद्विग्रहो

विमलपुरसृष्टिपरमेष्ठो रामपालः पूगैलालवङ्गकेशरमृगमदपरिमलं नागवल्लीदलं दलयन् तर्पयँश्च प्रासादमध्यं सुगन्धपटलै राज्ञ्या गर्भभरक्लेशमपनयते वार्तानन्देन।

* * *

पौषो मासः। शैत्यजडितवपुर्वराकाणामलक्ष्यविपक्षः पक्षोऽयं शुक्लः। तिथिश्च तृतीया। सर्वतः शीतस्य साम्राज्यम्। प्राणिनो जडेन जलेन साकं पाषाणीभूताः। शीतभयाद्विभावसुरपि सङ्कोचितज्वालमाल आत्मीयाङ्गानीवाङ्गाराणि भस्मचयनीशारेण सद्य एवाच्छादयति। पवमानोऽपि सत्वरसत्वरं व्रजन् विदूरगिरिगुहासु विरिरंसुरिव "माऽस्मान् सततप्रणयिनो विहाय प्रव्राजीः" इति सकोलाहलं व्याजिहीर्षु शकुनिकुलं भर्त्सयन्निव निवारयन्निव लोलल्लताग्रैर्वाति। शीतभयभीता विद्रुता दिशोऽपि दूरीभूताः। आकाशमपि शीतशितशरीरमिव शून्यतां बिभर्त्ति। किमपि कर्म कर्त्तुं नोत्सहते मानसम्। ईषदपि प्रावरणपृथग्भूतमङ्गं विनश्यदिव प्रतिभाति।

अथ लोकघटीप्रतिनिधौ चलच्चञ्चौ चञ्चलचूडे ताम्रचूडे तारमधुरं शब्दायमाने सरोजिनीशरीरसंहरणस्फुटागसि हेमन्ते तरङ्गहस्तैर्व्यञ्जितक्रोध इव प्रतीयमाने पद्माकरे साधनासमये हेमन्तेन भक्षितपत्रपुष्पफलेष्विव काण्डशेषेषु पयःपृक्तप्रकम्पनप्रेरितेषु परस्परं शाखासङ्घर्षणेन खटखटशब्दैर्दन्तानिव घट्टयत्सु वृक्षेषूपविष्टास्तपश्चरन्तो योगिन ईश्वर-साक्षात्कारमिव दिनेश्वरसाक्षात्कारं प्रतीक्षन्ते पक्षिणः।

गोजाविकं म्लानम्, चुल्लीगुहाभस्मचयसुप्तः श्वा ताडितोऽपि नोज्झति। वराकाः स्वाङ्गानि स्वस्मिन्निह्नोतुमिच्छन्तः कच्छपवत् सङ्कुचन्ति। अथ कमलक्रोडकारोन्मुक्तैः सुमनःसौरभभ्रान्तैर्भृङ्गैर्गीयमानगुणो मृणालिनीविलासोल्लासवाही विरहविधुर-कोकवधूबन्धुरबन्धुर्दिङ्मण्डलीमणिमुकुटमण्डनहीर उत्फुल्लपद्मिनीप्रतिबिम्बेनेव लोहितो हितः शीतार्त्तानां निर्धूमो मारवशमीकाष्ठाङ्गार इवाग्नितप्ताभिरायसीभिः कशाभिरिवारुणाभिः सत्वरमित्वरीभिर्मरीचिभिर्विदीर्णदिग्ध्वान्तौघः, उदयधराधरमूर्धमणिरनभि-नन्दनाकाङ्क्षः फलानपेक्षः सेवाव्रती शीतक्लेशितो भीतश्चिरं सुप्त इतीवायामिनीम्, शीतार्त्तां विपन्नपतिकां पतिव्रतां सुब्बसुब्बायमानामश्रुभिरिव तुहिनकणैः क्लिन्नां भ्रातृजायामिव हैमनीं यामिनीं नियम्य विश्वं प्रेरयितुं प्राविशत्सेवाङ्गनम्। सूर्यस्य रम्या किरणावली प्रसृता, सुखावहेन सौरातपेन स्नाता श्यामा सर्वंसहाऽऽप्रकाशिता च, परं

शीतस्य स्वकीयेऽस्मिन् समये गगनाटवीपञ्चाननेन न किमपि कर्त्तुं शेके। दिनमशेषं शीतेन परिकृत्यमानशरीरं सत्वरमेवान्तमाप। सलज्जो दिनपतिरप्यस्तगिरिगुहां विविक्षुरम्बरतलादवालम्बत।

विमलपुरराजभवनेऽद्यानन्दलहरी प्रसृता। व्यग्रः पुरन्ध्रीवर्गः सत्वरसत्वरं व्रजन् कार्यस्य महत्त्वं ज्ञापयति। राजचिकित्सालयस्य विदुषी वैद्या परिचारिकां बोधयति। विमलस्तूलराशिरस्त्रशस्त्रयन्त्राणि च पूयन्ते। उष्णायतेऽन्तर्हसन्तीभिर्भवनम्। गीतं गायन्तीभिर्गायिकाभिर्वेदवादिभिर्विप्रैश्च भूपतिभवनं भूष्यते। राजा रामपाल उत्क उपविशन् प्रतिक्षणं भित्तिघटीं मणिबन्धघटीञ्च पश्यंस्तयोः समयसाम्यं वीक्ष्यापि मन्दगतित्वं मुहुर्मुहुराशङ्कते। अन्तःपुरादागच्छन्त्या दास्या मुखात् किमपि शुश्रूषुः समुत्तिष्ठति।

"देव! देवस्य गृहं भगवती स्वयं सनाथयाञ्चकार" आगत्य प्रणम्य कञ्चुकिनोचे।

जन्मत एव सरला मुग्धा कमला कैरपि रुदती न दृष्टा। कदापि विषादलेखया नास्या मुखकमले स्थानमकारि। बालसुलभमनिमिषदर्शनं स्वच्छन्दो हासः स्वाभाविकी प्रतिभा उत्तालामृतमधुरा सुखावहा बालकाकली च सर्वेषां मनांस्याकर्षति स्म। सर्व एव तां स्वाङ्कस्थामचीकमन्त। सत्यपि धात्रीसहस्र महिषी तां स्वयं लालयति स्म। नरपतिस्तामुत्सङ्गे कृत्वा नितरां प्रासीदत्। द्विहायनी कमला भित्तिदर्पणेषु सङ्क्रान्तमूर्त्तिरपरबालालापेच्छया भृशं स्मयमाना तर्जनीसाहाय्येन तां विहायापि च शङ्कितन्यस्तपादं प्रचलन्तीतस्ततः प्रेक्षणेन सममेव पतिता सत्वरमेवोदतिष्ठत्।

* * *

"देव! एषु दिनेषु बहवोऽनुरक्ता भक्ता हरसिद्धिप्रसादायोज्जयिनीं समायाताः। श्रीमतो मित्रं राजनगरब्रह्माण्डब्रह्मापि।"

"अपि सत्यम्, मम मित्रं नवेन्दुः? मामकीनं सन्देशमादाय सपदि गच्छ।"

"यथाज्ञाप्यते देवेन।"

* * *

"एह्येहि, अनुकम्पय, भूतोऽस्मि भूतानां मानभाजनम्, यस्यावासं भवादृशाश्चरणरेणुभिः पावयन्ति, कच्चित् पूजिता देवी?" पितुस्तर्जनीं गृहीत्वा शनैःशनैश्चलन्तीं सुवर्णवर्णां बालिकां प्रेम्णोत्सङ्गं नयता नवेन्दुनोचे।

"सर्वं कुशलम्। कथं न स्यात् कुशलं यस्य भवादृशाः पवित्रकीर्त्तयो राजर्षयो नाम्नैवामङ्गलघ्ना मङ्गलं कामयन्ते। प्रातरेव पूजिता प्रसादसुमुखी परमेश्वरी कालिका देवदेवो महाकालश्च। श्वः प्रातरेव गन्तव्यमिति देवदर्शनसुखमनुभवितुं प्रेरितोऽस्मि। श्रीमन्तं यतो ज्ञातवानस्मि, तत एव विलम्बमसहमानोऽधीरतामनुभवामि।"

"प्रत्यावर्तितवृत्तं मनः शैशवचरितं पुरोभवदिवानुभावयति रामपाल! नोत्सहते च श्रोतुं प्रयाणवार्तामपि। किन्तु चित्रपटचञ्चला राज्यश्रियः कामिन्य इव नाधिकं कालक्षेपं सोढुं समर्थाः। 'भगवाञ्छिव ईदृक् सुदिनमन्यदाऽप्युपहरताद् यत्रावयोर्मेलनं सम्भवेत्।"

"अहर्निशं प्रेक्षणीयं राज्यम्। स्वभावदुर्जनो जनपदः, दुर्दमनीयदानवनिकर इव लुण्टाकनिकरः, आपद्गता विविधकरैः पीडिताः प्रजाः, सर्वेषामेव समये सम्भालनम्।"

"देव, सज्जमुष्णपेयम्" प्रणम्य न्यवेदि सेवकेन।

"एहि मित्र, तत्रैव वार्तासुखमनुभविष्यावः।"

अथ सूर्यास्तेन विचलिते लोके तमोमग्ने च गगने दिगङ्गनावदनचन्दनबिन्दुरिव मयूखलेखोद्द्योतितस्मररेखः स्मरप्रदीपाङ्कुरः कुमुदमुकुलकुलविकासी यामिनीसौभाग्यसिन्दूरं तमः कवलयन्, दुग्धतरङ्गधौतविश्वः शनकैरुदभूत्साश्चर्यचर्यचन्द्रालोकः। प्रियकरैरुन्मुक्तां तमःकञ्चुकीं सलीलमपहाय प्रतिरोमनिर्यदानन्दाट्टहासा विरहिचरीव निशा प्रियेक्षणहर्षवर्षोद्भूतहासमिषेण जगदखिलं हंसपक्षतिसितीकरिष्यन्ती नयनमानसामन्दानन्ददायिनीं विमलमृणाललावण्यलतिकामणिश्रेणिपयःस्पर्धिनीं दन्तप्रभामिव ज्योत्स्नां सर्वतो दिशं प्रासारयत्। कर्पूरधवलधूलिद्युतिधौतं विश्वं जहास।

रसेन्द्रचिन्तामणिरिव बभौ विभावरी चन्द्रोदयेन। पीयूषवर्षस्य चन्द्रालोक इव जगति प्रासार्षीच्चन्द्रस्यालोकः। ब्रह्मसूत्राणीव बभौ विश्वं भामत्या।

एकस्मिन् वर्तुले स्फटिकोत्तरे काष्ठपीठे केशरमृगमदगन्धिन्युष्णे पयसि जिह्वां च्योतयति यथेच्छं गृहीत्वाऽभ्यवहरत्सु, इतश्च क्रीडतोर्नवपरिचययोश्चन्द्रकमलयोरवदद्रामपालमन्त्री—

"देवौ! शैशवत एव प्रगाढप्रेमाणौ समानस्वभावभावायुषौ च युवाम्। मामकीना जरठमतिर्मनुते यत् प्रेमायं वां सन्तत्योरप्यक्षुण्णः स्यात्तदाऽपरिमेयया मुदा प्रपूरितानि स्युः सर्वेषां मानसानि। सुस्थिरश्च स्याद् भवतोः सम्मेलः।"

नवेन्दुः—क आशयः श्रीमतः ?

मतिवरः—(क्रीडानिरतौ बालौ निर्दिशन्) देवौ, युगलमेतदाजीवनमविच्युत-योगं भवेत् ।

नवेन्दुः—यद्यपि चन्द्रः शिशुः, भाद्रशुक्लदशम्यामेवायं पञ्चमे वर्षे पदञ्चकार। परन्तु मम मित्रं सम्बन्धिनं विधाय प्रसीदामितमाम्। राघव, आनयास्मिन्नपूर्वे हर्षावसरे उभौ स्वाङ्क उपवेश्य पयः पाययामि ।

* * *

गच्छन्नस्थिरः कालः । नवसंसारस्य नवश्चित्रपटश्चक्षुषोरग्रचत्वरे प्रसृतः । प्राकृतिकं दृश्यं परिवर्त्तितम्। नवा रीतयस्तरङ्गिताः । इतो रामपालनेत्रशीतांशुश्चिराभिलषितः सुतोऽपि प्रसूतः । पुनरेकदोपहारलहरी समैधिष्ट । पुनः शतघ्न्यश्श्यामलयामासुराकाशम् । पुनर्वारभामिन्यो मुखरयामासुर्वलयनूपुरझङ्कृतैः सभाजिरम् । नगरकल्पना पुनरमर-पुरमत्यशेत । पुनर्वाद्यध्वनिर्विश्वमबधिरयत् । पुनर्मोदका मित्राण्यमोदयन् । परन्तु हन्त ! कस्यैकान्ततः सुखं सन्निहितम् ! प्रजाप्रवर्त्तकः प्रजापतिरपि प्रलयं प्राप्नोति । जगच्छङ्करः शङ्करोऽप्यनन्तशय्यायां शेते । संसारकालः कालोऽपि काल्यते । भूविभासको भास्वानप्यस्तमेति, पीपूषरश्मिरपि च पीड्यते । अत्राप्येतदेवाभूत् । प्रसवपीडापीडिता मक्कलशल्यकीलिता क्षणं राजभवनं स्वदश्रुं राजानञ्चानिमिषनयना क्षणं हास्यसुधां विकिरन्तीं कमलाम्, क्षणं नवजातं शिशुं पश्यन्ती बाष्पावरुद्धकण्ठा मूकं सन्दिशन्ती क्षणभङ्गुरमदश्शरीरं विहाय परलोकमालोकयाञ्चकार कमलामाता । क्रीडास्थली विनोदवाटिका शून्यतां बभ्रे । शृङ्गारस्थानं करुणया जगृहे ।

हन्त ! कुटिलः कालकेलिः । विलक्षणस्तस्य जवनिकापातः । अतर्कितस्तस्य पादप्रहारः ।

* * *

प्रफुल्लानां मल्लिकाशेफालिकायूथिकामाधवीमालतीचम्पकादीनां सुमनसश्चेतो हरता परिमलेन नन्दनं निन्दन्ति । मसृणधवलपाषाणालवालेषु कदम्बकदम्बं निम्बनिकरो रसालविसरो बिल्वव्यूहो भ्राजते । वीथीनां मध्येऽष्टदलकुण्डिकासु निर्झरपुत्तलिका जलकणान् वर्षन्त्यः प्रावृषमनुकुर्वन्ति । कोणेषु हरितपत्रपादपा अनल्पशिल्पकर्त्तिताः

शङ्खाकृतयो रामणीयकमहोदधेरारामस्य हरिताः कम्बव इव भ्राजन्ते। सान्द्रा नवच्छदन-पुष्पाः प्रतानिन्यः प्रचण्डांशोस्तापं प्रावृषः प्रतापञ्च धर्षयन्ति। क्वचनाक्रान्तकुण्डिका क्रौञ्चाः क्रेङ्कारं कुर्वन्ति, क्वचन च केकिन उत्पन्नोत्पातरेकां केकाम्। क्वचन शुकसङ्गीतम्, क्वचन कोकिलकाकली, क्वचन सारसरसितम्, क्वचन हंसविहरितम्, क्वचन तरलतार-काणामेणकानां वल्गितम्, क्वचन पुष्पवल्लीसमाच्छन्नपादपनिलयेषु पारावतगुङ्कारः, क्वचन गुञ्जन्मधुलुब्धमुदितमधुकरनिकरझङ्कारः, क्वचन खेलच्चटकचुङ्कारः। चन्द्रिकाचयेनेव पूर्णा जलजातजलजव्रजा विमलतला नात्यगाधजला सुदीर्घा दीर्घिका पवनप्रेरिततरङ्गैः पार्श्वपादपपूरं हरितयन्त्याकर्षयति मनांसि। निशासु तारागणप्रतिमूर्त्या जनितरत्नाकर-भ्रान्ति यस्या नीरं कामिनीशिरःपरिमलपरिमलितं सौरभसौन्दर्यसरःसार इव पूतपारद इव रजतद्रव इव प्रतीयते। नागवल्लीदलधनुराकारासु वेदिकासु पुष्पधनैश्शाखिभिः काव्यभुवीव शोभमानायामुपवनभुवि क्रमानुसारिक्षिप्तविटपन्यासैर्विलसति क्रीडापुष्पपर्वतः, पादकन्दुकपाणिकन्दुकक्रीडनाय रम्यदूर्वः प्रदेशश्च।

फलास्वादलोलुपा विदेशीया अपि कलविहारिणः पक्षपुटपूतपादपप्रान्ताः पक्षिणो यत्र प्रचुरं प्रेक्ष्यन्ते, हारिणो हरिणाः, विविधदेशासादिता बिलेशयाः, कौशलेन सम्पादितानि चित्राणि च। मध्ये च नवनीतमसृणधवलशिलं गवाक्षाक्षैर्जगति स्वसमत्वमिव समीक्ष-माणं राजोचितसम्भारसम्भृतं विशालं बहुशालं हर्म्यम्, यत्र धवलोन्नतपाषाणस्तम्भेषूत्कीर्णा वल्लर्य्यः शिल्पिनो निष्णाततां निश्चाययन्ति। कौशेयनीलास्तरणास्तृतमिव यन्त्रकर्त्तन-समानदूर्वं सखीजनैः प्रणयप्रक्षिप्तशुभ्रकुसुमं तारकितं वियदिव क्षेत्रम्।

समस्तशास्त्रकलाकुशलया गानविद्यावित्तया साहित्यार्थशास्त्रनिष्णातया चाध्यापिकया शिक्ष्यमाणा धनुषा भुशुण्डिकया लक्ष्यवेधने, करवालफलकमर्यादासु, जलतरणगजाश्वोष्ट्र-धावने मरुत्तरवायुयानादिपरिचालने कुशला कमलाऽत्रैव निवसति। सिद्धसौदामिनीव कस्तूरिकाकुङ्कुमाञ्चितरत्नोद्भास्वरललाटा कदाचन कनकवल्लकीमादाय धरामुपगम्य कृतौष्ठवसतिमिवोषसमधरोष्ठेन प्रत्याययन्ती सुधोर्मिनिर्यासमधुरमुत्तुङ्गसौधोत्सङ्गसङ्गि सङ्गीतं प्रासारयदानन्दजलदा आच्छादयन्ति स्म सुधासमीरणैस्तृप्तास्तरवोऽपि व्यष्टभन्।

वरारोहाया नितान्तं नवीनं वयः, विघनेन्दुसमद्युति मुखे यौवनाभा, सुषमाशाली कपोलोऽपूर्वामिव प्रकटयति लोचनलोभनीयां छटाम्, तिरस्कृतविकसितोत्पलविलासे विकास-

माने चक्षुषी अचाक्षुषं हृदयवेद्यमानन्दं प्रति सस्पृहे, कुचावपि कस्यापि सुकृतिनः समालिलिङ्गिषयेव प्रत्यहमेधमानमहोत्साहौ, वलीभासि मध्यं कस्यापि सुभगस्य सोपानं बुभूषदिव, काव्यकलाकलापालापज्ञातरतिसर्वस्वं, निरन्तरगाननिरतं मनोऽपि कस्यापि मनस आधारोबुभूषदिव भुजलते कस्यापि गलपादपस्याश्लेषकामे इव चपले, तथापि नाधुना मारप्रवृत्तिरज्ञातप्रणयतत्त्वाया एतस्याः। सात्विकीमेवावस्थां भजते यतः सा।

* * *

अथ प्रौढमनोरमेव कुचमर्द्दनेन संकुचितशरीराऽभवद् यामिनी। विप्राश्च शब्दरत्नैर्भैरवीत्वं जहु र्विभावर्याः। भ्रमणवीक्षिताश्चर्यचर्चामिव कलरवं कुर्वति पक्षि-समूहे दिनेशागमनतः प्रागेव, अन्धकारसङ्क्रमजिहीर्षति शोणितकिरणेऽरुणे, उत्थानवेळामिव विज्ञपयति धाराप्रवाहमासाद्येव शीतशीते प्रावरणपरिपूत इव विमल-विमले, कुसुमामोदमादायेव धीरे सरति समीरे, उन्मुखसुरकामिनीचूडामणिप्रभापरि-भूतेष्विवलीयमानेषु नक्षत्रेषु, नास्मानन्धकारेण सहैव संहरेत्सूर्य इति भयेनेव कमलकीर्तिमुखरमुखेषु भ्रमरेषूत्थितोऽभिषेकोत्सवसूचकस्तुमुलस्तूर्यतोभनादः।

अवकरनिकरविशोधनपरिपूतं, परिमलपाथःपरिषिक्तं सुरभिसुगृहीतमानसैरनलसै-र्यद्वरङ्क्तिकैर्भ्रमरैः कृतभ्रमणं संसरणं स्थिरयति पश्यताञ्चेतः। सुधासारसंलिप्तभित्तीनि पताकापवनपूयमानप्रान्तानि भ्राजन्ते निशान्तानि।

राजनगरमद्यवस्तुतो राजनगरम्। कुमारश्चन्द्रोऽद्य युवराजपदेऽभिषेक्ष्यते। यस्या-वदातगुणगणान् लोकप्रियताञ्च गायन्त्यो मङ्गलं कामयन्ते कामिन्यः, वरवीर्य-कार्याणि विवर्णयन्तो वरान् ब्रुवन्ति विप्रवरेण्याः।

राजभवनञ्चाद्य महेन्द्रभवनमपि परिभावयति। सम्मुखे चास्य द्वात्रिंशत्स्तम्भेषु विविधरागपटशकलरचितं वितानञ्च मुहुर्मुहुरुत्कयतिनेत्रम्। अभिवितानं दोदुल्यमाना मालाः सुषमावती प्रतानिनी च सौरं तापं तर्जयन्तीवास्ते। परितोराजभवनञ्च शस्त्रपञ्चकाञ्चितशरीरा बलिनः समर्थ्यादंस्थिताः।

वितानस्यमध्यचत्वरे रत्नजटितस्वर्णस्तम्भचतुष्टयविभासि, स्वर्णसूत्रस्यूतशिल्पिनैपुण्यं वितानं, महार्हछत्रपरिष्कृतरक्तकौशेयतूलिकातुलं, गजदन्तचतुश्चरणं हरणमापदां, पदं राज्यलक्ष्म्या, राजते राजसिंहासनम्।

२

सिंहासनस्यैकतः चित्रितशकुनिकुलेषु और्णाास्तरणेषु, परिमलतैलानुसारि चञ्चरीकचर्चितानां, मौलिमुकुटैश्चक्षूंषि चकितयतां गुणगणाधिगतगौरवाणां राजकुमाराणामेकतश्चोष्णीषालङ्कृतशिरसां शोभन्ते सितवाससां देशरत्नानामासन्द्यः।

अद्यकुमारश्चन्द्रो युवराजपदेऽभिषेक्ष्यते, चिरंजीवतात् प्रजाप्रणयी युवराजश्चन्द्र इत्येव श्रूयते सर्वतश्चर्चा। द्वारमुभयतो मध्यमुक्तमार्गा सशस्त्रसैनिकपंक्तिर्विदूरपर्यन्तं समयार्दं स्थितास्ते।

भास्वता राजतेनानावृतेन मरुत्तरेण प्रणतप्रणामाञ्जलीन् प्रतिगृह्णन् मन्त्रिणा चन्द्रेण च युक्तः सभाभवनं प्रविश्य गृहीतसैनिकप्रणामोऽलञ्चकार सिंहासनं नवेन्दुपालवर्मा।

स च विष्वक्सेनश्चक्रपाणि र्विहितसत्याग्रहो माधवंजगद्धवो विहसन्, शङ्कर इव विभूतिव्याप्तवपुः, वामन इव कृतबलिग्रहणः, हिरण्याक्ष इव धृतवसुन्धरो, णेरणाविति सूत्रमिव जातार्थगुप्तिः, व्याप्तिलक्षणमिव प्रभूतनिवेशभासमानः, खण्डनखण्डखाद्यमिव खण्डितानेकशासनः, शब्देन्दुशेखर इव सिद्धान्तव्याख्याता, रत्नमकुटालंकृतः, अवलम्बितश्वेतमुक्तेन, हाटकतन्तुस्यूतस्तबकेन कौशेयाप्रपदीनेनाच्छन्नतनुः, गजदन्तमुष्टिना हेमकोशेन कौक्षेयकेण विलसितमध्यो गम्भीराकृतिः कृती रराज राजनगरभूमिभामिनीभ्रूभङ्गभागी नवेन्दुपालः।

वामतश्च[1] प्रभवः प्रकृष्टगुणानां पराभवभवनं पापानां, अपस्पृष्टो दुष्टैः, सञ्जुष्टः शिष्टैरनुकर्त्ता पूर्वजान्, अवधिर्विद्याम्भोधेः, निस्सारको लोकदुराचाराणां, निरवधिनिष्णातो निस्त्रिंशे, दुःसह्यतेजास्तेजस्विनां, दुरधिगमगाम्भीर्यो, विलीयमान इव लोकहृदये, आधारो वीररसस्य, निकायो निश्शेषनयस्य, अधिप आपद्गतानां, अपिधानं वाचालानां, अतिमुक्तकोशः कलावतां, सुहृत्प्राणिमात्रस्य, उत्थानं मनस्विनां, अभिभावको जगतः, प्रतिष्ठितप्रज्ञः, परिभूतभूरिवैरी, हासप्रियः प्रियः प्रजानां, सुद्ध्युपास्यो मध्वरिरिव धात्रंशोऽलाकृतिः, षडानन इव वाग्मी मूकीकृतवचस्विसमाजः, सुन्दरमधुरः स्निग्धचूर्णकुन्तलोगौरः, कपर्दिनं संसारसर्वस्वः, पिनाकिनं सर्वास्त्रनिपुणः, विरूपाक्षं पुण्डरीकाक्षः, कामदं कामदो, विहसन्निव गिरीशं सर्वेशोऽनुकुर्वन्निव चतुराननश्चतुराननं, कमलासनः कमलासनं, प्रजापतिः प्रजापतिं, समाक्षिपन्निव देवकीनन्दनं जगदानन्दनः, पादसंवाहनलग्नश्रियं

१ क्रमशः सर्व उपसर्गाः।

सर्वाङ्गलग्नश्रीः, हीरकखचितेन स्वर्णत्सरुणा हेमकोशेन चन्द्रहासेन पूज्यमानवामपार्श्वो, जातरूपतन्तुरचितमहार्हमहोष्णीषः, पटवासवासितवासोबद्धविग्रहो, हिमशुभ्रधौतवसनः स्मितेषन्निःसृतदशन, आरक्तदशनवसनः, करवालकेलिचकितीकृतवीरवरो राजकुमारः स्वर्णासन्यां समलभत स्थानं धन्यजननीकश्चन्द्रः ।

यश्च रसगुणबलिजारितपारदसेवनक्षीणक्षयः साक्षाच्चन्द्र इवालक्षि ।

किमितोऽप्यधिकं रम्यं मारवपुरयमेवस्मर इतिविचार्य कृष्णीकृतमिवकचकलापं भ्रमरैः, सुगन्धितमिववपुर्वसन्तेन सुकुमारीकृतमिव सुमनोभिः प्रकटितमित्रत्वधर्मैं मिलितमिव मारमित्रैः ।

दक्षिणतश्च काशनीकाशकेशाक्षिपक्ष्मा, अन्वीक्षित आन्वीक्षिक्यां, अद्वितीयस्त्रय्यां, शौण्डोदण्डनीतौ, वित्तोवार्त्तासु, विपश्चितामपश्चिमः, विहसन्निव एकाक्षं कमनीयाक्षः, रेजे रजतमय्यां शुभासन्यां मन्त्रिवरोऽशेषविद्याधरोविद्याधरः ।

अथ सज्जायो समज्यायां समेतेषु माननीयेषु नागरिकेषु, लोकप्रियेषु लोकहित-व्रतिषु, यथास्थानं स्थितेषु च, प्रयत्नसिद्धधूपधूपितायाञ्च संसद्भूमौ सकलं माण्डलिक-मण्डलमभ्युत्थाय क्रमशो दौवारिकदत्तपरिचयः प्रणनाम ।

अथ स्मयमानोनरपतिः पीयूषपरीतयेव मधुरया, अगाधहृदयान्तर्वसत्येव गभीरया वाचा वक्तुमारभत ।

श्रद्धेया महर्षयः, प्रियाः प्रजाश्च,

महामहिम्नो विश्वशासितुः परमानुकम्पया राज्यङ्कुर्वतो मे चत्वारिंशद् वर्षाणि व्यतीतानि । यत्प्रभृत्यहं प्राप्तयौवनोऽस्मि प्रजानां सर्वविधानि कष्टान्यपनेतुं तत्परोऽस्मि । दुष्कालमहामार्यादिसङ्कटकटकविनाशकं जगदनुग्राहकं परमेशानं प्रति सर्वदैवानतोऽस्मि प्रत्यहं प्रार्थयमानो भवतां योगक्षेमाय ।

मयि राज्ये च या प्रगाढा भक्तिर्यश्चत्यागो यच्चातुलं प्रेम भवद्भिः प्रदर्शितं तेन समेषां राज्ञां हृदि अतुलो हर्षवर्षः सम्भवति । यश्च बहोः कालात् राज-प्रजयोः प्रचलित आसीत् पितृपुत्रवत्सम्बन्धः, गर्वोन्नतशिरा अहमद्यापि वक्तुं शक्नोमि यत्सोऽद्याप्यावयो र्मानससरोजे राजते समानं सुदृढमूलः सम्बन्धः ।

भवतां सुखे दुःख च सदैव सहचरीभवन्नासम् । यदा यदा भगवदनुकम्पया

ममानन्दावसराः प्राप्ता दुःखावसराश्च यश्च जगतः स्वाभाविकोधर्म स्तर्हि भवद्भिरपि मे साहाय्यं कृतमास्ते।

भगवतेऽनन्तकोटिब्रह्माण्डस्वामिने प्रणामोपायनमुपहरामि येन राज्यनिरीक्षणक्षमा, सदसद्विवेकधनाचेतना धराधुराधरणसहं वपुरपूर्वापूर्वकार्यचिकीर्षाप्रवण उत्साहो जगदवलोकयितुं सत् स्वास्थ्यञ्च मे प्रदत्तम्।

सकलस्य राज्यस्य सेवायै सर्वविधनवीनसाधनसम्पन्ना जलस्थलवायुसेना शत्रुसुखशातनेऽसाम्यमासादयति।

अहं सर्वदैव प्रजाधिकारसुरक्षायै तासामावश्यकतापूर्त्यैचोद्युञ्जानोऽस्मि। राज्यस्य विधिसभासदस्या जनतया निर्वाचिता राज्यसञ्चलनोचितं राष्ट्रोन्नतिकरञ्च विधिंविधाय विश्वानुकरणीयां व्यवस्थां व्यवस्थापयन्ति। प्रतिग्रामं ग्रामीणैर्ग्रथिता ग्रामण्य एव पारस्परिकं विवादाभियोगं शमयन्तो वैषम्येर्ष्यां भस्मयन्तो ग्रामोन्नतिं कुर्वन्ति।

लघुष्वपि ग्रामेष्वेका स्वल्पीयसी रम्या पाठशाला, आरोग्यशाला, व्याख्यानैः प्रौढशिक्षणशाला, पत्रालयो, वाचनालयः, स्वयंसेवकक्रीडास्थलं, वाटिका, स्वयं ग्रामीणै श्चातुर्येण रचिता राजमार्गाः, कुल्याः, प्रभूतधान्यानि क्षेत्राणि, च वीक्ष्य कस्य न मनः परमानन्दस्यावधिं समेति। आभ्यन्तरव्यवस्थायै न राज्ये रक्षकसेवकानामावश्यकता। चौरजारानौचित्याचारचर्चैव न श्रूयते, न कश्चनागृह्यमाणोऽपि वराकः किमपि जिघृक्षति। तस्य हृदि स्वयमुपार्जितवस्तुन एव उपभोगेच्छावर्त्तते। न राष्ट्रेऽघ्युकुट्टिनी न वाराङ्गना, न मद्यालयो, न द्यूतालयः, नधूर्तो, नवञ्चको, नाननुशासनो, न निर्धनो, न कुचेलः।

नास्त्यत्र सन्देहलवोऽपि यद्राज्यमिदं यौष्माकैरास्माकैश्च पूर्वजैर्महता श्रमेणोन्नतेः परां कोटिं नीतम्। अनया पैतृकसम्पत्त्याऽस्माकं सत्यो गर्वः। परन्त्विदमपि न विस्मरणीयं यदेषा स्थितिरस्माभिर्महता श्रमेणानीता। अत्रैव प्रतिशतमेकोनरः शिक्षितो नहि साक्षर आसीत्। अत्रैव शिशूनां मृत्युः प्रतिशतमशीतिरासीत्। दुराचारव्यभिचारव्याधिना नरा ग्रस्ता आसन्। क्षयः सामान्यप्रतिश्याय इव सर्वत्र प्रसृत आसीत्। दुर्भिक्षेण प्रजाः प्रतिवर्षमेकस्थानादपरस्थानं यान्त्य आसन्। सर्वदैव चौरजाराणां भयं सर्वान् बाधते स्म। परन्त्वधुना सर्व एवैते

कथावशेषाः संवृत्ताः। सर्वमेतद् राज्यस्य भवताञ्च श्रमस्य प्रत्यक्षफलम्। भवन्तो राज्यञ्च धन्यवादास्पदम्। परन्त्वधुनास्माकं केवलमिदमेव कृत्यं नास्ति यदिदं वर्त्तमानमेवरूपं बिभृयात्, किन्तु लोकोत्तरसमुन्नतेः शिखरमारुह्य निरातङ्कं सानन्दं निवसन्त्यः प्रजा वास्तविकमानन्दमुपभुञ्जीरन्निति।

सोऽहमधुनावृद्धोभूतः। वार्द्धक्यभावान्नवनवेषु कार्येषु नोत्सहते चेतः। प्रभविष्ण्वपि वपुरवश्यकर्त्तव्येषु शैथिल्यं भजते। न मतिर्मननीयमपि मनुते मतम्। करणजातं कार्यकरणश्रान्तमिव मन्ये। कुमारश्चन्द्रः सुशिक्षितः सुविनीतोयुवा क्षमोऽधुना धुरमिमां वोढुमतो योज्योऽयमस्मिन् कर्मणि—इति विज्ञापयितुमेव भवन्तः सादरमामन्त्रिताः।

पदप्रदानात् पूर्वं कुमारायापि विज्ञाप्यमस्ति—यन्मा नाम राज्यश्रीमदमत्तः प्रजाया योगक्षेमं विस्मार्षीः। महाप्रभावो लक्ष्मीमदो मधुमथनमपिमोहयति। लसन्मणि-हीरकं मुकुटं कण्टकाकीर्णं जानीहि। कौशेयतूलिकं स्वर्णसिंहासनं शिला—शकलाकलितं कलय। छत्रं सशरीरं वितानमिवापदां विद्धि। चामरयुग्मं शोधकं सद्भावानामाकर्षकं कुव्यसनानां मन्यस्व। नहि विलासालसा राजानो राज्यस्य प्राज्यमुपकारं कर्त्तुं क्षमाः। प्रजानां स्वातन्त्र्यजीवनं स्थिरयितुं सदैव सक्षणो भवेः। दण्ड्यदमने सततं करवालकरो भूयाः। विदुषां सत्कृतावण्वप्यालस्यं मा गाः।

प्रियाः प्रजाः!

यया स्वामिभक्त्याभवद्भिर्धारितं पूर्वेषां राज्ञां शासनं, विश्वसिमि साऽस्माकं नवीन-महाराजं प्रति अधिकाधिकं समेधिष्यते। द्विचक्रं रथमिव राज्यमदः समुन्नतेरत्युच्चं शिखरमधिरोहत्वित्यस्तु मे शुभाशीर्वादः।

अथ महाराजसिंहासने सम्पन्ने युवराजसंस्कारे, महाराजेन स्वहस्तेन धृते राजमकुटे, प्रदत्ते स्वकीये कौक्षेयके, विप्रवरेण्येषु सभाभवनं भासयत्सु चामरसणत्कारेणेव नवीने राज्ञि पदमादधानायां राजश्रियि, विजयतां वेदवाणी, विजयतां भारतीया संस्कृतिः, निजयतां राजनगरं, विजयतां चन्द्रो युवराज—इति जानपदोच्चयैर्व्याकुलिते, तोभ-शतध्वानैः कर्त्तिते, तद्धूमैर्जातनीलिमनीवान्तरीक्षे, राजकदत्तोपहारैर्वदूर्यपद्मराग हीरकनीलमणिचन्द्रकान्तादिभीरत्नाकरभुवीव भासमानायां राजभवनभुवि, नव-

युवराजविभाभूषितमुखश्चन्द्रो जनसमूहस्य करतलवादनेन सह समुत्थाय स्मितेन सितयन्नन्तःसभमभाषत :—

पूज्यपादपद्माः महर्षयो, मान्या राजषयः सहयोगिनः सभ्याश्च ।

योऽयं कार्यभारः श्रीमद्भिरस्मत्स्कन्धआरोपितः श्रीमतां सहयोगादक्षमोऽप्यहं समर्थो भविष्यामीत्याशासे । अद्यतनं राजपदं न विलाससूचकं, अपितु प्रधानसेवकतासूचकं प्रधानप्रहरित्वमेव घोषयति । उपहारप्रदानादिना यं सम्मानं श्रीमन्तो मयि प्रदर्शितवन्त स नमम, अपितु राष्ट्रसेवकस्य—राष्ट्रस्य जागरूकप्रहरिणः सम्मानः । नाहमेतस्य सत्यो योग्य उपभोक्ता । अत एतां सामग्रीं बालविकासपरिषद उपहरामि, बाला हि भाविनो भारवाहा राष्ट्रस्य ।

मान्याः,

बहुविद्यतेऽस्माकंकरणीयम् । अद्ययन्त्रयुगे विज्ञानस्य महत्यावश्यकतावर्त्तते । वयमधुनापर्यन्तमत्यन्तावश्यकपदार्थोत्पादनाय संलग्ना आस्म, परमद्य तेन भयेन वयं मुक्ताः स्मः । परन्तु कदापि परेषां दयापात्राणि यथा न भवेमतथाऽस्माभिर्यतितव्यमस्ति । अद्यसायंकालिकसभायामस्मिन् विषये विचारयिष्यामः ।

* * *

"देव व्यत्येति भोजनवेला । आगन्तुका मान्या अतिथयोऽपि श्रीचरणौ प्रतीक्षन्ते । आखेटार्थं गतो युवराजश्चिरयति"—मन्त्रिणोपेत्यावोचि ।

"न जाने कथं विक्लवतां भजते चेतः । किमप्यज्ञातभयमिव भावयति भावना । आखेटार्थं गतश्चन्द्रो नाधुनापि प्रतिनिवर्त्तते । अद्यतनोत्सवं राजभोजञ्च विदन्नपि स कथं चिरयतीति महदुत्कण्ठितं चेतः । अभितोऽशुभच्छायामिवपश्यामि, क्रन्दनमिव चिकीर्षति मामकीनं मनः । न जाने किं भावि ।"

"देव ! सर्वं शर्वः शं विधास्यति, देवस्य वात्सल्यमेव एवं चिन्तयति । (सम्मुखं पश्यन्) 'कथय देवव्रत कथं चिरयति युवराजः ।'

देवव्रतः—(प्रणम्य उच्छ्वसन्) देव, कुमारमित्रेण विश्वशेखरेणाद्य श्रीमत एको विलक्षणप्रेक्षणीयोऽश्व उपहृत आसीत् । कौतुकक्रीतमिव भवति युवकहृदयम् । परिणाममपरिचिन्वती च मतिः, विगतसाध्वसञ्च साहसम् । अपेतसारल्यञ्च तारल्यम् ।

युवराजश्चन्द्रस्तमारुह्यास्माभिः शनैश्शनैरनुगतोऽकस्मादेकस्माद् विटपव्यूहान्निःसरन्तमुग्रदंष्ट्रं पञ्चाननं वीक्ष्य हन्तुमनास्तदनु प्रस्थितः, अस्माभिरप्यश्वपृष्ठलग्नैरनुगतः काननैशान्धकारे पथविच्युतैरवीक्षितश्चक्षुषोरगोचर एव संवृत्तः ।

विद्वद्वरेण्यनवरङ्गतनूजनुर्यः
सालोचनं विपुललालितकाव्यमालः ।
सश्रीनिवास उररीकृतनव्यरोतिः
शं न्यश्वसद्वरसुधीवरणीयमाद्यम ॥

श्रीमन्नवरङ्गरायशास्त्रितनुजनुषा श्रीनिवासशास्त्रिणाकृते

चन्द्रमहीपतौ

प्रथमो निश्वासः

———

द्वितीयो निश्वासः

भिन्ना महागिरिशिलाः करजाग्रजाग्र—
दुद्दामशौर्यनिकरैः करटिभ्रमेण ।
दैवे पराचि करिणामरिणा तथापि
कुत्रापि नापि खलु हा ! पिशितस्य लेशः ।

—पण्डितराज जगन्नाथस्य

उत्कूजन्तु वटे वटे वत बकाः काकाः वराका अपि
क्राङ्कुर्वन्तु सदा निनादपटवस्ते पिप्पले पिप्पले
सोऽन्यः कोऽपि रसालपल्लवलवग्रासोल्लसत्पाटव—
क्रीडत्कोकिलकण्ठकूजनकलालीलाविलासक्रमः ।

सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

अथ जातोदये पीयूषमरीचिमालिनि सकलशस्यपितृके जैवातृके, स्वर्णाद्रिगुहास्वामलकीयं रसायनमास्वाद्येव सत्वरसत्वरमम्बरमवतरति रतिवितारके तारकेश्वरे ज्योत्स्नया खिलायामिलायां प्रकाशमाने वस्तुविसरे, राजतपत्राच्छादिते कर्पूरपरागमिव वर्षति नभसि, प्रदरं [1] नाशयितुं पुष्यानुगमिवसेवमानाया[2], मनुपेयाभिर्दुग्धधाराभिरिव ज्योत्स्नाभिः सिच्यमानायां वसुमत्यां, प्रफुल्लकैरवेषु, सरस्सु, सत्रपकमलिनीषु दीर्घिकासु, स्मयमानाननासु च कुमुदिनीषु समाधिमिवाश्लिष्य निद्रादेवीमाराधयत्सु जनेषु द्वित्राः पुरुषाः पर्वतान्तः प्रदेशे स्थिताः सन्ति ।

महानयं प्रदेशः। अभितो लघुलघवः पर्वताः पादपप्राचुर्यवन्तो ये समागन्तृनेत्र निपातात्तान् वञ्चयन्ति [3] ।

---

[1] प्रदरोरोगः पुष्यानुग [2] चूर्णेन शाम्यते । पक्षे प्रकृष्टो दरोभयः, पुष्यइति नक्षत्रोपलक्षणं तान्यनुगानि यस्यतेन चन्द्रेण नाश्यते । नक्षत्रोदये भयं नश्यतीतिभावः । बचाते हैं इति भाषा [3] ।

मध्ये विविधघासविभासी, हरिणरोममृदुलोरम्यस्तापहारी, शीतलः प्रदेशः। गण्डशैलान् कर्त्तयन्ती स्वल्पजला सरिदेका वहत्येकतः। या पार्वतमध्यमासाद्यादृश्या भवति। पूर्वतः पुरुषैरसुकृतैकपुरुषगम्या दुर्गमा दरत्[1]। मध्ये नितरां सान्द्रा पादपावली। यत्र तत्र कुटन्नटे[2] ऽक्षोटे[3] मधुमक्षिकाः भनभनायन्ते। इतस्ततोभ्रमन्तो दुष्टात्मानोऽत्रैवात्मानं सुखिनं मन्वते। पुष्टदुष्टं स्थानमेतं लुण्टाकानां लीलानिलयं, चौराणामाचारचत्वरं, पिशाचानां पत्तनं, रक्षसामासनं, यक्षाणां भक्षणभवनं, उत्पातानामुत्पत्तिं, वराकपथिकानां विलीनप्रकृष्टपन्नगमाचक्षते। विस्मृतसरणिरपिकश्चन सज्जन इतो नाटीकते[4]।

अद्यापि त्रयः पुरुषा अत्रावलोक्यन्ते। निश्चप्रचन्ते दुष्टात्मान—इतितु स्थानमेवाख्याति, परन्तु तदालापशुश्रूषा चेत् "पाठकाः पाठिका"श्च निभृतमागच्छन्तु मा नाम नूपुरशिञ्जितं तान् सुचेतयेत्—शृण्मः किं तैर्विचार्यते।

यश्चैतेषु शिलापीठमधितिष्ठन् नायक इव प्रतीयते वयसा पञ्चविंशतिवर्षो विपुलांसः प्रोच्चकुलजात इव सभ्यवेशो नातिसुन्दरो बलवान् पटखण्डेन स्वेदबिन्दून् प्रोच्छन्नास्ते।

अन्यौ द्वौच सुघटितशरीरौ सैनिकवसनौ बद्धकटितटौ, स्कन्धावलम्बमानकन्थौ, कृष्णाहि-कोशकौक्षेयककरौ भिन्दिपालपूजितपार्श्वौ युवानौ सम्मुखीनशिलातले समुपविष्टौ स्तः।

अधुनैवैको निकटनिकुञ्जान्निश्चक्राम द्विनालीसुभगकटितटोऽसितपटो वीरभटः।

"एहि रे प्रबल! चिरात्प्रतीक्ष्यसे"—"देव, समय एव समागतोऽस्म्याज्ञाप्यताम्"।

"प्रियाः! यूयं सदैव मत्कार्यसाधनाय सक्षणाः स्थ। प्राणान् संशयशिखरमारोप्य मत्कार्यसाधने तत्पराणां नानृण्यमासादयितुमलमस्मि। प्रबलेन यथोपकृतोऽस्मि, मन्ये पिताप्येवं न पालयेत्, माताप्येवं नमानयेत्, भ्राताप्येवं नबिभ्रियात्।

प्रबल—देव! भवत्पादयोः सम्यगपचितिः कदापि न भूता। मुधैव देवो राजिकां पर्वतयति। वृत्तिभुजो वयं यदि देवमाराधयामोऽपि तत्र किं निःस्वार्थम्। वेतनं भुञ्जाना अपि देवं यदि न सेवामहे, तदातु पात्रेसमितानां न जाने कस्मिन्निपातः स्यान्निरये। यतः प्रभृति महाराजो नन्दनपुरेश्वरो परलोकंसनाथितवांस्तत एव प्रतिक्षणं शोचाम्यनुतिष्ठामि, प्रार्थयामि च परमेशानं यत् प्रभो कदाहमेताभ्यां लोचनाभ्यां श्रीमन्मन्त्रिकुमारान् श्रीलश्रीकान्तिसिंहान् नन्दनपुरराज्यसिंहासनेऽस्मांञ्छिक्षतो द्रक्ष्यामि।

---

१ दरत् = दर्रा। २ सोनापाठ। ३ अखरोट। ४ नहीं फटकते।

कान्ति०—प्रबल ! विरमास्माद् वाङ्मयात्। नाहं राज्यं कामये। भ्राष्ट्रे भजतां साम्राज्यम्। नास्माकं प्रयोजनं राज्यवार्त्तयापि। यासां योगक्षेमं रक्षन्नहं राज्यकामुक आसं, ताः प्रजा एवास्माकं विरोधिवचो ब्रूयुस्तदास्माकमेत्र तेन किम्? राज्यग्रहणे किं मम कश्चन नैजः स्वार्थ आसीत्?

प्रबल०—सर्वं जाने देव ! परन्त्वन्येन कर्णे फूत्कृतो जनः स्वार्थमपि नाशयति। अस्तु, आदिश्यतां कश्चनादेशः। निष्कर्मणान्तु दिनान्येव नातियन्ति।

कान्ति०—कमलया सह परिणयप्रतिज्ञां कृतवानस्मि—इति तु भवतां विदितमेव। मम प्रतिज्ञायां, तव प्राबल्ये, वीरवरस्यचातुर्ये, सूर्यसिंहस्य साहसे च द्वयोर्द्वयोश्चतुर्भाविश्वमे विश्वासः। अपि सत्यं रोचते वीरवर?

वीर०—आं देव ! एकदावयं सकमलं भवन्तमत्र शैलशिलातले समुपविष्टं प्रणंस्यामः।

कान्ति०—परन्तु भवद्भ्यो विज्ञातमेवास्ते यद् द्रविणमन्तरा न किमपि कर्त्तुं पार्यते। सर्वत्रधनस्यावश्यकता विशेषतश्च विवाहे पुनश्च राजकुमार्यासह। वासोभूषणकल्ल-नासुन्यूनतोन्यूनं पञ्चलक्षमुद्राणामावश्यकता। अपि ! वीरवर? कश्चनैतदर्थेऽपि स्थिरीकृत उपायः।

वीर०—आँ देव ! [किञ्चित्स्मृत्वेव] विदूरमितोऽस्ति राजनगरनाम्नि नगरे मम मातुलेयो भ्राता शिल्पार्जितबहुधनदप्तो बाल्यतएवममापराद्धा विश्वशेखरो नाम युवकु-मान्यः। परार्यपि स मातुलान्याः समक्षमेव मां दुर्वचोबाणैर्मर्मण्यविध्यत्। तत एवार्हति देवो द्रविणमानेतुम्। प्रतिशोधविधावधीरोऽहमपि कार्येऽस्मिन् देवस्य चिर-स्मरणीयं साहाय्यं विधास्ये।

कान्ति०—कियद्दूरमितस्तत्स्थानम्?

वीर०—देव ! आस्माकीनस्य उपवर्मदनीलकाननस्योपकण्ठे श्रीमन्नन्दनपुरनरेन्द्रा-वासाय सुभगशिलोच्चये रचिताया गुहायाः सन्निकटमेव। राजनगरप्राप्त्यै च तत आश्वीनोऽध्वा।

कान्ति०—आँ जाने ! परन्तु सुदूरं तत्स्थानम्।

वीर०—(विहस्य) महाराज? कः साहसिकानां सुदूरविदूरभावः। सुरङ्गेनवयं सुभगशैलगुहासु गमिष्याम एव। अहह ! एषु दिवसेष तत्राम्राणां समुद्रइव समुद्योतते।

तत्र कियत्कालमानन्दसन्दोहं सन्दीप्यावसरं प्राप्यकार्यमपि साधयिष्यामः। नीत्वापिचौर्यं विदूरस्थानएवकार्यं येनकापि हानिरपि न सम्भाव्येत। सूर्यप्रवलाभ्यां तद्भवनं कोशगृहं अभ्यन्तरालयां भित्तिमितिसर्वं प्रागेव दर्शयिष्यामि। किन्तु देव! चौर्यकाले एतयोः साहाय्यं प्रत्यक्षं नाचरिष्यामि। "आँ" काननोपकण्ठेऽन्यत्रवा यत्रोपयुक्तता भविष्यति—एतौ मिलिष्यामि। मौनीभूतः किमिव विचारयसि सूर्यसिंह!

सूर्य०—किमिव विचारयामि, ऋते दैवहतकदुष्क्रीडितात्। अतुलां मन्त्रिपुत्रपदवीं परित्यज्य भाविनीं नन्दनपुरनरेशताञ्च विनाश्याधुना वीरवरेण्या अपि चौर्यकर्मणिरता, विरता वीरताया—इत्यतोऽधिकं किमिव शोचनीयंप्रवल! स्वदुष्कर्मसम्पादितेन दुर्दैव-दुराग्रहेण भगवान् भास्वानपि दीनदीपस्य शिखालेशमपजिहीर्षेत्,·· समुद्रोऽप्युपकूपं मुखमुद्रामुन्मुद्रयेत्,...मानोऽपिदैन्यं प्रसादयेत्···।

प्रबल०—सूर्य, वृत्तिभोज्यपि पौनः पुन्येनात्मनः स्वामितामिव विस्तारयसि। बहुशः पदे पदे शिक्षितोऽसि, परं न जाने त्वमपि कथं दैवदुराग्रहग्राहेण गृहीतः। पुनः पुनरप्राकरणिकममनोहरं किमप्यसङ्गतमसंस्तुतमेव वक्षि। प्रभोरितरविषयप्रवणं चेतो विदन्नप्युद्दण्डतामाचरसि·········

सूर्य०—उद्दण्डताम्। अहह उद्दण्डताध्यापका अपि परेषामुद्दण्डतादोषं विख्यापयन्ति। ये परमप्रेम्णा सम्पादितं वस्तु स्वयमनुपभुज्य पुत्रेभ्यो ददति, ये च स्वं स्वप्राणांश्च पुत्ररक्षा—शिक्षा—दीक्षायै जुह्वति, तान्पूज्यपादपद्मान् पितॄनपि तत्पदप्राप्तिकामा हालाहलज्वलितगलान् विदधति, तेऽप्यद्य हन्त! सदाचारशिक्षां शिक्षयन्ति—परेषामुद्दण्डतादोषमुद्घोषयन्ति। आश्चर्यम्?

वीर०—सूर्यसिंह! बहूक्तं विरम। भङ्गाधिकं पीता गङ्गावोदरपूरं भृता। मत्त इव किमिव वक्षि कमिव कथयसि। किंन जानासि स्वामिनो दण्डकाठिन्यम्। किंन स्मरसि प्रभोः प्रभविष्णुताम्।

सूर्य०—(मूकीभूतो नखेन भुवं विलिखन् केनापि विचारेण हृदि प्रेर्यमाण इव किमप्यब्रुवन् मुखेन व्यञ्जितरोषस्तिष्ठति)

कान्ति०—वीर। अस्य बहु मर्षितम्। परन्तु मर्षणमपि सीमितमेव भवति। अन्ततो·········

प्रबल०—(मध्ये एव) देव। बालोऽयमबहुदर्शि चास्य हृदयम्। विचारधाराभिरवधीरितधैर्यं सद्यएवोत्पथायते। कालेन श्रीमद्भिः शिक्षितो भविष्यति योग्यः। क्षम्योऽधुना।

सूर्यः—(शनैश्शनैः) कोमर्षयिष्यतीतितु समयेन ज्ञास्यते।

* * *

"उत्तिष्ठ ज्ञानमाधेहि। अचेतनावस्थां गतस्य तव दिनत्रयमत्रव्यतीतम्। अद्य तवाङ्गानि सचेतनान्युष्णानि च प्रतीयन्ते। भगवाञ्छिवो मदीयां सेवां सफलयितुमिच्छति। निद्रां जहि हि, पश्य सूर्योदयो जातः। पक्षिणस्त्वेदृशीं दशां विलोक्य सशोकाइव दृश्यन्ते। तएव मम परिजनास्तव कुशलमिव पृच्छन्त आतुरास्तिष्ठन्ति। तव सर्वाङ्गं स्पर्शेन सुखयन् मातेव मातरिश्वा व्यग्रो मूकः परिभ्रमन् न स्थैर्यं लभते। उत्तिष्ठ ममाप्येषाहवनवेला। गौरपि वत्संधपयितुं हुङ्करोति। सापि दिनत्रयात्त्वेदृशीं स्थितिं विलोक्य त्यक्ततृणाऽवर्त्तत, अद्य शष्पोन्मुखा प्रतीयते। शुभमिदं लक्षणम्। मन्ये तव चेतना शीघ्रं प्रत्यैष्यति। विषादं जहिहि। सर्वाण्येतानि तव मङ्गलं सूचयन्ति, उत्तिष्ठ जागृहि। काल? कदात्वं मोचयिष्यसि मातरं पवित्रां भारतीं भुवम्। मास्मान् भृशं दुःखितान् कार्षीः। मा मातरं दुःशासनावमानितां विधाः, मा स्वातन्त्र्यसंग्राममहायज्ञे प्रदत्तपतिपुत्रगृहधनाहुतीर्विधवा अधिकं खेदीः। माशासनापहृतसर्वस्वान् यूनः कृशय—मन्ये एषोऽपि वीराङ्गनाङ्करत्नं केनापि दुर्दान्तशासकेन नद्यां क्षिप्तइमां दशामाप"—

"क्वाहमस्मि ललिते, श्यामे, देवव्रत, कोऽयं जटिलः प्रतीहार," उद्विग्नचेतसा विस्फारितनेत्रेणामुनोचे।

"शान्तिं भज ते सर्व एवाविलम्बं समागमिष्यन्ति, उद्बुध्यस्व, स्थानमिदमेकस्य विरक्तस्यास्ते। यत्रश्रीमान् काष्ठफलकाश्रितो नद्योह्यमानः प्रातःस्नानार्थं गतेन मया निःसार्य जीवनीयशक्तिममृतां विज्ञाय कुटीरं समानीतः। दिनत्रयं व्यतीतमद्य श्रीमान् चेतनां भजते"—इत्याह्लादितं मामकं मनः। इदमुष्णं पयो गृहाण, शिथिलानि तेऽङ्गान्यनेन सामर्थ्यं प्राप्स्यन्ति," आम्रपल्लवेन पयो मुखे ददता महात्मनोचे।

युवा च मुखं व्यादाय शनैः पयो जग्राह। स महात्मदत्ताश्रयः शनैः शनैरुपविष्टः। तस्य चक्षुषोरग्रे नवमेव दृश्यमासीत्। महात्मना तैलं सज्जीकृतमासीत। स शनै

श्शनैर्मर्दयितुमारेभे। यूनः शून्याङ्गेषु चेतना प्रासार्षीत्। मनोरमोऽयं प्रदेशः। सर्वतोऽनन्तरालं स्थितानां निम्बानां भित्तिरिव भाति। मध्ये च चतुरस्रो घासविभासी प्रदेशः। एकत एका स्वच्छा रम्या कुटी। धवलपाषाणखण्डबद्धञ्च कुट्टिमम्। सम्मुखे च कुटीद्वयम्। एकस्यां हिमधवला मांसला वात्सल्यपूर्णाधेनुः सम्मुखमीक्ष माणा स्थितास्ति। पार्श्वे एव पयः पात्रं वामे पाणौ, आम्रपल्लवञ्च दक्षिणे दधत् उपषष्ठिवयाः विमलश्रीःप्रदीप्तप्रभः कौपीनवासाः स्थितोऽस्ति। युवचेतसि शनैः शनै श्चेतना प्रसृता—स्मृतिरागन्तुमारेभे, तं स पुनरुष्णं पयः पाययित्वा शाययित्वा च कार्येलग्नः।

"अधुनाहं स्वस्थोऽस्मि, कथं कैश्शब्दैराभारं प्रदर्शयामि—नजाने। बुभुक्षा बाधते, शौचान्निवृत्य बुभुक्षामि"।

"नागरिकजनवदाभारप्रदर्शनं नावश्यकं, पार्श्वएव शौचान्निवृत्य कवोष्णजलेन स्नात्वाऽऽगच्छ, सिद्धं पायसं तवोल्लाघायालम्।

* * *

"सत्सु समेषु लेह्यचोष्यपेयादिषु महार्हपात्रेषु नेदृगानन्दोऽधिगतो योऽद्य कदलीदले प्रसर्पतोऽविरलस्य पायसस्य भोजने"—क्षीरं प्रसृतया लिहता यूनोचे।

"एकान्ते भगवन्तं भजता मयाप्येष आनन्दोऽद्यैव मनसि मूर्धनीकृतः" अस्तु, अधुना त्वं स्वस्थोऽसि, जिज्ञासा च मामाभीक्ष्ण्येनमुखरयति, कस्त्वम्! कथमित आगमनं कथं चेदृशी दशा तव!

"देव! अपरं जन्म प्रदातुर्भवतः सम्मुखं नाहं मिथ्या वदिष्यामि यद्येतादृशी जिज्ञासा वर्त्तते चे च्छ्रूयताम्—

"अहं राजनगरपतेः श्रीनवेन्दुवर्मणः पुत्रश्चन्द्रोऽस्मि यदि श्रीमतः कदापि कर्ण-मस्पृशम्। मम युवराजमहोत्सवदिने मम मित्रं मह्यमेकमश्वं प्रादात्। तमश्वमारुह्या-खेटार्थं मित्रैः सार्द्धं गतवानासम्। सौभाग्येनानायासमेव सिंह एकोऽभ्युपेतः। अहञ्च शुभशकुनमिदं युवराजमहोत्सवे—इति विचार्य तमन्वधावम्। परन्तु स वन्यपशुः समस्तां रात्रिं यापयित्वा क्वापि विलीनः। समस्तरात्रिप्रधावनेनाश्वोऽहञ्च नितरां श्रान्तोऽभूवम्। अश्वस्य स्वेदक्लान्तं वपुः प्रकम्पते स्म। मामकीनं सक्थि-युगञ्चाश्ववपुषाऽभेदभावं भजदिव प्रतीयते स्म। परन्तु कथङ्कथमप्यश्वादवतीर्य-

शनैः शनैः पदातिश्चलनमभ्यस्य किमपि स्थानं प्राप्तुमैच्छम्। पार्श्वे एवैकं शिवालयमपश्यम्। शिवालयो वृक्षव्यूहे निलीन आसीत्। प्रवर्षणेन तस्यरागः कृष्णीभूत आसीत्। शिखरलग्नोऽर्द्धभग्नो लोहदण्डो यस्मिन् कदापि ध्वजः समुच्छ्रितो भवेच्छून्यतां बिभर्त्तिस्म। कवाटमेकमेवासीत्तदपि भग्नं दग्धम्। अन्तः कृष्णदृषत्पीठे शिवमूर्त्तिरासीत्। शिवमूर्त्तिर्दिव्या धीविभवविभाव्या भव्याऽऽसीत्। केनापि शिवभक्तेन महात्मनाऽत्र रहसि बिल्वव्यूहेऽर्कनिकरे निम्बकदम्बे धत्तूरपूरेऽभङ्गभङ्गे गङ्गेशस्य शस्यप्रशस्ये स्थले स्थापना कृता भवेत्, परन्त्वद्य मन्दिरं भक्तस्याभावंभावयति स्म। केवलं जलसिक्तमङ्गणं, शरावे धूपभस्म, दीपशलाकाः, मलिनं तूलं भग्नो दीपः, अक्षताः दूर्वापुष्पाणि च कमपि पूजकं सूचयन्तिस्म। कोऽपि इतः कुतोऽप्यागत्य कदाप्यर्चति—इति प्रतीयते स्म। चन्दनाय निम्बकाष्ठखण्डमेकस्यां भग्नकुण्डिकायां पतितमासीत् पूजनाय भग्ना तुम्बी च। अमार्जनात्सर्वमवकरकूटं शैत्यान्महतीं दुर्गन्धितां प्रसारयति स्म। भित्तिषु, अधुनापिसुदृढासु पल्ल्योनिश्शङ्कमयन्त्य आसन्। मन्दिरस्य पार्श्वेऽपराप्येका त्रिद्वारासीत्, परन्तु कुट्टिमहीना पान्थानां चुल्लीधूमेन कृष्णीकृता दीनावस्था वन्यपशुमूत्रिता नितरां भ्रष्टाऽऽसीत्।

नितरां श्रान्तो विश्रममनिच्छन्नपि वन्यपशुभयङ्करे वने गमनाशक्तशरीरः कथङ्कथमपि स्थानं विरूय सुप्तवान्।

परन्तु निद्रा द्रुताऽऽसीत्, चिरान्वेषणेनापि सा नापि किन्त्वन्ततोऽङ्गानि शैथिल्यमभजन्। शरीरञ्च निद्राङ्के सर्वस्वं समर्प्य सुष्वाप। अकस्मादेवाश्वस्य प्रबलया हेषया मम निद्रा भग्ना। सहस्ररश्मिः प्रकाशते स्म। मया दृष्टं यदेकः पञ्चाननो ममाश्वस्य पृष्ठं विदारयति। यावदहं सद्यएव कृपाणं निष्कोशं विधाय सज्जोऽभवं स वृक्षान्तर्निलिल्ये। घोरं वनं, शिथिलं शरीरं, चेतनाहीनानीवाङ्गानि, अश्वश्च मृतः किमधुना करणीयमिति विचारयति मयि पुनः स दृष्टिपथमागतः। अहमधुना रक्षणार्थं मार्गमन्वेष्टुकामः शनैश्शनै निष्कोषकृपाणकरोऽचलम्। अहं क्षणैरेव पार्श्वे एव सवेगं प्रवहन्त्या नद्यास्तीर आगतः। पूर्णपीयूषपानीयां नदीं, परितो हरिताः पादपाः सुरभिर्घनिकोपवनपवनः सेवमान इवेतस्ततः सञ्चचार। अहञ्च कणेहत्य पीत्वा

सुधामधुरमधरीकृतमाक्षिकेक्षुक्षीरं नीरं, प्ररूढप्रचुरदूर्वे पादपतले शीतलसुरभिसमीरणेन श्रममपनेतुं समुपविष्टः।

कुशलवृत्तमिवपृच्छति शकुनिकुले, स्वेदविप्रुषो विदूरयति मातरीव मातरिश्वनि, दासीगण इव पादयोः पतति दूर्वाविसरे, भ्रातृष्विव सगलवन्धं मिलत्सु द्रुमशाखासु पितरीव छायांकृत्वा शाखाग्रैः शिरः स्पृशतिपादपे, प्रियायामिव परिजनसङ्कोचाद-मिलन्त्यां तरङ्गभङ्गैरुत्थायोत्थाय लीयमानायामिव नद्यां मया दृष्टं यत् स एव सिंहः प्रलम्बया जिह्वया करालैर्दंष्ट्राग्रगर्जनेन च भीषयमाणो ममाभिमुखं सत्वर सत्वरमागच्छति। तस्य मुखमुद्रया स दृढनिश्चयः प्रतीयते स्म। परिस्थितिर्जटिला ऽऽसीत् दशहस्तान्तर एव सिंह आसीत्। अहं निमिषेणैव बद्धपरिकरो युयुत्सुः सञ्जातः। सिंहः सत्वरमागत्य मुखंव्यादाय अग्रपादाभ्यामाहन्तुमना यथा प्रचलति, तथाह प्युद्विग्नः क्रीडनेऽस्पृहो निष्कोशं करवालं तन्मुखे प्रावेशयम्। आहतोऽपि स यत्र तत्र नखाघातेन रक्तमस्रावयत्। परन्त्वन्ततः श्लथदङ्गो निपपात। अहञ्च शोणित पृषतः प्रक्षालनाय नदीतीरं गत्वा यावज्जलमाहरामि तावदेवावयो र्युद्धेनजर्ज्जरीभूतं अन्तर्हतमृदं नदीतीरं मयासहैव नद्यांपपात। अहञ्च नितरांश्रान्त आसम्। परन्तु मृत्युभीत्या म्रियमाणेष्वप्यङ्गेषु चेतना व्याप्ता, सम्मुखेच काष्ठफलकमेकं नद्योह्यमान-ञ्चेतनावस्थायामधिगतवान्। पश्चात् किं जातमित्यहं न जाने। अधुना देवः स्पष्टयतु, यत्कोऽयं प्रदेशः। कियद्दूरञ्चेतो राजनगरम्।"।

"पुत्र चन्द्र बहूनि कष्टानि विषह्य जीवितेशस्य द्वारमिवाप्य प्रतिनिवृत्तोऽसि। दनद्वयं नदीप्रवाहे काष्ठपट्टे व्यतीत्य अद्यत्वां जीवन्तं दृष्ट्वा परमानन्दमनुभवामि। पार्श्वे एव विमलपुरं विद्यते यत्र भूमहेन्द्रो जगत्पालो रामपालो निवसति। एतान्युपहस्तं दर्शनीयान्युपवनान्यपि राजकीयान्येव। स्वस्थतामापद्य प्रान्तमिमं निरीक्ष्य शीघ्रं प्रतिनिवर्त्तस्व। त्वदीयौ पितरौ न जाने कां दशामनुभवतः।"

"विमलपुरं रामपालमहाराजस्य विमलपुरमिति साश्चर्यं सांगुलीन्यासं सोत्कण्ठं भणति चन्द्रे "आँ" "आँ" इति गदन् संन्यासी स्वकार्ये लग्नः।

* * *

"देवि ! कात्वं सौन्दर्यसारावयवा यवाङ्कुनासा, नववयश्शोभिता तन्त्री नवमाल्किेव

सजीवा, सविभ्रममितस्ततः पश्यन्ती वृष्टिमिव कुर्वन्ती अभिरामताविप्रुषां द्वारदेशेस्थिता। कस्य चेदमुद्यानम्। किमत्र स्थानं प्राप्तुं शक्यते ?"

"श्रीमन्, मनोहरमुपवनमिदं जितारेस्तारेश्वरकान्तिकीर्त्ते राज्ञो रामपालस्य प्रियपुत्र्याः कमलायाः। यत्र प्रान्ते भ्रमन्तः पुँस्पक्षिणोऽप्युपरुध्यन्ते, तत्र भवादृशा दृशा विक्षिप्तकामिन्यः सशरीरा इव कामा वामाभिरामाः कथं समेताः। यदि नाम युष्मादृक्षाणां भ्रमणं श्रूयेतोपोद्यानं तदा नियता वसतिः कारायाम्। अतोऽस्मात्प्रदेशा ज्झटिति तथा यातव्यं यथा कोऽपि दृष्टिमपि न क्षिपेत्, मक्षिकाऽपिनेक्षेत।" क्षन्तव्या चेयमनपराधिनी परवती क्रीतदासी,.........

"देवि, त्वदीयां भाषणभङ्गीमाकर्ण्य पुनःपुनर्भवति चेतस्त्वद्वचः श्रवणाधीरम्। परन्तु न वयं कस्यापि निर्दूषणस्यापकाराय।"

"देव, क्षम्यतामपराधः, देव आकृत्योच्चकुलो दैवदुर्विपाकेन दुरवस्थः प्रतीयते आज्ञाप्यतां का चन सेवा।"

"अहमत्र नवीनोऽस्मि न कमपि जाने। कञ्चित् कालमत्र व्यत्यापयितुमिच्छामि, त्वं यदि मत्कृते स्थानमेकं व्यवस्थापयेः, आजीवनं स्मरिष्यामि।"

"भगवन्, निकट एवैकस्य धनिनः प्रोच्चं गगनचुम्बि रम्यं भवनं विद्यते। कमलोपवनसान्निध्यादधुनैतन्नव्यवहर्त्तुं शक्यते। केचनैतद्भूतावासमपि मन्वते। परं भवनं सुभगभोग्यं योग्यमस्ति। अभितो रम्या वाटिका। दक्षिणत आदर्शनिर्मला वापी पीयूषपूर्णा। वामतश्च निपुणनिर्मितो लीलाशैलः। मध्येच रक्तपाषाणचितो राजोचितः प्रासादः। श्रीमद्भ्यो यदि रोचते विश्रम्यतामत्र कञ्चित्कालम्।"

शब्दशास्त्राब्धिमग्नानां जलविप्लुतचेतसाम्।
कृते द्वितीयो निश्वासः सोऽयं चन्द्रमहीपतेः॥

श्रीनिवासशास्त्रिणा कृते चन्द्रमहीपतौ द्वितीयो निश्वासः।

Tele : AROGYALAYA.

Phone : Hospital. 34-1030
Residence 34-2196.

नम्रनिवेदन

दिनाङ्क.....................

मान्यवर,

संस्कृत में आधुनिक शैली के उपन्यासों में चन्द्रमहीपति का स्थान सर्वप्रथम निर्विवाद है। साम्यवाद समाजवाद की तरह इसमें सर्वाभ्युदयवाद की स्थापना है। कलेवर में कादम्बरी के समान, मनोहर सरल संस्कृत में यह डा० सुनीतिकुमार चटर्जी एवं म० म० कालीपद तर्काचार्य के मत से अभूतपूर्व कृति है। पढ़ने से ही इसकी विशेषता मालूम होगी। इसी टाइप में १६ पेजी डबल क्राउन, ग्लेज कागज, पृष्ठ ३५०, दो चित्र, पक्की मनोहर जिल्द। मू० ६) पोष्टेज १⁄) है। एक साथ १० कापी लेने से फ्री डिलेवरी। विक्रेताओंको २०% कमीशन है।

संस्कृत उपन्यासों की रचना न होनेसे विक्री कम है। आप पुस्तक व्यसनी हैं, स्कूलों, कालेजों व पुस्तकालयों में चेष्टा करके १००-५० प्रति बिकवा देंगे तो संस्कृत साहित्य के प्रचार में आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहेगा। यह आपके लिए बहुत आसान है।

मैं पुस्तक व्यवसायी नहीं हूँ, अतः सम्भव नहीं कि उधार पुस्तकें भेजूं। अतः नम्रनिवेदन है कि पुस्तकें वी० पी० या बैंक से भेजी जायेगी। आशा है, परिस्थिति देखकर आप अवश्य आडर देंगे। सेम्पल कोपी के लिए ७) भेजें।

विशेष प्रार्थना :—आर्डर यदि न दे सकें तो कृपया अपने सूचीपत्र में चन्द्रमहीपति का नाम अवश्य लिखने की कृपा करें। पूर्ण विवरण पीठ पर।

श्री वि० स० मा० अस्पताल,
११८, अमहर्ष्ट स्ट्रीट,
कलकत्ता-९

श्रीनिवास शास्त्री

चन्द्रमहीपतिः

लेखकः प्रकाशकः श्रीनिवास शास्त्री ११८, अमहर्ष्ट स्ट्रीट, कलकत्ता-९ भूमिकालेखकः श्रीनरहरि विष्णु गाडगील महोदयः, पञ्जाबराज्यपालः। समालोचकः—डा० शतकोटिमुखर्जी कलकत्ता-विश्वविद्यालयसंस्कृतविभागस्याध्यक्षचरः, तथा कविराज श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री जामनगरस्थः। म० म० हरिदाससिद्धान्त-वागीशः, श्री डा० गौरीनाथशास्त्री प्रि० ग० सं० कालेज कलकत्ता; श्रीपट्टाभिरामशास्त्री (क० विश्वविद्यालयः,) मञ्जूषासम्पादकश्रीक्षितीशचन्द्रचट्टोपाध्यायप्रभृतिभिः सातिशयं सम्मतः। संस्कृतेऽयमपूर्वो विषयो भारतीयः समाजवादः सर्वाभ्युदयवादनाम्ना उपन्यासभाषया मनोहरकथानकेनो-पनिबद्धः। भाषाया मनोरमा छटा विषयवस्तुप्रतिपादनं संस्कृते-ऽपूर्वमेव। अधुनातने समये व्यवह्रियमाणानां भोजनानामस्त्राणां शस्त्राणां व्यवहाराणाञ्चानन्दकरः सन्निवेशः। कलेवरं कादम्बरी-समानम्। उत्तमपत्राक्षरसुदृढजिल्दस्य मूल्यं व्ययमात्रम् ६) मुद्राः। संस्कृतप्रेमिभिरवश्यमेव क्रेयः। नवीनरचनानां परीक्षासन्निवेशं विना संस्कृतोन्नतिरसम्भवाऽतः परीक्षानिवेशाय सर्वात्मना यतितव्यम्। अस्मिन् संस्कृतगद्येऽननुभूतपूर्व आनन्दो भवद्भिराप्स्यते। क्रयणे शीघ्रता विधेया, नो चेद् द्वितीयावृत्तिः प्रतीक्षणीया स्यात्।

श्रीमान् ____________________

____

____

____

तृतीयो निःश्वासः

एताः स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ-
झङ्कारनूपुरपराजितराजहंस्यः ।
कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो
वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥

भर्तृहरिः

मध्ये त्रिवलीत्रिपथे, पीवरकुचचत्वरे च चपलदृशाम् ।
छलयति मदनपिशाचः पुरुषं हि मनागपि स्खलितम् ॥

त्रिविक्रम भट्टः

उद्वेगमहावर्त्ते, पातयति पयोधरोन्नमनकाले ।
सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्द्धमाना सुता पितरम् ॥

बाणः

अपहस्तितान्तरायानर्थानुररीकृतान् प्रसाधयतः ।
विधिरपि बिभेति तस्मान्निरतिशयं साहसं यस्य ॥

त्रिविक्रम भट्टः

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुप्तमन्तकप्रतिमम् ।
यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम ॥

"मया श्रुतं यद् राजनगरं प्रति मुद्रा प्रेषिता, अपि सत्यं, मनोरमे!"

मनो०—ललिते! श्रुतं तु मयापि चन्द्रकलामुखात् ।

चन्द्रकला०—मामपि तिलोत्तमाऽऽह ।

ललिता—का तिलोत्तमा ?

चन्द्रकला—सैव मन्त्रिणः प्रमुखा दासी ।

"किमाह ?" ललितया सोत्कण्ठं पृष्टम् ।

चन्द्रकला—एवमाह यद् राजनगराधीशपुत्रेण सह प्रतिज्ञातचरः कमलाविवाहः। विवाहयोग्याञ्च तां वीक्ष्य कमलापाणिपल्लवं योजयितुं तिलकः प्रेषितः।

ललिता—श्रूयते यत् सौन्दर्ये स साक्षात्कामः। केचन नाशिताशेषोपद्रवं प्रजाभक्तमसक्तं व्यसनेषु विक्रमिणं धृतावतारमर्जुनं मन्यन्ते। परे च मुखमुद्रया जगदानन्दयन्तं भगवन्तं चन्द्रमसमाचक्षते। इतरे चाप्रतिहतशक्तितया जगदमङ्गलविनाशनिरतं भरतं व्याचक्षते। यस्य पिता प्रबलप्रभापरिभूतभूतगणः कथं न स्यात् तस्य पुत्रोऽपि प्रतापपपीपरिप्लुष्टरिपुपूरः, यस्य पिता द्विधारधारासमाकृष्टशत्रुसीमन्तिनीसौभाग्यः कथं न स्यात् तस्य पुत्रोऽपि विजयवामभ्रू दक्षिणभुजलताभूषितकन्धरः।

मनोरमा—तदस्माकं कमला किं रतेर्न्यूना? अलब्धामरशरीरं मारं मर्त्येऽन्वेष्टुमिवागता, वासन्तपुष्पविकासनीकाशहासा, श्रियं, माधुर्यं, वात्सल्यं प्रेम वयोविभ्रमसुद्वमन्ती, [1]प्रसिद्धा हंसगत्या, परागभूता प्रमदानां, अपचितिश्चेतोभवस्य, संसरणं हावानां अनुजेव मोहिन्याः, अवतंसभूता सौन्दर्यसरसीनाम्, निश्शेषकलालया, निरतिशयसौकुमार्या, दुर्दर्शा दुरदृष्टैः, दुर्दम्योत्साहा, विहसितहसितविधुबिम्बा, आपूर्णा प्रेममकरन्देन, निश्रेणिः मन्मथमहेन्द्रस्य, अधीश्वरी सुरभिनिश्वासानां विलाससदनस्य च, अपिधानं वैराग्यभावानां, अतिक्रान्तशिरीषकुसुमामार्दवे, सुवर्णवर्णा, उज्ज्वला ललन्तिकया, अभिरूपा मुखमण्डलेन, प्रतिपन्नपदार्थतत्त्वा, परिखेवानन्दाम्भोधेः, अनुपाधिसुन्दरी कमला कथमिव प्रेक्ष्यते।

पश्य! अलक्तकरागरक्तचरणतया, स्वभावरक्तबालभास्करायितौष्ठतयाच, अचिरमृदितरक्तबीजरक्तानुरक्तचरणा तत्पानरक्तौष्ठी दुर्गेव, जनकप्रिया रामाभिरामा सीतेव, केशकलापाकलितललितकुसुमपरिमला, तत्त्वबोधिनी प्रशस्तषड्लिङ्गा सद्धातुगणा विपुलसमासा कौमुदीव जगदभिरामा, द्विफालप्रसाधितशिरोरुहा सरणिमिवस्मरस्य प्रदर्शयन्ती, बिन्दुभूषितभ्रूमध्या, रक्तापाङ्गस्पर्शिप्रफुल्लपुण्डरीकनयना, पद्मरागजटितस्वर्णकर्णपूरा, उन्नतस्निग्धस्मरशराणुतीक्ष्णघोणा, रक्तोन्नतकपोला, कलङ्कमुक्तेन्दुकलाविमलहीरकशकलसोदर्यरदनवदना, शुभ्रहारहारिवक्षःस्थला, दाडिमीफलकठोरकुचा, प्रेमपूर्णनाभिपल्वलावताराय त्रिवलीसोपानरम्या, प्रेमपयोधौ नौदण्डायितेनेव करयुगलेन सन्तरन्त्येषा निश्चितं निर्विवादं ललामं ललनासु।

[1] क्रमशः सर्व उपसर्गाः।

एनामुत्पाद्य सञ्जातो विधातुः सौन्दर्यरचनासम्भारनिधेः कलाकलापस्य च क्षयः। किं श्यामे ?

श्यामा—रतेः किं साम्यं कमलया। साऽनङ्गस्य वनिता कोकिलाली मनोमन्दिरा···। एषा च विश्वविदितवीरवरस्य वरा वनिता मनोरमासखी···।

कदासौ सुभगः समयः समेष्यति, चेत आनन्दस्य चरमसीमानमाप्स्यति, यदा प्रियासखी रक्तकङ्कणनिबद्धमणिबन्धाऽलक्तकालंकृतहस्ततला परिमिताभरणा सविभ्रमं भ्रमन्ती···।

कमला—तिष्ठत, न युष्माभिः सहाक्रीडमेष्यामि। प्रगल्भभाषिण्यो विरता एव न भवथ। यात···।

मनोरमा—चन्द्रकले! यतः प्रभृति तं युवानमेषाऽपश्यद् विमनस्का न क्वापि शान्तिं लभते। विलक्षणश्चासीदीश्वरप्रेरितः स युवा। मामकीनं मनोऽपि तस्मै सस्पृहम्। कया स्फूर्त्या सोऽस्माकं ध्वनिसमकालमेव समागत्य करालदंष्ट्रं गर्जनैरुपवनं भाययन्तं पञ्चाननं पञ्चत्वमगमयत्, साधारणशशशिशुमिव तमक्रीडयद् वस्तुतः प्रशंसनीयो विद्यते।

चन्द्रकला—युवा तु स स्पृहणीयकर्माऽऽसीत्। सरलया निर्भयया गत्या सिंहं करवालेन विदार्य "अस्तु यामी"त्युक्त्वाऽनाशंसितप्रशंसो यथागतं प्रतिनिवृत्तः। यदि स उच्चकुलस्तदा तु कमलास्पृहा नानुपयुक्ता वक्तुं शक्यते, इतरै र्गुणैस्तु स योग्यतमः प्रतीयते।

मनोरमा—परन्तु कमलाया वाग्दानं शैशव एव सञ्जातम्, नार्यकन्या असकृत् प्रदीयन्ते।

अथार्त्तमर्त्यभीत्यपनयनव्रतिनि, अरुणपुरस्सरे समाजिगमिषति भगवति गभस्तिमालिनि, उपेता गमनवेला गन्तव्यमुदरदरीदर्पदलनायेति विचार्येव किञ्चिदुदञ्चच्चञ्चुषु पतत्त्रिषु, असफलच्छात्रेष्विव सुखमन्तर्दधत्सु उडुषु, प्रचण्डचण्डकिरणभयेन प्रातः संध्यां विधातुं वा पश्चिमतटं यियासति मन्दत्विषि चन्द्रमसि, सरोजराजविकसनोत्थानप्रबोधक-भ्रमद्गुञ्जत्षट्पदवन्दिनि, सूर्यचक्रवर्त्ति-स्वागतचिकीर्षत्सूर्यमुखपुष्पसामन्तसमुल्लसितमार्गप्रान्ते, प्राभातिकवायुलोलदललताललिते चोपवनेऽरुणकिरणमार्जनीभिर्मार्जयञ्जगत्तमांस्युदगाद् भवाब्धितरणिस्तरणिः।

क्षणाय रक्तकौशेयवितानितमिवाभूद्विश्वम्। राजकमिव महाराजागमनेन सकलमेकपदे विचकास भ्रमद्भ्रमरं कमलकुलम्। इतरेक्षणेन सापत्रपा इव कुमुदिन्यो

मुकुलिताः। श्यामले दूर्वास्थले प्रसृताँस्तुहिनमणीँश्चेतुमिव बालभास्करस्याभिनवा किरणावली स्वर्णरेखेव विशदनीलाम्बरतो हसन्ती विकसन्ती नीचैरवतरति स्म।

निकुञ्जेषु वनेषु वसतां पक्षिणां दिनेशागमनजयशब्देनेव विरावेण मुखरितं बभौ विश्वम्। चेलुश्च ते प्रणमन्त इव विहायसम्। विकासभाज उपवनसुमनसो विटपाश्चानन्तानन्दसुधापानाय प्रतीक्षमाणा इवासन्। विविधकुसुमानां मादकेनामोदेन कोणं कोणं मुदितम्।

मनोरमा कदम्बकुसुमस्तबकं ललितायाः सीमन्ते न्यस्यन्ती तस्याः कर्णे फूच्चकार। सा च तां पुष्पस्रजा तताड। श्यामा च न्यायाधीशतां सम्पद्य पक्षविपक्षं शुश्राव। चन्द्रकला च प्राड्विवाकीभूय वचो विचित्रयुक्तिभिरयुक्तमपि युक्तयितुमचेष्टत। शिरीष-कुसुमकरा कमला मल्लिकावल्लरीवितानेष्वलिकेलिलीलां पश्यन्ती, मञ्जुमञ्जरीमण्डित-महीरुहमण्डपेषु पुँस्कोकिलान् प्रेक्षमाणा करकनिष्ठिकानिष्ठयोर्मिकया दीप्तां कुसुममालां तर्जन्या लोलयन्त्येकाकिनी भ्रमतिस्म। शीतलसुरभिसमीरविलुलिता तस्याः श्यामश्यामा कुञ्चितकुञ्चिता मसृणमसृणा स्नेहवर्द्धिताऽलकावली सर्पिणीव नितम्बेऽवरोहन्त्यापादं प्रसृताऽऽसीत्। सुवर्णप्रसूनाऽलक्ष्यतन्तुसंयोगा नवनीतनिर्मितेव मृदुला तस्याः शाटी वायुलोला काठिन्येन संध्रियते स्म। क्षणमव्यक्तं कण्ठेन कूजन्ती सा स्फुटं जगौ :—

कुड्मला दधति च्छविं मातरिश्वविचालिताः। (स्थायी)

(१)

ध्वनिनामुना सर्वाः सख्यः सङ्गीभूताः क्रमशो जगु :—

मनोरमा०। योगिहृदयं कामिनीनां लिम्पते योगात्त्वरम्।
पुष्पपंक्तेर्योगतो मरुतो हि भूता गन्धिताः।

(२)

चन्द्रकला०। चम्पको वकुलो रसालो मालतीगणिकागणः
चन्दनोवरनीरतृप्तश्चेतसां हारीमतः।

(३)

ललिता०। वायुलीना पुष्पपंक्ति भिन्नवर्णमनोहरा
पत्रमध्ये राजते कान्तेव कान्तविमर्दिता।

(४)

श्यामा० । पूर्वसंयोगे यथा ललनामुखं परिवर्त्तते
मधुकरेषुपतत्सु तद्वद् विचलिता उपवनलताः ।

(५)

कमला० । अर्द्धफुल्ले पद्मवृन्दे नीरजं शतपत्रधृत्
श्रीनिवासो देववृन्दे शोभते वापीस्थितः ।

* * *

एकाकिनी, अनीकिनीव कामस्य कमला, एकस्यां निम्बाम्रोदुम्बरकदम्बजम्बू-जम्बीरशोभितायां, चलदलबकुलकुलसंकुलायां, कर्कन्धूबन्धूकबन्धुरायां लोललताललितायां, मसृणश्वेतशिलायां कमलकुड्मलेषु सानन्दमुपविष्टा कमलेव राजते ।

अकस्मादेको मधुरोऽश्वधावनध्वनिः कमलाकर्णं स्पृष्ट्वा नेत्रे चञ्चलीचकार । सा क्षणेनैव स्थिरीभूय ध्वनिः कस्याः दिशः समेतीति निश्चित्यापश्यद् यदेका रक्तवेशा चलमूर्धजा ऽश्वमारूढा ऽनुहरिणमश्वं धावयति ।

कमलाऽऽखेटनिपुणाऽऽसीत् । सा तस्मिन् सान्ध्ये सुभगसमये मनोविनोदाय प्ररूढोत्कण्ठा सपद्याखेटवेशमायोज्य स्वीयमश्वमारुह्य तामन्वेव प्रस्थिता । सा ऽपरपथेन हरिणमनुसृत्य पूर्वमेव हन्तुमना द्रुतगत्याऽश्वञ्चालयामास । मनोरमापि तामेकाकिनीं गच्छन्तीं दृष्ट्वाऽपराश्वमारुह्यानुससार । कमलैच्छद् यत् परपथेन पूर्वं गत्वा हरिणं निहत्यैनां लज्जयिष्यामि, परन्तु मार्गान्तरगमनेन समयोव्यतीतः । हरिणं प्राप्य साऽपश्यद् यत् स जीवन्नेवाप्तुं शक्यते । कमला शरं शरासन आयोज्य सपद्येव शिशुं लक्ष्यीकृत्य विससर्ज । परन्तु लक्ष्यं चलमासीत् । बाणो हरिणापहर्त्तृ रङ्गदमाहत्य पतितः । कमलाऽपश्यद् यद् यं सा स्त्रियममन्यत स पुरुषोऽस्ति । सचेषच्छिन्नं बाहुं करप्रोञ्छनेनाबध्य कमलां दृष्टचरां ज्ञात्वा प्रतिशोधमनिच्छन्नपि तस्या वीरताभिमानं नमयन्नश्वखुरे लघीयासं बाणं प्राक्षिपत् । अश्वश्चामुनाऽऽघातेन तथोच्छलितोयथा कमला पश्चाङ्गैर्भूमिमालिङ्गयामास । सच सत्वरं कमला-मुत्थाप्यैकस्मिन् शिलाफलके विश्रमयितुमानीय विवक्षति तावदेव लब्धचेतनो-वाच :—

"आः ! त्वमसि वीर ! अस्माकं सिंहात्त्राताऽनाशंसितपुरस्कारः........... अस्मान् वञ्चयितुं स्त्रीवेशमिवाधायाऽत्र भ्रमसि"

"नात्रवञ्चना, आज्ञापय तव कामर्चनाञ्चरामः। पिपासिताचेज्जलमानयामः, बुभुक्षिता चेत् फलान्याहरामः। क्लेशिता चेत् क्लेशमपनयामः। मन्ये कापि देवी त्वं भुवि भ्रमणायावतीर्णा।"

"कस्त्वं पौनःपुन्येनैषु दिनेष्वितोऽवलोक्यसे ?"

"देवि ! नाहमस्म्येतद्देशीयः। द्वित्रैः सप्ताहैः घुणाक्षरन्यायेनेतः समागतोऽस्मि, निवसामि च पार्श्वे श्रीसिद्धेश्वरदेवस्याश्रमे। मनोविनोदाय कदाचन विमलपुरं यामि। वात्सल्यपूर्णेन देवेन सहयोगी हरिणशिशुरयं मह्यं प्रदत्तः। मार्ग एव श्रीमत्या भवनं विद्यतेऽतः श्रीमत्या दर्शनं द्वित्रिर्जातम्। यदि कापि त्रुटिश्चेत् क्षन्तव्योऽहं नवीनः। अधुना देवस्य सन्ध्यावेला विद्यते, चपलोऽयं हरिणशिशुरितस्ततो व्रजति, अतएनमप्यश्व उपवेश्य शीघ्रं यास्यामीतिबुद्ध्याऽहमेनं ग्रहीतुकाम आसं परं श्रीमत्या बाणेन व्याघातः कृतः। अधुनाहं श्रीमतीं प्रसाद्यानुचिताचरणाय यामि"

स च हरिणशिशुना सहैवाश्वमारुह्योत्तरमप्रतीक्षमाणो यथा प्रचलितस्तथैव मनोरमोपेता। कमला चान्वश्ववारं पश्यन्ती स्तब्धेव तस्थौ।

"कमले, स्पष्टं कथय युवयोर्व्यवहारेण किमपि ज्ञातुमनुमातुं च शक्यते" मनोरमयोचे। कोयं मनुष्यमात्रनिषिद्धमङ्गनोपवनप्रान्तं निश्शङ्कमध्यास्ते। अनङ्ग ? विचित्रोऽसि, अङ्गीव वैलक्षण्यमापादयसि, त्वं यदि देही स्यास्त्वत्कर्म कोऽनुमातुं शक्नुयात्। प्रातर्विवाहवार्त्तयैवार्त्ता सखीः समवारुधत् सैव कमला धैर्यघस्मरेण स्मरेण लक्ष्यीकृता ? स्मर ? स्मर्तव्यः कृतोऽपि पुरभिदाऽशेषे जागर्षि जगति।

हर्षेऽपि विषं भवति सौन्दर्येऽपि गरलम्। तव दर्शनसमकालमेव यूनोऽस्य प्रवचनचातुरी भग्ना, कठोरं मनः सुन्दरीदर्शनेन द्रुतम्। तोभस्तोमसहमपि वपुर्वेपते स्म। करिकरकठोरोऽपि करोऽकम्पत कदलीदलमिव। य उत्कूर्दमानं केशरिकिशोरमपि भूमिशायिनं व्यधित स त्वां प्रेक्ष्य स्खलद्गात्रः सञ्जातः। येन कदापि गजेन्द्रकुम्भविदारिणो हरेः पृष्ठमप्रणाश्य न मुक्तं स एवाद्य स्वेदस्नातस्त्वापराधमविगणय्य त्वामेव क्षमामभिक्षत।

जाने विलक्षणोऽयं स्मरस्तस्य लीला च। अस्यैव कृपया मोहिता दत्याः सुधां विहाय मद्यं पपुः, भगवान् विष्णुरपि तुलसीप्रेमपिपासुश्छलं रचयामास, कृष्णोऽपि राधा-पादाराधनाच्चिरं विदधे, मोहिनीमत्तश्शिवोऽपि विष्णुश्चिरश्चिखेद, परन्त्वज्ञातकुलस्वभावे नवीनेऽस्मिन् यूनि त्वदीयो भावोऽनुचिताचारतां प्रकटयति। कमले! क लीना सि!!" सा चानुत्तरन्त्यश्वमारुरोह।

* * *

"अमात्य! कमलाऽनानन्दितचित्ता, शून्यमानसेव सालसगमना, शङ्कितहृदयेव प्रक्षिप्तनेत्रा, कोणे पश्यन्तीवालब्धनिद्रेवान्यमनस्केव वर्त्तते। केयं दशा पुत्र्याः। परिणयस्यावस्थोपस्थिता। यश्चैतस्यै स्थिरीकृतो वरः सोऽपि न लब्धः। मत्समीपं नाधिकं तिष्ठति, प्रातःकालिकं वन्दनं विधाय भीतेवापसर्पति। ह्यस्तु कमलाऽऽयातैव नहि, श्रुतं तस्याः शिरोर्त्तिर्विद्यते। किं करणीयम्। खिन्नोऽस्मि" उच्छ्वसता राज्ञोचे।

अमात्य०—"नहि देव, शान्तं पापम्। जाने विनयशालिनीं तपस्विनीं मुग्धां कमलाम्। वयःस्वभावोऽयम्। यदि कश्चन व्याधिः, सम्बन्धेऽस्मिन् सर्वं विमृश्य सूचयिष्यामि"।

* * *

अद्य विमलपुरसंसरणं पुनः पताकाभिरवीज्यत। पुनः सैनिकावलिर्जनाँश्चकितयामास। पुनर्नारीनेत्राणि वातायनेभ्यो बहिर्निपेतुः। पुनरुत्सवकोलाहलो दिगन्तान्मुखरयामास। पुनर्बकुलगन्धो भ्रमरानभ्रामयत्। पुनर्वाद्यानां तडतडता जगतो नीरवतां बभञ्ज।

अपराह्णकालः। राज्ञोरामपालस्य सभाद्य जनसमुदयेन व्याप्ता वर्त्तते। राजकुमारेण द्वन्द्वयुद्धे सिंहो हतः, बालोत्साहवर्द्धन उत्सवः। अस्मिन्नेवोत्सवे धानुष्काणां परीक्षायै त्रिवर्त्तिक एकोदीपः प्रज्वलयिष्यते। यः कोऽपि धानुष्को मध्यमां वर्त्तिकामपहरिष्यति, अनिर्वापयन्नुभे स सविशेषं पुरस्करिष्यते।

अथोच्चैः स्वर्णसिंहासनासीने राज्ञि, दक्षिणतश्च पीठस्थिते राजकुमारे, राजकुमार्यां कमलायां, परितश्च यथा स्थानं स्थितेषु मान्येषु समुपस्थितेषु च बहुषु धानुष्केषु, द्वाःस्थः प्रविश्य त्रिर्जयं व्याहृत्य "कश्चित्स्वस्य धानुष्कतां ख्यापयन् द्वारदेशे तिष्ठति, अग्रे देवः प्रमाण" मित्याह।

"प्रवेशय"—दत्ताज्ञे महीपतौ प्राविशदेको युवा।

युवासौ महाजनकीर्त्तिपुञ्जोद्धूताखिलाङ्ग इव तेजस्वी, सुरभिचिक्कणैः कुञ्चितकृष्णैर्लोलविलम्बिभिः कचैर्निचितशिरस्कः कटिलम्बमानद्विधारः सिंह इव निर्भीकः परमरमणीयोऽस्ति। यस्य प्रलम्बस्वर्णपट्टाष्टमीचन्द्रशकलानुकारी, ललाटपट्टः, पर्यस्तालकं मेघच्छन्नकुमुदबान्धवबन्धुरं मुखं, ईषदुन्मिषच्छ्मश्रुरुत्तरोष्ठः, विस्तृते कर्णे, मांसलोन्नता ग्रीवा नासाच, विद्रुमारक्तोऽधरो मांसलौस्कन्धौ, परिणाहि पीनमुरः, कृशमुदरं करिकराघातसहं सक्थियुगलं महत्तां सूचयन्ति। सभासद्भिः शृङ्गारवीररसविनिर्मितावयवः स सप्रेम प्रैक्षि। राज्ञोऽपि परमरम्येऽस्मिन् यूनि स्पृहावती निपपात दृष्टिः। अभूच्च तयोरालापः—

महाराज :—वीरवर! कुतः समागमनम्?

युवा—देव, सुदूरमस्मन्नगरं राजपुरम्। घुणाक्षरन्यायेनेतः समागतोऽस्मि। अद्य धानुष्काणां परीक्षायोजनस्य प्रत्यक्षानन्दानुभूत्यै समागतोऽस्मि।

महा०—किन्ते नाम!

युवा—देव! शशधरः।

महा०—समासादितं पाटवं कस्मिन्नपि कार्ये?

युवा—आं महाराज।

महा०—केषु केषु?

शश०—प्रायशः सर्वेषु

महा०—का जातिरलङ्क्रियते सर्वज्ञेन!

शश०—(किञ्चिल्लज्जित इव) देव क्षत्रियोऽस्मि।

महा०—(आसनं निर्दिशन्) उपविश।

समये धानुष्काणां परीक्षा प्रारब्धा। पश्चाशद्धस्तानन्तरं दीप एकः प्रज्वलित आसीत्, यस्मिँस्तिस्रो वर्त्तिका अङ्गुल्यनन्तरं प्रज्वलन्त्य आसन्। योद्धार उत्थिताः। केचन बाणवेगेन वर्त्तित्रयमेव निर्वापयामासुः। एकस्तु दीपमेव पर्यवर्त्तयत। पुनरपरो दीप आयोजितः। पुनरेको यशोऽर्थी शरमसाधयत्, परन्तु वर्त्तित्रयमेव स नीतवान् निरवापयच्च सर्वाः।

महाराज इङ्गितेन शशधरमसूचयत्। धानुष्कै सेर्ष्यं साकूतं वीक्षित एष लघीयसा हस्तेन शरासनमाकृष्य शरं व्यसृजन्निरवापयच्च मध्यमां वर्त्तिकाम्।

महा०—धन्यो धन्यः। नितरां प्रसीदामि। युवासौ विलक्षणो विचक्षणः। शशधर! नियुक्तस्त्वमद्य भृत्यः। सभाभवने तवोपस्थितिः प्रतिदिनमवश्यम्भवेत्। कोशाध्यक्ष प्रतिदिनमस्मै शतं मुद्राः प्रदेयाः, अद्य पुरस्कारभूताः स्वर्णस्य सहस्रमुद्राश्च।

"देवस्याऽऽज्ञयाऽहमपि किञ्चिद् विवक्षामि तुष्यतु देवः"—उत्थाय राजकुमार्योचे।

महाराजः—आम् आम्।

कमला०—श्रीमते पूर्वमेव निवेदितवत्यस्मि यदहमेकदा प्रातरेवोपवनं गता पञ्चानन-प्रेक्षिता त्राणाय साहाय्यमयाचिषि, तदाऽयमेव युवा कुतोऽप्यागत्य मामरक्षयत्, अदत्त-परिचयः पुरस्कारानभिलाषः साधुवादमप्यगृहीत्वाऽपसृतः। स एवायमद्य धानुष्क-परीक्षायां प्रथममायातः सविशेषमस्मामिर्मन्तव्यः। श्रीमतामाज्ञयाऽहमस्मै ग्राम-पञ्चकं पुरस्करोमि, प्रार्थये च यदयमेव वीरो मद्भवनस्य प्रधानव्यवस्थापको भवेत्।

महा०—अह मनुमोदयामि। भवनस्य द्वारशाला शशधरस्यावासःस्यात्।

* * *

"कमले, केयं दशा, क्वापि शान्तिं न लभसे। सर्वं दिनं सर्वां विभावरीञ्च विचार एव व्यतियापयसि। सावधानं न शृणोषि, उत्कण्ठितेव दरीदृश्यसे। आकारैः कम-प्यालपसि हससि, उपालभसइव। प्रातः सखीभिः कथं कथमप्युत्साहिता ताभ्यः संवृत-वृत्तेव "कोलाहलं श्रोतुं नोत्सहेते श्रोत्रे एकाकिन्येव यास्याम्युपवनमिति" व्याजेनेवो पवनमुपैषि। प्रतिक्षणं विचारपयोनिधौ निमग्नेव प्रेक्ष्यसे। कौशिकीव सूर्यातपाद् बिभेषि चन्द्रिकाचयात्। सुसमये भृशं दूयसे। सानुनयं निषिद्धापि दिवा स्वपिषि, स्वप्ने हससि, अस्पष्टाक्षरं किमपि वक्षि भित्तिचित्रैः किमप्यालपसि। रात्रौ भ्रमन्ती तारागणयन्ती किमपि प्रलपसि। सलज्जेव दृश्यते कपोलपाली, शुष्को बिम्बाधरो मद्यपानालसेव तनुलताऽङ्गेषु गौरवम्। स्पष्टं निरूपय केयं स्थितिः"।

कमला—नहि नहि। भ्रमाभिभूतासि मनोरमे, ऋतुपरिवर्त्तनजन्येयमस्वस्थता, नान्यः को विशेषः।

मनो०—जाने, अहं श्रीमत्याः सहचर्यस्मि। शैशवत एव भवत्याः मनोदशां

मनोऽन्यथाञ्च सम्यग् वुध्ये। नेदृगृतुपरिवर्त्तनं कदाप्यनुभूतम्, विश्रब्धं सूचय यथाशक्यं यतिष्ये। अहमप्यभिन्नप्राणा एव। सूचय किमस्मिन् यूनि तव विशिष्टा स्पृहा ?

कम०—जाने नहि का स्पृहा नाम! किन्त्वेका मधुराऽनभिव्यक्ता श्रद्धेव तस्मिन् मम वर्त्तते। गतदिनेऽहमुपवनं गता दीर्घिकायास्तटे शिलातलमुपविष्टा किमपि विचारयन्त्यासम्। पार्श्व एव मदीयः प्रियः सहचरो हरिणशिशुरप्यासीत्। अहं शिशुना मनो विनोदयन्ती जगज्जालेन विक्षुब्धं मानसं सान्त्वयन्ती कदाचन तं हस्तेन परामृशन्ती, रोमराजिं निपुणमीक्षमाणा, दाडिमीबीजाभां तस्य दन्तपंक्तिं गणयन्त्यासम्। मन्दं मन्दं मारुतोऽयतेस्म। सान्ध्यगगनस्य लोहित्यं दीर्घिकायां सिन्दूरद्रवस्य भ्रममुत्पादयति स्म, पवनप्रेरितेषु तरङ्गेषु शिशोः प्रतिमूर्त्तिरनुपमेयां कान्तिं प्रकटयतिस्म। नितरां चञ्चल आसीद्धरिणशिशुः विचित्रा च ममावस्था। अहं दीर्घिकाजलेन प्रसृतिमापूर्य हरिणशिशवे पाययितुं प्रवृत्ता। अकस्मादेव मम दृष्टिः सम्मुखीनसान्ध्यशकुनिकलरवं प्रति प्रवृत्ता, एवञ्चास्मात् प्रसृतिरपि विदूरीभूता। शिशुश्चायं केवलं प्रसृतिदृष्टिर्यावदग्रे प्रासरत्, तावदेव स्खलितचरणो गृहीतोदीर्घिकया। शिशोस्तरणशक्तिदुर्वलाऽऽसीद् वापीभित्तिश्च बहिरयने बाधिका, स क्षणेन खिन्नोऽभवत्। अहं म्रियमाणं तं नावलोकयितुमशकम्। जलतरणशिक्षाधिगतसाहसा, प्राणिप्राणनेच्छया वाप्यां निपत्य शिक्षासम्पादितपाटवा विविधैः प्रकारैर्जलमवाघाक्षि। एषुदिनेषु मम स्वास्थ्यमुत्साहो मनःस्थितिश्च न शोभना, वस्त्राणि च विशृङ्खलान्यासन्। परं तथाप्यहं शिशुमग्रहीषं किन्तु चञ्चलोभीतः सन्त्रस्तः स सपद्येव ममहस्तान्निःसृतः। एतेषु दिवसेष्वहं जले विहरन्ती नासम्। स्वल्पेनैव समयेन श्रान्ता। आर्द्राशाटी मां पाशवद्भान्त्सीत्। एका ईदृगवस्था कथमस्यां सुदीर्घायां दीर्घिकायां पारमाप्स्यामीति विचार्य मम मनो धैर्यमजहात्। मम जीवनाशा महता बलेन "त्रात, त्रात !! निमज्जामि, निमज्जामि" इत्यवोचत्।

अघटनीयघटनापटीयसः पाटवं [1]खाटपाटस्य को जानीते। विश्वेश्वरो यमवति तस्य कृपापूर्णा दृष्टिर्यं दयते तस्य नास्ति क्वापि भीतिलेशोऽपि। तदायमेव युवा

---

१ खे अटन्तीति खाटाः पक्षिणस्तान् पातीति खाटपो गरुडस्तेनाटति यः सः।

भगवत्प्रेरित इव झटित्यागत्य मां हरिणश्च कूलमानीय, तार्णपार्णस्याग्नेः प्रबन्धं विधाय मामुद्बोधितवान्। राङ्कवास्तृते इव मृदुले दूर्वातले मूलच्छिन्ना कदलीवाहं प्रसुताऽऽसम्। मृगशिशुरपि लब्धबोधोऽन्तेवासीव पार्श्वे आसीत्।

वह्निना व्यजनेन द्विजकलरवैश्चोन्मीलितनयनाहं श्रमस्वेदबिन्दुव्रातविषण्णमुख, मलकाकुलमूर्धानं प्रेक्ष्यामुं युवानमुत्थातुमनाः "भगवति, अस्वस्थानि तेऽङ्गानि कियत्कालमाश्वास्योत्थास्यसि"—इत्युक्ता कियत्कालं विश्रम्यावासं प्रतिनिवृत्ता। सोऽयं सखि, महानुभावो मधुरमधुरमालपन्, दयनशतैः समये दयमान आभारिणीं कृतवानस्ति। भारतीया संस्कृतिर्जीवनदात्रे जीवनदानेनाप्यानृण्यमासादयितुं मां प्रेरयति। अहं त्वां नियोजयामि यदस्य पूर्णः परिचयः प्राप्तव्यः।

* * *

"तपस्विनी तरुणी कामकेलिष्वलब्धवैदग्ध्या मुग्धा, मृणालविशदप्रभा सजीवेव मणि पुत्रिका अभूषिततनुलता, वामकरतलविन्यस्तकपोलपालीका अनधिगतनिद्रातन्द्रा रहस्तल्प-माश्रित्य किमपि विचारयन्ती मध्ये मध्ये उत्थाय गवाक्षतो द्वारतो नभस्तः कमपि गवेषयन्ती वर्त्तते कमला। अहह केयं दशा राजकुमार्याः"—उद्यानपालिकया चिन्तितम्।

"हन्त, अहमेवास्या दशायाः करणे मुख्यास्मि। कमलाया विगीतौ वचनीयता-याश्चाहमेव प्रधानं निदानमस्मि। हन्त! मृतास्मि। पापपिठरस्य सन्निकटमवसानम्।"

"इतश्च पश्यामि शशधरस्य दशामपि। स च सर्वाण्यहानि यामिनीश्च नेत्रयो-र्मध्यतएव व्यतिगमयति; तस्य लक्ष्यच्युतमिव चेतः क्वापि स्थायि नास्ति। सर्वं दिनमभ्युद्यानमेव यापयति। निकुञ्जेषु वासः, अनिमिषदर्शनं, अनारतं विचारः अधरे तर्जनी, मनस्याशाभवनानि, तारासंख्यानमित्येतस्या इव तस्यापि दिनचर्या रात्रिचर्या चास्ति।"

* * *

गतश्चक्षुर्जगतोऽस्तम्। क्षणेन क्षणदा क्रोधात्परतः क्षमेव समाजगाम। क्षपा-प्रादुर्भाववार्त्तामिव विदधुः फलनाशकुन्ताः शकुन्ताः। क्षितिः क्षणं सान्ध्यं विधिं विधातुं मौनमिव दधौ। प्रदोषः पूर्वरात्रो मध्यरात्रो निशीथः प्रहरिण इव स्वं स्वं कार्यमशून्यमकुर्वन्। निद्रादेव्याः साम्राज्यमेधाञ्चक्रे। मक्षिकापक्षध्वनिमाकर्ण्योर्ध्वकर्णा,

भ्रमद्भ्रमरगुञ्जनमपि विभाव्य विक्षिप्तनयना वृत्तिभुजः प्रहरिणोऽपि तन्द्राभिभूतकाया मध्येमन्दनिद्रं श्लिष्टभित्तयः पतन्तो जागरणं लभन्ते।

परितो रम्यपुष्पवाटिकं विशालमदो भवनम्। द्विपदशननिर्मितविचित्रचित्रकवाटानि शोभन्त आवासभवनानि। अभिभित्ति स्वर्णपरिवरणानि, भित्तिप्रतिष्ठितद्विपदन्तपीठ-प्रतिष्ठितानिः महान्त उत्तेजसो भूयांसो मुकुराः, उपर्यसितश्येतशोणितहरितानि काचभाण्डानि वल्ल्यौ विटपाः शोभां संवर्द्धयन्तोऽवलम्बन्ते। येष्वगुरुघनसारवृत्तयो दीपाः सौरभेन सह प्रकाशन्ते। अभितो भवनं देवानां, अनुकरणीयचरितानां प्रतापप्रभृतीनां राज्ञां सजीवानीव चेतोहराणि चित्राणि। मणिमयमुष्टिकाष्वलमारीषु विस्मृताच्छादनानि सुगन्धिद्रव्याणि घ्राणंतर्पयन्ति। नागदन्तेषु शुकपिकसारसानां सौवर्णानि गृहाणि निपतत्सुधामयूखमयूखै राजतानीव प्रेक्ष्यन्ते।

अथ पवनपथपार्श्वप्रसुप्तां, उन्मुखमयूखजितचन्द्रेणेव द्विरददशनेन निर्मितचतुष्पादे गगनापगापयःफेनपटलायितप्रशस्ततूले, चित्रितकौशेयोत्तरच्छदे सौपवर्हे, पद्मामिव पुण्डरीक-पटले, वरटामिव हंसपक्षतौ पल्यङ्काङ्के शयानां ददर्श कमलाम्। कमलामुखचन्द्र तन्मुखसुषमां निपीय नृत्यन्ती चन्द्रिकाऽपूर्वां छविं चित्रयते स्म। मुकुरेषु कमलाप्रतिकृतिः प्रकृतिं विकुरुते स्म। रक्ता कौशेयी शाटी तस्या अङ्गमाश्लिष्य सुप्ताऽऽसीत्। सूक्ष्मेण पादध्वनिनोन्निद्रिता न्यक्कृतामरकामिनी कमलोत्थाय सण-सणायमानभूषणं स्पृष्ट्वा करेण प्रियसखीं प्रियोदन्तप्राप्तिप्रहर्षरुद्धकण्ठा वक्तुमसमर्था सुधाविनिन्दकेन स्मितेन पूजयन्ती, मृणालकोमलाभ्यांकराभ्यामाकृष्याऽऽसन्दीं तत्रोपवेशयन्ती भित्तिमञ्जूषातः सौवर्णीं पेटिकामेकां निःसार्य तत्र धृतानां पूगानां शंकुलया शकलानि विधाय एलागुरुपत्रजसुधा-शतपुष्पाकेशरमृगमदसहितं विरचय्य नागवल्लीदलं वीटिकां स्वहस्तेन ददती "कथय मनोरमे! क उदन्तः" धीरतां विहायावोचत्।

"धैर्यमाधत्स्व सर्वं सूचयामि"—

इतः समायाते शशधरेऽहमेकदा तस्य वासस्थानं भूतावासमगच्छम्। मया द्वित्रैर्दिन-निर्णीतं यच्छशधरः कदाचन सिद्धेश्वराश्रमे बहुशश्च भूतावासे स्वपिति। स्थान-न्त्विदं रमणीयं परं वासाभावाद् विरूपतां प्राप्तमासीत्। धूलिप्राचुर्यात् पदपंक्तिः स्पष्टमव-लोक्यतेस्म। अहं सोपानेन द्वितीयभूमौ गत्वा एकमावासञ्चोद्घाट्याद्राक्षम्। एकस्मिन्

लोहमञ्च द्वित्राणि पुस्तकानि दैनन्दिनी, समाचारपत्रं मसीपात्रं लेखनी चासीदेकस्मिन् कोणे च शयनस्य व्यवस्था। अहं क्षणेनैव सर्वं वीक्ष्य दैनन्दिनीमादायापठम्। सैषा दैनन्दिनी मासचतुष्टयेनारब्धाऽऽसीत्। स्पष्टं प्रतीयतेस्म यल्लेखकेन मासद्वयस्यवृत्तमेकस्मिन् दिनएव लिखितम्। इतरमासद्वयस्य च वृत्तं प्रतिदिनं विस्तरशोलिखितमासीत्तस्य सारोऽस्ति यदसौ राजनगरस्य राज्ञोनवेन्दोः पुत्रश्चन्द्रोऽस्ति, रोऽस्ति यौवराज्याभिषेकदिन आखेटार्थं सिंहपृष्ठानुगामिनः सहायभ्रष्टस्यास्य नद्यां पातोजातः। दिनत्रयानन्तरं चायं नद्योह्यमानः सिद्धेश्वरेण निष्कासित उपचरितश्च। अत्र लेखकेन सर्वातिशायिनी श्रद्धा सिद्धेश्वरे प्रकटिता। उल्लाघेन विमलपुरेक्षणाय समागतेनामुना सिंहात्तव रक्षा कृता। अत्र लेखकेन त्वयि शब्दसौष्ठवं प्रयुक्तम्। धानुष्कपरीक्षायां समुत्तीर्णतानन्तरं प्रतिदिनमनेन दैनन्दिनी लिखितेति "अद्य" "अद्य" शब्दैः प्रतीयते। एकं प्रतिज्ञापत्रमपि महाराजहस्ताक्षरैरङ्कितं तत्रैवासीद् यस्मिँश्चन्द्रेण सह तव विवाहस्य पण आसीत्। एषु पत्रेषु लेखकेन स्वस्या विपत्तेर्विशदं सजीवं विवरणमलेखि येन मम लोचनयोर्वर्षर्त्तुराविरभूत्। अनुकूलग्राहि तव हृदयं विचार्य मम मन आनन्देन पूर्णम्। उत्कण्ठास्थानं धैर्येण धृतम्। आशया स्वर्गसुखान्यनुभूतानि कम्पता करेण मया तत्रैव पुस्तकं न्यधायि। सोऽयं, यस्य त्वं दर्शनात् प्रागेव भूरिभूरि प्रशंसामाकर्णितवती, यस्य च वीरतां लाघवञ्च बहुशः प्रेक्षितवती, देवेन तव पाणिर्यस्य कमलकमनीये करिकरकठोरे करे दातुं स्थिरीकृतोऽस्ति, यस्य च चरणयोराराजजीवनसर्वस्वं निधाय तत्खेदस्वेदविन्दुवृन्दविदलनस्पृहा तच्चरणरेणुजिघृक्षा च त्वां चपलयति स्म, यमुद्दिश्याज्ञातप्रवेशोऽयं स्मरोऽसूर्यम्पश्यां त्वां विकरोति, स शुद्धमानसपरिचितस्ते भावी भर्त्ता चन्द्र एव शशधरोस्ति" इति।

प्रेमाश्रूणि स्रावयन्ती वाष्पावरुद्धकण्ठा कमला च तां सप्रेम आलिलिङ्ग।

* * *

ऋतुरयं वसन्तः होलिकोत्सवश्च। स्वच्छंनीलमम्बरम्। नातिशीतोष्णो वातस्तनुं सुखयति। उडवो महता प्रयासेन जगत्तमोऽपहन्तुं प्रयतन्ते। राजेवाकृतकार्यान् विज्ञाय सैनिकान् धृतकाश्मीरवर्णवेशोऽशेषन्तमोऽपहन्तुमुपस्थितश्चन्द्रः। राजतैर्बाणैरिव किरणैर्हेलया नाशितन्तमः। विचकास तेन मनोमोदयता विजयेन धन्यवादमिव वितरद्धसदिव

सर्वञ्जगत्। विजयपटहध्वानमिव चक्रुर्नवोढा वलयनूपुरमणिमञ्जीरशिञ्जितम्। निशान्तेषु प्रसुप्तकान्तावसनध्वजच्छलेन भुवने विस्तारयामासेव विजयं वायुः।

अद्यतनेषु दिनेषु सर्वत्र भङ्गाभवान्या सप्रेम पूजनम्। साहि परूषकवेल्लजवाताद-द्राक्षाखाखसबीजपञ्चकवकुलदलमिश्रा मिश्रेयदुग्धसिताङ्गसङ्गिनी, अङ्गिनां साङ्गमामोद-विनोदं नोदयति। सम्प्रत्यहिफेन आद्रियते आसव आसूयते, निकुञ्जेषु गञ्जाया अनिभृतां सेवा। गुलालस्य कथैवका, याया वोथिरवलोक्यते गुलालरचितेवाभाति। आरक्तवासस्तया स्त्रीनिर्विशेषं पुरुषा विदूरतो वीक्ष्यन्ते। बहुविधरागपूर्णैर्निर्झरैर्[1] जना जगदेव रञ्जयन्ति। वराकानां गदर्भानामद्यत्वे गरीयसो दुःखस्य समय उपस्थितः। एते यत्र क्वापि भ्रष्ट-कूपनिपाने निपतितगृहकोणे, श्मशानगृहे वाऽऽत्मानं तिरोभावयन्ति तत्रैवैते नागरिका दुर्बाला एतेषां वराकाणां पृष्ठं न शून्यं कुर्वते। ताड्यमाना धाव्यमाना रेङ्कारशब्देनान्यान् सहयोगिनः सूचयन्त इव व्यथां प्रकटयन्त इत्राभितः प्रेक्ष्यन्ते। अश्लीलशब्दैरुन्मुक्तमुख-मानन्दसाम्राज्यमनुभूयते।

एकतो मनुष्या महता चर्मनद्धेन ढक्केन सहोहोकारं कायन्ति, इतरतश्च कामिन्यः सवलयसणत्कारं तारं गायन्ति। एकतो युवानो मध्यधृतमुरजा वर्त्तुलन्यासेन स्थिता दण्डखण्डेन दण्डखण्डं वादयन्तो गां दडदडायन्ते। अन्यतश्च वधूट्यो यौवनच्छटां वचसा, वाससा, निरीक्षणै, भूषणैश्चलनेन, गमनेन, हावै, हसिनोद्वमन्त्यः खेलायन्ति। क्वचन काश्मीरागुरुपूर्णा मुष्टिरामृश्यते क्वचन भस्मगोमयगोमूत्राणि निषिच्यन्ते। प्रतीयते संवत्सरसञ्चितां पाशवप्रवृत्तिं पुमानशेषेण प्रमार्ष्टुं सज्जते।

विविधकल्पा सविमाना सासवा सभस्मचूर्णा चरकसंहितेव बभौ होलिका। सुश्रुता वाग्भटेन केनाप्यनुत्तरेण नावतस्थे।

नन्दनविनन्दकेन, पादपातितचैत्ररथपरिमलेन सकलसंसारसुगन्धसारसृतेनेव कान्य-कुब्जोद्भवेन जितेन्द्रियाणामपि घ्राणमाकर्षयता, सुरभिलोलुपमिलिन्दवृन्दविहितपिधानेन निर्हारिणा द्रवेण पूरिता होलिकोत्सवाय परिकमलाभवनं स्थापिताः शुभ्रमणिखचिता नील-दृषन्निर्मिता तारकितमिवनभोऽनुकुर्वत्यः स्नानजलकुण्डिका विशेषतो भवनं भासयन्ति। समयेऽस्मिन्नविगणय्य कमलिनीसङ्कोचशोकं रोलम्बकदम्बेनारब्धा झंकृतिरनुसुगन्धि-

[1] पिचकारा।

द्रवम्। आमोदिना तेन दिशः प्रसेदुः। जन्मभूरिव सौरभस्य प्रभवमिव पद्मिन्याः कमलाभवनमवर्त्तत।

अथ क्षिपतमोदतायां खलतकूर्दतायां रुदितहसतायां क्रमशः शान्तायां सर्वदिनव्यग्रेषु शय्यापातं सुप्तेषु निखिलेष्वेका नीरवता परितः प्रासार्षीत्।

मनोरमा हर्म्यस्य कोणं कोणं साशङ्कं पश्यन्ती गतोपक्रमलम्। सा च सत्वरमुत्थाय कुचभरमन्थराऽऽक्रम्यमाणेव विपुलेन जघनस्थलेन मन्दोदरी पस्पर्श पाणिं सस्मितं कुवलयारुणेन कराग्रेण।

एकस्यां भित्तिमञ्जूषायां काचमुष्टयो निर्भरा आसन्। मनोरमयाऽऽकृष्य जलेनापूरि। इतः कमलयापि। उभयतो जलशरा निरगच्छन्। दास्योऽपि जलसरणस्रणत्कारं श्रुत्वेतस्ततो निःसृत्य तस्मिन् महोत्सवे शतगुणितोत्साहेन संयुक्ताः। चिरं केलि र्बभूव। तेनामुना सपरिमलजलसेकेन जगदेव परिमलितं प्रतीयते स्म।

शशधरः कार्यं समाप्य कमलाभवनतो विस्मृतात्मेव विचारमग्नोऽधोनेत्रः सत्वरं सत्वरं गच्छन्नासीत्। प्रासादस्य मसृणस्फटिककुट्टिमस्य मसृणतां द्विगुणयत् सुगन्धिजलं प्रसृतमासीत् यस्मिन् स्खलन् कृच्छ्रेण स्थितिं निवारितवान्, किन्तु सखीनामट्टहासेन तस्य विचारसरणिश्छिन्ना। एका सखी सव्यङ्गमाह—"लीलयैव सिंहहन्तारोऽद्य जलक्लेदेन विक्लवतां यान्ति" अपरा च "दूरस्थोऽयं वराकोऽवश्यमद्य होलोत्सवे स्मृतप्रिय उन्मनायते मङ्गलशंसनाय अभिषेच्योऽय"मिति कथयन्ती जलनिर्गमं व्यरचत्। समकालमेव शतशोधारास्तमभ्यषिञ्चन्। क्षणेनैव क्लेदो द्विगुणितः। इतस्त्रिविक्रमभट्ट इव श्लेषपट्टश्चन्द्रोऽपि नितरां श्लिष्टपट एवासीत्। क्षणं सम्मुह्य झटिति निःसर्त्तुकामः सर्वा वीक्ष्य स्मयमानः सत्वरसत्वरं प्रचलितः।

किन्तु मनोरमा तं पप्रच्छ। क्षणानन्तरं कमलापि विद्युदिव भासमाना सुगन्धेन विश्वं विमोहयन्ती तस्य पथ्युपस्थिता।

"श्रीमतां कार्यावधिस्तु चतुर्वादनपर्यन्तमेवास्ति, कथमद्य विलम्बः।"

"श्वोऽहं यास्यामीति महाराजेन साकं वार्तायां भविष्यत्कार्यक्रमव्यवस्थापनेचविलम्बोजातः।"

"श्रीमान् यास्यति, मद्भवनस्य व्यवस्थापको मामसूचयित्वा यियासति, महदाश्चर्यम्"—चिन्ताक्रोधारक्तनयनया कमलयोचे।

"देवस्य यथा देव्या अप्ययं मानकृत्। देवेनोक्तं यदहं कमलां सूचयिष्यामि, आवश्यके कार्ये विलम्बं मा कृथाः।"

"हुँ, अहमपि शुश्रूषे इदमावश्यकं कार्यम्, नो चेद्धानिः।"

"किन्तु"—इतस्ततो वीक्ष्य चन्द्रेणोचे।

कमला—(परितःप्रेक्ष्य) एकान्तम्।

शशधरः—(सर्वासु गतासु) अद्य चरेण समदेशि यद् राजेन्द्रपालो विमलपुरविरुद्ध मेकं महत् षड्यन्त्रं महतीं सेनाञ्च सज्जयति। प्रबलः पराक्रमशालिसेनश्चायंराजा। स यद्याक्रंस्यति, निश्चितं सुन्दरतमस्य कलालयस्य विमलपुरस्य विनाशः, सम्भाव्यते पराजयश्च। तत्र देवस्येच्छा वर्त्तते यत्कोऽपि वीरवरस्तत्र गत्वा रहस्यमुद्भेद्य तत्रैव कार्यं विघटयेत्। सम्भाव्येत चेत्तत्रैव युद्ध्येत च। कार्यायामुष्मै अद्यैका सभाऽभूत्। प्रस्तावे प्रस्तुते न कोऽप्यग्रेसरो बभूव। महाराजो मयि चक्षुः प्राक्षिपत्। अहं समुत्थाय समाद्रियमाणः सर्वान् प्रतिज्ञातवान् यत् श्रीमतामाशिषा कार्यं साधयित्वा प्रतिनिवर्त्स्ये।"

कमला—(साश्रुनयनेव) नहि नहि, राजेन्द्रो मायावी दुष्टश्च। तत्र गमनेन मामकीनं मनो विक्लवतां भजते तत्र गन्तुं नाहमनुमोदयिष्यामि। इतः समायातेन पितरौ सर्वथा विस्मृतौ, अधुनाऽवश्यन्तौ क्लिश्यन्तौ स्तः। मुधैव समयं व्यतियापयसि। यदि हृदये स्वल्पीयस्यपि पितृभक्तिरवश्यं पूर्वमिदमेव कर्त्तव्यम्।

शशधरः—दुष्कृत्यनाशकृतसङ्कल्पः क्षत्रियः क्वापि कातरतां न भजते।

कमला—किं कथयामि, अनभ्रवज्रपातेन विमूढास्मि, चेतः शिष्टाचारावधिं ध्वंस यितुमिव यतते।

शशधरः—कथमद्य वैलक्षण्यं वाचि।

कमला—श्रीमन्! अहं ज्ञातवत्यस्मि यत् श्रीमान् राजनगरस्य युवराजः। किं महाराजोऽपि रहस्यमेतद्वेत्ति?

शशधरः—कथं भवती वेत्ति।......

कमला—श्रीमतां दैनन्दिन्या......

शशधरः—आः कष्टम्। नहि, नास्ति चाधुनाऽवश्यकता।

कमला—कतिदिवसानां कार्यम्......

शशधरः—वर्षेण, मासेन, पक्षेण, सप्ताहेन, युगेनापीति तु को जानीते ।

कमला—आगमने त्वरानुष्ठेया नो चेन्माधवीलतेव तिग्ममहसा, वियोगेन दग्धा एषा श्रमप्रसूता कर्मवल्लरी कथावशेषा·······

शश०—यतिष्ये ।

कमला—नाधीरता मां मुञ्चति । जगदीश्वर एव रक्षकोऽधुना । देवो देवाय शं दिशतु ।

* * *

"अद्याहर्मुख एव सुवासितानि पुरुषवस्त्राणि समादाय राजकीयरजकः सत्वरसत्वरं गच्छन् मया दृष्टः, पुरोदेवः प्रमाणम्" प्रणिपत्य चरेण स्वाध्यक्षः समदेशि ।

"सपदि गत्वा तं कथय यदद्य सर्वे रजका राजभोजनमाप्स्यन्ति त्वमस्माकं चिरन्तनो रजकः, सत्कर्तुं राजप्रासादे निमन्त्रितः । समये द्वितीयकक्षायां समागच्छ" चराध्यक्षेणाऽऽदेशि ।

अथ रजकः समये परिमलसमाकृष्टलोकः प्रकल्पितसुभगनेपथ्यः करकर्पटेन पटुतां रसिकताञ्च प्रसारयन् रथ्या भित्तीश्च सुगन्धयन् राजभवनबहिरजिरं प्राप्तो द्वितीय-कक्षायां नीतश्च । "एहि एहि चिराद् दृष्टोसि, आगच्छ उपविश" इति वदति विभागाध्यक्षे स भूमावेवोपाविशत् ।

"ईदृक् सुगन्धिद्रव्यं कुतः समानीतवानसि, कुतश्चेमानि महार्हाणि वासांसि" अध्यक्षः सस्मितमपृच्छत् । रजकस्य स्वकीयानि वासांसि नासन्, स पृच्छामात्रेणैव विविधशङ्कासन्निविष्टो म्लानाङ्गः संवृत्तः ।

"न भवन्ति साहसिकानां भीरूणि चेतांसि । अयन्तु सकृत्प्रश्नखिन्नः खिन्नो मुमूर्षुश्च संवृत्तः । सतु चन्द्र इव वियोगिविसरे सूर्य इव तमःस्तोमे सिंह इव गजव्रजे, विस्फूर्जथुरिव-वारिदव्यूहे वीरवर इवावीरवारे आवर्त इवाम्भोधौ, ज्वर इव प्राणिनां काल इव देहिनां दैत्य इवादित्येषु समेष्यति निश्शङ्कमबिभ्यन् भाययन् विश्वेषां मनांसि । परमयं ज्ञापको-भविष्यति भीरु"रिति चिन्तयताऽध्यक्षेणोक्तम् :—

अपि कुशलं कथं शिथिलायसे ।

रजकः—भगवन्, नाहं वेद्मि यदेतानि श्रीमतां वासांसि, प्रातरेव कमलोपवनदासी

मामाहूयाह "यदमूनि वासांस्यधुना प्रक्षाल्य देयानि।" राज्ञोभवने न सर्वदा भुज्यते महता सौभाग्येनैतत् स्वर्णदिनं दृष्टमिति विचार्य अर्हत्तममेतद्वासो विदित्वा रजकस्वभावः परिधायागतोऽस्मि। सोऽहं देव! अज्ञानेऽपराद्धा सकृत् क्षम्यः।

सच विकम्पमानो वस्त्राण्युत्तार्य "नहि नहि मा भैषी" रित्युक्त इतरवस्त्रयुगलेन सत्कृत्य भोजयितुं नीतः।

* * *

"प्रभो, न माने...कोऽपि विदस्थाःमुग्धाकृतिरदत्तपरिचयो मा स्थासीः स्त्रीजनोचितोद्यानस्य समीप" मिति बहुशो वार्यमाणो विभी र्मां भाययन् भूतावासं प्रतिवसति। स कुत्र व्रजति शेतेऽत्ति, भ्रमतीति किमप्यहं न जाने। अज्ञातजनपदस्य साहाय्यं मानवधर्म इति कृत्वा तस्य वस्त्रप्रक्षालने साहाय्यं कृतवत्यस्मि। क्षन्तव्या नागस्कारिणी भवच्चरणसेविनी" इति।

अथ लोलत्कनीनिकामुद्यानमालिनीं कोट्टपालहस्ते समर्प्य सशस्त्रसैनिकानाज्ञापयामास सुप्तं भ्रमन्तं भक्षयन्तं वा तमानेतुमिति।

"देव, आज्ञप्ता वयं भूतावासं गत्वा गिरिगुहासुप्तं केशरिकिशोरमिव सान्द्रनिद्रं नरव्याघ्रं प्रेक्ष्य तत्प्रभावपरिभूता मूका एवाकृतपादध्वनयः प्रत्यावर्त्तिताः। देव, सोऽयं राजेन्द्रपालविजये कृतप्रतिज्ञः शशधर एवासीत्। देव, कोनाम यमेन रमेत, भुवनभयङ्करं कालाहिं करेण कलयेत्, कोमूढ उल्लोलसहस्रं हिंस्रसङ्कुलं पारावारं प्रविशेत्, मत्तगजेनाजिं रचयेत् बुभुक्षितं सुप्तं पञ्चाननमुन्निद्रयेत्, अतोऽविदितस्वभावमशक्ताः स्मो विगतनिद्रं कर्त्तु"मिति, सैनिकैर्न्यवेदि।

"आः गेहेशूरा भीरव औदरिका अपसरत जाल्माः" इति क्रुद्धो गुप्तचरविभागाध्यक्षोऽभिकोट्टपालं चक्षरक्षिपत्। सच मनोभावं ज्ञात्वा, गत्वा च तत्र विशदरम्यं सूर्यातपतप्तमपि सुरभिपुष्पपवनवीजितमासाद्य भूतावासं शून्यं पर्यङ्कं पत्रेषु लिखितां गीतिं, दैनन्दिनीं चर्मपेटिकाञ्चापत्। स च सर्वां सामग्रीमादायाध्यक्षाय न्यवेदयत्।

अध्यक्षश्च सर्वाः सामग्रीः सूक्ष्मेक्षिकया प्रेक्ष्य संक्षिप्तविवरणेन सह मन्त्रिणः समीपं प्रेषयत्। मन्त्री चापरेद्युः महाराजनुपगम्याब्रूत—

"क्षमस्व देव, नरेण पादोऽपि विचार्य क्रमणीयः। अविचारो ह्यसंस्कृतपारद-भक्षणम्, अनग्निपातं दहनम्। अलक्ष्म्याश्च निधानम्। विचारो हि भूमिर्यशसः श्रिया जीवनस्य मर्यादायाश्चः। युधिष्ठिरप्रभृतयः प्रमतयः पुरा किल विचारेणैवाध्यासया-मासू राज्यम्, अविमृश्यकारिणां कृते सतोषं जोषं विदध्मः। महाराज, यस्य पराक्रमोपक्रमं, सौन्दर्यसम्पत्ति बुद्धिवैभवञ्च श्रावं श्रावं हृष्यन्नासं, येन सह स्थिरीकृतः कमलाविवाहः यस्मै तिलकोऽपि प्रेषितः, यस्मै महीमहेन्द्रेण न्यक्कृतपरुषारिवर्गेण, प्रगे स्मरणीयनाम्ना, हिरुङ्नाचारेण तप्यते दिवानिशं महाराजनवेन्दुना, श्रूयते शोकलोकमावहन्ती यस्य जननी नितरां क्षीणा, सोऽङ्गुलिनद्धोर्मिकेव न लक्षितो न-विदितः, पादाग्रज्वलन इव न कार्ये कृतः। स एव वीरवारवर्णनीयवीर्यस्य राज्ञो नवेन्दुवर्मणः पुत्रो विकाशिशारदशर्वरीश्वरमुखश्चन्द्रः शशधरत्वेन राजपुरवासित्वेन प्रकाशितमप्यर्थं वचनरचनया तिरोदधद् राज्यकार्यं प्रसाधयितुं राजेन्द्रपालपुरं गतः। पश्यत्विदं श्रीमल्लिखितं प्रतिज्ञापत्रं गीतिश्च शशधरनिबद्धा।

हरसिद्धियात्रा
उज्जयिनी निवेशः

जगद्विततयशोराशेर्नवेन्दुपालस्य महनीयमहिम्नो रामपालस्य चाद्यतनः प्रस्तावः परमप्रमोदास्पदं सम्पद्यते। श्रीमतोः सन्तत्योश्चन्द्रकमलयोश्चन्द्रसूर्यौ यावत् परां प्रीतिं प्रकाशयतु गुणोत्कर्षः। समये विवाहसूत्रसूत्रितं युगलमेतत् स्वर्गेऽपि न वियुज्यताम्; युज्यताञ्चायुषा विद्यया, कलया, श्रिया, सम्पदा यशसा। पूरयतुचे मां प्रतिज्ञां परमपावनः परमेशानः।

विषयममुं प्रमाणीकरोति—
रामपालः। विमलपुरम्
नियमनं स्वीकुरुते नवेन्दुपालः
राजनगरम्

रघुनन्दनः—
कुलपुरोहितः
अक्षयतृतीया
१९८०

फुल्लाप्यमन्दमधुरं मकरन्दमूरु
निष्कासयद्भिरभितो विकचैः पयोजैः ।
पद्माकरेश, नलिनी बलमोषणाभ्यां
भोग्या न मानिभिरियं भ्रमरैर्जलेभ्यः ॥
सम्मान्य मान्यमहिमाखिलधारिणोऽस्मान्
दद्याच्च शिष्टिमुपभोक्तुमनाप्तकामान् ।
गुञ्जन्त ईश गुणिषु प्रगुणान् महात्मन्
गायन्त आजिषु भटानिव गाश्चरामः ॥

आवासः	चन्द्रः (शशधरः)
विमलपुरम्	राजनगरम्

"अये, किं शशधर एव चन्द्रः" सोल्लासं राज्ञोचे "हन्त हर्षो हर्षो हर्षः।" सम्भावितमप्येतदेवासीद् यदवश्यमयं कस्यापि राज्ञः पुत्रः, परन्तु वृत्तान्तप्रश्नावसर एव नाधिगतः। किन्तु अमात्य, कष्टसाध्यमिदं कार्यं, परमो मायावी च राजेन्द्रः, सुकुमारो नवीनश्चायं कुमारः किन्तु करणीयम्।

मन्त्री०—नात्र विचारणा सर्वं सुसिद्धं वीरवराणाम्। अणुरप्यग्निः कान्तारमन्तयति। साहाय्यायान्ये प्रेषयिष्यन्ते।

आनन्दोदधौ हर्षोल्लासा उत्तस्थुः। निमिषमात्रेणैवानभ्रा वृष्टिर्बभूव। वार्त्ताख्याकाशपातालयोरन्तरमभूत्। राजापि कमलाप्रियसखीं मनोरमामाहूय वृत्तमदो व्यशदयत्।

* * *

प्रान्तरे[1] निस्त्रिकः[2] प्रहिः[3]। [3]अन्धुरधुनात्मनो जीर्णभावं निवेदयति। तस्य [4]निपानानि, येषु दर्दुरा दरं दूरयन्तो यन्तो रुवन्तिस्म, येभ्यः सहस्रशो धेनवो मृगाः शशशल्यकशृगालास्तृषां शान्तयन्ति स्म, धूलिपूर्णान्युद्गतविटपान्यासन्। [5]वीनाहो विहीनः पाषाणाः प्रसृता दूरत एव स्वल्पस्वल्पैः समीरसमीरितैराहाव[4]भवैः क्षुपध्वजैरे-

१ प्रान्तरं=दूर शून्योऽध्वा (वियावान उजाड) २ त्रिका=भूण (चक्रः) ३ प्रहिः—अन्धुः=कूपः। ४ खेलकोठा। ५ वीनाहं मुखबन्धनं (ढाणा आदि)।

तत्प्रेर्यमाणमिवास्ति यद् यात यात्रिकाः ? दूरत एव यात, एतस्माद्भूवर्द्धनेन पृथिवीसमाक्रूरकूपादन्यथाऽन्धकारान्धीकृतान् वोऽयं कृपणदशोऽत्स्यति। पार्श्व एवैकः पादपो विपद्ग्रस्तेन कूपेन सहानुभूतिं प्रकटयन्निव स्थाणुभूतः स्वशरीरमपि चिन्ताचितायां चिचाय। तस्य महता प्रकाण्डेन सूच्यते यदयं कस्मिन्नपि काले शालशाखाभिर्विशालो भवेत्। तस्यैका शिफा कूपकुड्यं विदार्य निर्गता तेनात्यन्तिकं प्रेम प्रकटयति। कूपो मूलादत्तेन जलेनैनं, पादपः स्वसच्छायया चैनं—एवमेतौक दापि परस्परं सुदृढसम्बन्धावास्तां परन्तु सम्प्रति द्वयोरेव दशाऽतिसारकिणः क्षयिण इव चिन्त्या। अन्त[1]श्चर्मचटकाश्चरचरायन्तेस्म। [2]वरटानां तत्र बहु बलमासीत्, अन्तर्भित्तिषु तेषां छत्राणि महत्या संख्ययाऽऽख्यायन्तेस्म। ते दंशेन कालपाशेन यमदूता इव विश्वविश्रुता आसन्। केऽपि तेषां निर्गमनसमये तस्य पार्श्वतो न टीकन्तेस्म। एतेषां सातत्यवासात् पथिकैरयं प्रदेश एवापहृत आसीत्। [3]पतङ्गिका वराक्योऽपि तेषां मध्ये दत्सु जिह्वेव यथाकथञ्चिन्निर्वहन्ति स्म। अपि पारावतपुङ्गवा नितरां प्रसन्ना आसन्। कूपकुड्यकृतकुलायानां तेषामनवरतगुङ्कारः सर्वां काननस्थलीं मादयति स्म।

विश्रृङ्खलानि शिलाशकलानि सम्प्रत्यपि पान्थविश्रमाय विस्तृतान्यासन्।

एकः पथिकः शङ्कितचित्त इव कमपि कोणेऽन्वेषयन्निवेतस्ततो वीक्ष्य वस्त्र-फट्कारेण शिलामेकां विशोध्य कूपवेदिकायामुपविष्टः। मुखात्पतता स्वेदव्रजेन प्रवेगं प्रचलता श्वासेन चायं नितरां श्रान्तः प्रतीयते स्म। समुपविश्य स्कन्धावलम्बिनीं कन्थामेकतः संस्थाप्य पुनरितस्ततः प्रेक्ष्य शनैश्शनैरस्फुटं[4] नदितुमारेभे—

बहुभिर्वर्षैरेतस्य कान्तिसिंहहतकस्य साहाय्यमाचरामि, परमयं दुष्टः केवलं प्रबलमेव मानयति, तस्यैव गाथां गायति। तस्मा एव गूढरहस्यमाख्याति। तेनैव मन्त्रयति। अहह !! दुष्टेनामुना कमलया विवाहःप्रतिज्ञातः। अहो ? कथमिवैनं दुष्टं रङ्कं कुलीनाऽकुलीनं राजकुमारी व्यंसकं वृणीताम्। हन्त ? येनानेन निर्दयं स्वपितापि परलोकपथं प्रापितो विषेण। स्वस्वामिपुत्री सरोजिनी भगिनीनिर्विशेषाऽपि दुर्नेत्रैर्वीक्षिता। समस्मिन् राज्ये चापूर्वं[5]यशः प्रसारितम्।

---

१ चमचेड़। २ टांटिया (पीतभ्रमरः) ३ तितली। ४ (बड़ बड़ाने लगा—)
५ अः पूर्वं यस्य तत्=अयश इतिभावः।

प्रजापि निष्करुणं लुण्ठिता बहुशः। सतीनां सतीत्वेऽप्यसदाचरितम्। सोऽयं हन्त ! क्षत्रियहतकः कस्य कस्य सुखे भङ्गं विधास्यति। आनन्दोत्सङ्गसुप्तान् काँस्कानुन्निद्रयिष्यति। आशाभव्यभवनेषूपविष्टान् काँस्काँश्चूर्णयिष्यति। प्रेमपयोधौ सन्तरतः काँस्कान्निमज्जयिष्यति। परन्त्वहमप्येतस्य कान्तिसिंहहतकस्य पितृव्योऽस्मि। ससुखं तमपि न निद्रयिष्यामि। तस्य शय्यां, यां पुष्पसुकुमारां मनुते, कण्टकाकीर्णां विधास्यामि, तस्य मनोरथं व्यर्थयिष्यामि। अधुनाऽहमपि प्रतिजाने। कमला कान्तेरङ्कभूषणा न भविष्यति न भविष्यति। किं कान्तिसिंह एव सौन्दर्यसम्पत्तिमभिलषति। वयमपि वाञ्छामः, नहि वयमेव वाञ्छामः। अद्यैवास्वादमास्वादयतु दुष्टः कान्तिसिंह एतस्य लालसाद्रुमस्य। प्राणानविगणय्य, अपयशः प्रसार्य, कुलरीतिमग्निसात्कृत्य, मर्यादां सम्मर्द्य व्यंसकतां व्यसनीकृत्य यस्य कार्यं साधयामः, स केवलं स्वसुख एव सक्तोऽस्मान्न पश्यति, तदास्माकमपि कर्त्तव्यं यद्वयमप्युचितं विधास्मामः (सम्मुखमवलोक्य) अस्तु, अधुना वीरवरप्रबलौ समागच्छतः सावहित्थं[1] तिष्ठामि। (तयोरभिमुखं) मया तु विचारितं बहुसमयो भूतः, अद्य नागमनं सम्भाव्यते।

वीर०—साधु। किमस्माकमपि कार्यक्रमः[2] परिवर्त्तते। अपि सूर्यसिंह ! देवः समायातः ?

सूर्य०—नहि। अधुनायावत्तु तेषां सूचनैव न समागता।

प्रबल०—तेऽपि समायाता एव। उपविशन्तु क्षणं श्रममपनुदामः।

एते यथा कन्थामुत्तार्योपविशन्ति, तथा कान्तिसिंहोऽपि समायातः।

इतश्च कपटपटूनां पाटवं प्रेक्षितुकाम इवातन्द्रश्चन्द्रोऽप्याकाशं विभासयामास।

प्रबलपरिशोधिते कूपशिलातले स्थितिमता कान्तिसिंहेन तेषां बभूवुरलापाः—

प्रबल०—तद्दिने तु देव ! अस्माकं कार्यमल्पेनैवायासेन सिद्धम्। वीरवरश्च तुष्टः। सम्यगवसरस्त्वेवं लब्धो यत्तत्रत्यो राजकुमारोऽसूचयित्वैव क्वापीत आसीत्। सर्वे प्रहरिणश्चेतस्ततो व्यग्राः समासन्। प्रचुरो राः प्राप्तः।

कान्ति०—परतश्च यदाज्ञप्तं तत्कृतवानसि किम्।

प्रबल०—आँ देव ! कानिचिद् भूषणानि तु वीरवरस्य मातुलेयभ्रातुरानीतवन्त[3]

१ अवहित्था—आकारगोपनम्। २ प्रोग्राम। ३ थैला।

एव। अपराणि च वस्त्रभूषणानि सज्जानि। देव! आनन्दस्य भवद्विवाहदर्शने महतीच्छाऽऽसीत्। परन्तु स वराको विश्वशेखरप्रहारमवञ्चयन् मृत एव।

कान्ति०—(उन्मना इव) आँ नवीन एवासीत्सः। आघातश्च तस्य मार्मिक आसीत्। परन्त्वस्माकं सङ्घे तन्मृत्युना काचन हानिर्नाभूत्। वीर? त्वमपि कृत्यं कृतवानसि।

वीर०—समये ऽहं गतः परन्तु यस्मै कार्याय प्रेरितस्तत्तथा न कृतवानस्मि। दिवासमयः, सतर्का, सास्त्रशस्त्रोभयतः सज्जा गरीयसी सेना। यद्यल्पीयस्यपि ससंदेहा दृष्टिर्निपततेत्तदवश्यं प्राणानामेव संशयः, अतः केवल मदर्शयेव ....

सूर्य०—देव! कमलाया शैशव एव स्थिरीभूतो विवाहश्चन्द्रेणेति तु विज्ञातमेव। तद्देव! किमर्थं कस्यापि सुखं भज्यते। मुधैव परलोकमनालोकायते। एतल्लोकं कलङ्कायते, परश्शता योषितः सौन्दर्यदर्यो भवच्चरणरेणुं जिघृक्षन्ति; व्यर्थमेव कमलाकाकलीमाकर्णयितुमाकुलीभूताः स्थ।

कान्ति०—सूर्य बहु विमृशामि। सर्वतः प्रथमं मनोरमया सह मरुत्तरारूढा मृगयां कुर्वती कमला मया दृष्टा। कीदृक् कौशलं कीदृशी क्षिप्रकारिताऽऽसीत्। तस्याश्चिबुकं कपोलपाली, कोमलकोमलाभ्यां कराभ्यां भुशुण्डिकाकलनमद्यापि ममाक्ष्णोः पुरतः स्फुरतीव। तत एव विमुग्धकमलादर्शनेन सुधामवधीरयता मुखेनाहमन्य एव संवृत्तोऽस्मि। चिररात्राय तत्रैव मृगयावन उषितवानस्मि, परन्तु हन्त, पुनः सा दृष्टिपथमेव नोपेता। अहं व्यचारयं यन्मम दशा सर्वदैवेदृशी न भविष्यति, समयेन समासादितप्रसादो भविष्यामि, परमाज्येनाग्निज्वालेव एधते। विचारयामि चन्द्रेण सह तस्या विवाहः स्थिरीभूतो, योग्योऽयं राजकुमारो वीरश्च। मास्म कस्यापि सुखस्यान्तरायो भूरिति मानसं मां मुहुर्मन्त्रयति। परं किं कुर्यां तस्याः प्रतिमूर्त्तिः प्रतिक्षणविलक्षणा स्वप्नेऽपि साम्मुख्यं न मुञ्चति........

प्रबल०—(मध्यएव) न मोक्ष्यति च। देव! प्रतिज्ञातं वीरा न परित्यजन्ति। अपि प्राणानर्पयन्ति।

वीर०—देवोऽकारणमेवौदासीन्यमालम्बते। मया तु करणीयं सम्यग् विचारितम्।

कान्ति०—किमिव........

वीर०—मयाद्य श्रुतं यच्चतुर्थ्यां रामपालस्य जन्मदिनम्। अस्मिन्नवसरे च विशिष्टं भोज्यं मद्यपानादिकञ्च···

कान्ति०—सत्यं, (हर्षेण-प्रोच्छलच्छरीरः) अस्माकं प्रयोजनं सुसिद्धम्। क्षत्रियकुले एतादृगवसरे सर्व एव मदमत्ता भवन्ति विशेषतो दासीदासम्।

वीर०—आँ, तदपि सर्वं विचारितम्। हर्म्यस्योत्तरहरिति विविक्ते कमलावासस्तत्रपक्षद्वारलोहदण्डे[1] गोधापाशमायोज्य सुखमुपरि शक्यं गन्तुमिति न कश्चन दासीदासयोर्भयोद्रेकः। केवलश्चन्द्रचन्द्रिका मां शिथिलयति......

कान्ति०—किं भयम्। अनुनिशीथं गन्तव्यम्। एषोऽवसरः पुन र्न लप्स्यते। सूर्य! तत्रापि कथनं कस्मा अप्यवसरायोचितं नाम, परन्त्वरे! यस्या यौवनमपेक्षमाणो हृष्यन्नासं, घटितानेकमनोरथो विस्मृतमानसस्त्यक्तापरकार्यः केवलं तत्प्रदक्षिणायामेवासं, सैव कमला दुग्धमक्षिकामिव मां दूरं प्रक्षिप्य चन्द्रेण रन्तुमनाः सुखमनुबुभूषति। किं तत्सुखमहं सोढुमर्हामि, नहि नहि······

सूर्य०—तद्युचितं विधास्यामः। पाषाणेनैव पाषाणप्रतिशोधं विधास्यामः। यथाज्ञाप्यते तथैवाचरिष्यामः। वीर! कः कार्यक्रमस्त्वया निरधारि।

वीर०—सप्रबलोऽहं तत्र गमिष्यामि। सूर्यश्च ग्रामाद् बहिः समरुत्तरो मिलतु··· सूर्य![2] वायुप्लवोऽप्यानेयः।

* * *

प्रातः पौराः पवमानसेवनाय पुराद् बहिः प्रयान्ति। नगरसीम्नि विशदमधुरजलो विकासिकुमुदिनीविशोभी ह्रदो ह्लादयति जनानां मनः। विमलतरङ्गशीकरशीतः समीरणः, मधुरमधुरं रुवन्तः पक्षिणः, चलद्दलाः द्रुमाश्च नीरोजःस्वपि विनोदप्रमोदस्य भावमापादयन्ति।

अद्य राज्ञो रामपालस्य जन्मदिनम्। वर्णाश्रमीया इतरे च राज्ञः प्रासादे भोक्ष्यन्ते, न कस्यापि गृहेऽग्निप्रज्वालः। राजभोज्यसज्जायै सर्वे सज्जन्ते। केचन भङ्गां पिबन्ति।

---

१ चौरा लुण्टाकाश्च भवनारोहणाय गोधायुक्तां रज्जु मुत्क्षिप्य तस्यां भित्तिश्लिष्टायां तदाबद्धरज्ज्वाभवनेष्वारोहन्ति।

२ वायुपूर्णो जले प्लवनतरणसाधनः "लाइफबोट" इत्याख्यः।

इतरे च मासानां लग्नं मलं शरीरतोऽपनयन्ति, अन्येच स्वेदमलिनानि कुवासांसि सुवासयन्ति ।

मध्याह्नात् पूर्वमेव कक्षासु जात्यनुसारं सर्व एव समायातुमारब्धाः, स्वासनेषु समुपवेशिताश्च । वेदविदो विप्राः, अधिकारिणः क्षत्रियाः, सुवेशाः विशः शूद्राश्च स्वस्वकक्षासु यथारीति यथाप्रतिष्ठं यथामर्यादं स्वागतसत्काराय राज्ञा नियोजिताः ।

उद्धरोत्सृजाया एहिस्वागताया आहरकटाया देहिपात्रायाः क्रियाया अद्य प्राबल्यम् । कार्यव्यग्रपुरुषपादन्यासैर्भूरपि व्यग्रितेव प्रतीयते ।

क्वचन [1]प्रस्फोटन परिपूतं, [2]कण्डोलनिस्स्रुतमण्डं राजार्हमोदनमद्यते । अन्यत्र राजभोजनं पायसं परिवेष्यते । क्वचन मत्स्यण्डी[3]मिश्रा [4]कूर्चिकाऽऽस्वाद्यते । इतरत्र क्षीर-सारचणकचूर्णसिताज्यमित्रञ्चू[5]र्णमभिचष्यते[6] । क्वचन सुगन्धिद्रव्यैर्भाविता मनोमोदका वश्वधरमधुरा उदरपूरं पूर्यन्ते । परत्र [7]सशतपुष्पामरिचाश्वगोतद्घृता [8]घृतापूपा जठरसात् क्रियन्ते । अमृतकलिका इव जलावलिकाः[9]—मकरन्दबिन्दव इव बिन्दवः[10] आनन्दकूपिका [11]इवापूपिका, आढकी[12] मुद्ग[13]माष[14] मकुष्ठ[15] मिश्रा त्वक्पत्र[16] [17]यवानिका [18]प्रयस्तागदव्यालीव स्वास्थ्याली दाली[19]सप्रेम परिवेष्यते । कश्चिद्विजिलं[20] तेमनं,[21] कश्चिद्वाह्लीक[22] प्रयस्तं निष्टान मास्वादयति, क्वचन कृष्णिका[23]कृष्णा-[24] चित्रक[25] वेल्लज[26] जरण[27] धान्याक[28] धन्यं[29] राज्यक्तं गलनलिकया गिल्यते । क्वच [30]नार्द्रक[31] चुक्रोप[32] कुश्चिका पुदीनाऽवलेहिका[33]लिह्यते । क्वचन जम्बीरनीरनिर्मितो वेशवारोपस्कृतोद्राक्षावलेहः सांगुलिलेहमास्वाद्यते । क्वचन सारनालाः[34]सदधिका अदधिकाश्च बटका[35] यथेप्सितं चर्व्यन्ते । क्वचन मेथिकामहितं[36] रसालदललालितं स्वाद्ववलेहन

---

१ छाज । २ चावलोंकेमांडको निकालनेवाला वांसका पिटारा । ३ साफखाण्ड (बूरा) । ४ खोवा । ५ चूरमा बेसनका । ६ चब अदने । ७ सौंफ । ८ मालपूड़े । ९ जलेबी । १० वूँदिया (नुक्ति) । ११ पूड़ियां । १२ अरहर, १३ मूंग, १४ उड़द, १५ मोठ, १६ दालचीनी, १७ अजवायन, १८ छौकदी हुई, १९ दाल, २० झोलदार, २१ व्यञ्जन (शाक), २२ हींग, २३ राई, २४ पीपल, २५ चीता, २६ कालीमिर्च, २७ जीरा, २८ धनिया, २९ रायता, ३० अदरख, ३१ इमली, ३२ इलायची छोटी, ३३ चटनी, ३४ काञ्जीवाले, ३५ वड़े ३६ मेंथीकी लुञ्जी,

मन्तर्धीयते। क्वचन पुरोगेन पौरोगवेन[१] जनगीयमानं यशो भोजनप्रशंसा श्रूयते। पटोलशाकं[२], कूष्माण्डशाकं[३], वास्तुकशाकं[४], कर्कटीशाकं[५], मूलकशाकं[६] भेण्डाशाकं[७], वृन्ताकं[८], गोजिह्वाशाकं[९], महाकोशातकीशाकं[१०], कालिङ्गशाकं[११], कारवेल्लशाकं[१२], आलूकशाकं[१३], त्रपुषशाकं[१४] दीयतां देहि, आनय, अलं, गृहाणेत्येव श्रूयते सर्वतो ध्वनिः। घृतपक्वा गवान्नफलिनी[१५], करीरफलं[१६], पर्पटकश्च[१७] परिवेषितः—भोजनयज्ञस्य पूर्णाहुतिर्जाता। पचतभृज्जता[१८], स्वादतपिबता, आहरभुङ्क्ष्वा, हसतमोदता क्रमश उपरता। लब्धावसरा क्षणदा दिनपतिमस्तं विज्ञाय स्वाधिपत्यं तेने। निशानाथोऽप्येकाकिनीं प्रयतमानां प्रियां प्रेक्ष्य सद्य एवोदयगिरिमारुरोह। सच्छासकप्रसन्ने जगतीव कलानाथ-विभासिनि नभसि दैनिककर्मश्रान्ताः भृत्याश्चन्द्रिकयाऽऽल्हाद्यमानाः, सद्यो निद्राऽङ्कं भेजुः।

* * *

प्रहरी हर्म्यमभितः शिथिलमर्यादः सालसं गतागतं कुर्वँश्चन्द्रप्रकाशे दूरत एवायान्तौ द्वौ नरौ दृष्ट्वाऽऽह—"कौ स्थः दूर एव तिष्ठतम् किं न जानीथ इदं महाराजशयनगृहम्।"

"प्रहरिन्! विदूरप्रचलनेन नितरां श्रान्तौ स्वः। किमिदं महाराजशयनगृहम्? सत्यं न जानीवः।"

"कुत्रत्यौ युवाम्, वेशभूषादिभिरत्रत्याविव प्रतीयेथे।"

"प्रहरिन्! अस्यैव देशस्य प्रियौ पुत्रावास्व परन्तु हन्त? दारिद्र्यदुर्गतौ परदेश एव वर्द्धितौ शिक्षितौ च। भ्रातः प्रहरिन्! बहुकालेनापीतं वर्त्तते तमालं सम्प्रति नितरां श्रान्तौ स्वः; क्वाप्यग्निर्लब्धुं शक्यते?

मूर्खः प्रहरी अनभिज्ञश्च चतुरसंसारस्यैतयोर्वार्त्तया सकरुणो जातः। एकेन धूमपात्रे[१९] तमालं न्यधायि; प्रहरी च हसन्त्या[२०] वह्निमानीतवान्। पूर्वं धूमपात्रं प्रहरिण एवोपहृतम्। स द्वित्रिस्तद् बलेनाकृष्य मूर्च्छितः। एकेन विहस्योक्तं, "प्रबल! मूढः

१ महानसाध्यक्षः, २ परवल, ३ कोहला, ४ वथुवा, ५ ककड़ी, ६ मूली, ७ भिण्डी, ८ बैंगन, ९ गोभी, १० घीया, ११ मतीरा (तरबूज), १२ करेला, १३ आलू, १४ खीरा, १५ गुवाँरफली, १६ कैरिया (टींट), १७ पापड़, १८ सर्वत्र मयूरव्यं-सकादित्वात्समासः, १९ चिलम, २० सिगड़ी।

कथं जिह्वामचर्परायदधुना वेतस्य पुत्रोऽपि नोत्थास्यति। निद्रितसर्वजनं दृश्यते भवनं, त्वरस्व। अहमत्रैव त्वां प्रतिपालयामि। त्वमुपरिगच्छ"—इति।

* * *

सहस्रदृगर्वगर्वं लुम्पतो ऽर्वतः कौतुकाद्वामपाणिना, कविकाखणत्कारेण वल्गामाकृष्यावतीर्य, वृत्तोत्कैः शिष्टविशिष्टैरधिष्ठितं कौशेयवितानं, अगुरुचन्द्रवर्त्तिकासुरभितं न्यक्कृतामरराजकुलं, प्रविश्य राजकुलं, साभ्युत्थानं साञ्जलि साशीर्निर्देशं सत्कृत उपराजं स्वर्णासनमलञ्चकार चन्द्रः।

"मान्याः, जनस्योत्सुकतामालोच्याभ्यर्थितो महाराजकुमारश्चन्द्रोऽद्य स्वयात्रावृत्तान्तमस्मान् श्रावयिष्यति। भवन्तस्तेन लाभान्विता भविष्यन्तीत्यहमाशासे। कुमारो वृत्तं विशदयतु—"उत्थाय मन्त्रिणोक्तम्।

स्मितजितज्योत्स्नश्चन्द्रः परितः प्रेक्ष्य प्रवक्तुमारभतः—

अह्नः सायः समीपमासीत्। गोपालगुप्ता गावो वनान्तराद् रोमन्थायमानाः फनायमाना ग्रामं प्रत्यावर्त्तन्ते स्म। काश्चन वृषस्यन्त्य उत्पुच्छयन्ते स्म, काश्चनोदन्यन्त्यः शरीरगौरवेण गुर्व्योऽपि मन्दां गतिं विहाय चाञ्चल्यं श्रयन्तेस्म। इतरा क्षीरस्यतां शिशूनां प्रबलप्रेम्णा स्रवद् ग्धा विरावारम्भं रेभन्ते स्म। तासां खुरोद्धूता धूलिराकाशे श्यामघटेव प्रतीयते स्म। क्षेत्रसीम्नि स्थिताः कृषकाः सतर्कनेत्रैस्ताः पश्यन्तिस्म। गोपा अपि तासां पंक्तिबद्धचालने सयत्नाः प्रेक्ष्यन्ते स्म। तेषां स्वल्पीयसाऽप्यनवधानेन ताः कृषकदण्डानां कटुवचसांश्च गोपैः सहैव लक्ष्यीभवन्ति स्म।

गोपंक्तेः पश्चात् कालिम्ना काकनिकरमपि तिरस्कुर्वन् निशितखुराग्रै र्भुवं विलिखन् गम्भीरतरकवोष्णश्वासश्वसनेनाधीरधैर्यमपनयन् विशालविषाणभारेणेव नतशिराः प्रलम्बपुच्छतुच्छीकृतदण्डः प्रतिपक्षिण्यो वनमक्षिकाः प्रक्षिपन् वदनविगलितफेनैर्धरां तारकितामिव कुर्वन् सालसं मन्दं मन्दं चलन् महिषीसमजोऽपि गवां व्यूहं व्यपोहतिस्म।

स्थूलमसृणमहिषपृष्ठे हस्तमाधाय नियामकयष्टिकां कक्षे कलयन्तो वेणुं रणयन्तो गोपा अपि मधुरमधुरमशिक्षितपाटवं गायन्ति स्म। केचनाऽऽदत्तभिन्दिपालाः गोफणं करे कलयन्तः कृषीवलबालाः कण्टकाकीर्णजीर्णशीर्णवाससः पाषाणक्षेपणविभीषिकया पक्षिणस्त्रासयन्ति स्म। केचन शिरोधृतघासविसरा सत्वरं सत्वरं गृहप्राप्त्यै प्रयतन्तेस्म।

चतुष्पथे स्थिता ज्यायांस आयतीगवं प्रतीक्षन्ते स्म। क्षणेनैव ग्रामटिका व्याप्ता धैनुकेन। गवां पृष्ठपरामर्शिणा हस्तेन ध्वनिमत्यभूत् पल्ली। आसीच्च तिष्ठद्गु, सुतस्नेहोपस्नुताः पयस्विन्यो धारासारेण संसारं सन्तर्पयामासुः।

अहमपि तेनैव सार्थेन तच्चरणरेणुरूषितपवित्रगात्रो वाजिनमारूढस्तस्यामेव ग्रामीण-ग्रामण्यो गृहं गतो भुक्त्वा सर्वां विभावरीं यापयित्वा, निकट एव तपस्यतः कस्यापि महाप्रभावस्य साधोर्वृत्तं ग्रामीणेभ्यो विदित्वा तद्दर्शनोत्सुकोऽश्वं ग्रामण्यो गृहे न्यस्य पदातिरेव गहनं काननं प्राविशम्।

खड्गसहायो विच्युतपथो निविडतरे हिंसकविहारभूमौ वनेऽस्मिन् सर्वं दिनमतिवाह्य निद्रेप्सुर्महान्तं पादपमेकमारुह्य विभावरीमत्यवाहयम्। प्रातरानन्देनेव तिग्ममह-साऽऽच्छादितासु दिक्षु उत्तङ्गशिखरमारुह्य दूरवीक्षणेन गव्यूतिपञ्चके उपगण्डशैलं तपन्तं कञ्चन साधुं दृष्ट्वा देवान्मनस्येव नमस्यन्, कण्टकाकीर्णसर्वाङ्गो विशिथिलसन्धिः सायङ्कालतोऽर्वागेव तत्रागमम्। महात्मानं परितोऽन्तेवासिन इव व्याघ्रसिंहशार्दूला मृगवच्छाद्वलमध्यास्य स्थिता मां वीक्ष्य सकृदुत्थापितकर्णाः पुनरवनतशिरसो मां प्रणमन्त इवासन्। अहं तेषां मण्डलमतिक्रम्य मध्ये परिष्कृतभूमावुपाविशम्। रम्यं स्थानम्। शान्तं वातावरणम्। सम्मुखमेवैका स्वल्पीयसी कुटी गण्डशैलं कर्त्तयित्वा कृता गुहा, स्वच्छो निर्झरः सम्मुखञ्च मुनेः स्थितिभूः। पशव आदेशं शुश्रूषव इव मौना अभिमुनि स्थिता आसन्।

महात्मनः शरीरमस्थिमात्रमपि तेजोवितानमिवासीत्। लम्बमाने हिमधवले पक्ष्मणी प्रांशु शरीरं प्राचीनकालस्य स्मृतिश्चक्षुश्रत्वरे चित्रयते स्म। विशालं भालं, उदग्रां घोणां प्रलम्बौ कर्णौ शशिश्वेतां जटां साभं मुखमण्डलं पश्यँ स्तेन जातिदेशकुशलनामानन्तरं कार्यार्थं पृष्टः सर्वं सत्यं सत्यं न्यवेदयम्।

महात्मा—वत्स, दुःसाध्यमिदं कार्यम्। त्वञ्चातिसुकुमारः।

अहं—सत्यं देव, तदपि राष्ट्रस्य रक्षा स्वस्य जीवनदानेनाप्यवश्यं करणीयैव।

महात्मा—विषयेऽस्मिन्नाहं विशिष्य वेद्मि। श्रूयते राज्ञो राजेन्द्रपालस्य परमा सुन्दरी विदुषी वीरवरा कन्या, सा कर्मण्यस्मिन् विशेषं साहाय्यं कर्त्तुं समर्था।

अहं—श्रीचरणौ प्राप्यापि विफलो भविष्यामि किं देव!

महात्मा--श्रृणु, राजेन्द्रपालस्य राजधान्याः पार्श्वे एकं निविडं वनं विद्यते, तत्रस्थान् सिंहान् हन्तुमनाः सा प्रत्यहमेति। कार्यमदस्त्वं तत्र तथा साधय यथा सा प्रसीदेत् सा प्रसन्ना पितरं प्रसादयिष्यतीति।

दीर्घाहो निदाघः। सूर्यास्ते घटिकाषट्कावशिष्टो दिष्टः। विराजः श्वासेनेव श्वसनेनोत्थापितं रजः पथोऽज्ञातीकरोति स्म। नासानलिकासु कपोलविलेषु, श्रोत्रगर्त्तेषु, निपतद्रजो म्लेच्छानपि हतेच्छान् करोति। पार्श्ववस्त्वपि स्पर्शेण परिचीयते। परम-कस्मान्निदाघभर्जितधरापृष्ठ आषाढस्य प्रथमघनो न्यपतत्। अहमेकं विशालं महाशालं नगरं दूरादेव दृष्टवान्। पूर्वद्वारे धृतभुशुण्डीकौ द्वाःस्थौ समर्यादं स्थितावास्ताम्। क्षणमहं तौ सजीवावेवाचिन्तयं, परमचलनेत्रपक्ष्मभ्यां श्वासानिर्गमनेन निपतद्रजोऽनपायेन च निर्जीवौ निश्चित्य शिल्पिनश्चातुर्ये विस्मितः पुरो व्यचलम्। नगरे सर्वत्र खादतः पिवतो विपणिषु क्रयविक्रयं कुर्वतो वैश्यग्राहकान् स्त्रियः पुरुषान् पक्षिणश्च पाषाणमयानपश्यम्। राजोद्याने च महीरुहः सपत्रपुष्पफलान् दूर्वा लता पाषाणमय्यो, वाप्यां तरङ्गधारि जलञ्च दृषन्मयमपश्यम्। रात्रिर्जाता, सर्वस्मिन्नगरे नैकत्र वार्त्ता न प्रकाशो न शब्दः।

नगराद्बहिः प्रोच्चैः सैकते सुप्त्वा प्रातरुत्थाय पुरप्रेक्षणोत्सुको दुर्गे प्रहरिणो हरिप्राणहरिणः करिणश्च पश्यन् विशालं राजभवनञ्च प्रविश्य, परितो द्विरदरदनेषु सुपक्षिणः पञ्जराः कलितविविधरूपा भूपाः, कूपाः वीररसस्य शस्यसम्पन्नायाः भुवो भर्त्तारः सभाजिरे समासीनाः सेनापतयो मन्त्रिणश्च, मध्ये मारकतसोपानायां वेदिकायां सिंहासने स्मयमानं नृपञ्च वीक्ष्य हर्म्यं प्रविश्य तत्रच मध्यचत्वरे करकृत-केशप्रान्तां प्रसाधनिकया केशान् प्रसाधयन्तीं सम्मुखमुकुरवामीकृतवामभ्रुवा कचनिचयं प्रेक्षमाणां, कुचाधोगलदम्बरं स्वगृहतयाऽनीहयोपेक्षमाणामनल्पशिल्पनिर्मितां त्रिभुवन सुन्दरीं राजकुमारीमपश्यम्।

पुनः कमलिनीमालिन्यं तेने तिरोहितकिरणदण्डः प्रचण्डो मार्त्तण्डः। तमःस्पृशो दश दिशोऽवसरं प्राप्य व्यातेनुः प्रभावम्। पूर्वेद्युरिवाशयिषि, किन्तु समग्रदिनव्यग्रधियोऽ-ज्ञातभियो मम निद्रापि भीतेव नाभ्यर्णमाययौ।

अथ निशीथे कयोरप्यालापेन नाशमापालस्यम्।

प्रथमा वाक्०—पश्य केयं दशा पुरस्यामुष्य। परिवर्त्तनशीलं जगद् विनश्वरा उच्छ्रायाः।

द्वितीया वाक्०—नगरस्य समृद्धिं विद्यावैभवं यदा स्मरामि, विकम्पते चेतः। राज्ञोऽस्य न्यायप्रियता, प्रियता प्रयता[1] प्रजायां, जायाङ्कीकृतरतेः[2], रतेः पत्युः परिभावकस्य, कस्यापि[3] विबुधवर्यतां नियामयतो, मयतोऽधिविदो वास्तौ, प्रजापालन-व्यवहारो लोकोत्तर एवासीत्। परन्तु हन्त, सा सिद्धिः कथयापि नावशिष्टा। प्रिय, किं विस्मर्यते राज्ञ उपवनम्।

प्र० वाक्०—तदपि किं विस्मर्त्तुं शक्यते, स्वर्ग्यं फलपूरं, पूरकं पतत्त्रिजठरपिठराणां विविधा लताश्च परिमलेन मलिनानपि मोहयन्त्य आसन् परं वर्त्तमानेन राज्ञा सर्वं चरित्र-मात्रीकृतम्। सोऽयं प्रतिक्षणं युद्धवार्त्ताप्रियः स्वकीयं पुरमपरस्मिन् मार्गे निर्मायेदं पुरं जगतो भ्रमाय पाषाणेन प्रकल्प्य सततं युद्धाभ्यासनिरतो जगत ईश्वरतामभीप्सति। श्रूयते एतस्य कन्यैनमस्मिन् कर्मणि नियोजयति शास्ति च। यदि कश्चन चतुरस्तां राजकुमारीं सत्पथे समानीय युद्धमार्गात् प्रतिनिवर्त्य लोककल्याणे योजयेत्तदोन्नतिः हस्तामलकवत् सुलभा। राज्यायतः प्रतिशतं नवतिमुद्रा सैन्यप्रसाधने व्येति। यदि स धनराशि र्जगतः सेवायै शिक्षायै समुन्नत्यै वीयाच्चेद् वर्षपञ्चकेनैव स्याद् गरीयसी सद्व्यवस्था—इति रुद्धोऽयं वाचां प्रसारः।

अहं मासद्वयेन नगरस्य, राज्ञो राजकुमार्याः प्रदेशस्य च रहस्यं विज्ञायैकदा मुनि-वचनानुसारं पार्श्ववनं प्रविश्य सूक्ष्मेक्षिकया तत्र पञ्चाननस्थितिं निश्चित्यैकस्मिन् प्रोच्चे तरौ सज्जशस्त्रास्त्र उपविष्टः। अपराह्णवेलायामाखेटवेशा कृष्णाश्वा श्वचतुष्कयुताप्येकाकिनी अनिन्द्यसौन्दर्या सुन्दरी वनं प्रविवेश। श्वानः संकेतैराखेटं समीपमेव घोषयामासुः। सा सन्नद्धाऽसिं करे कलयन्ती सतर्काऽभवत्। अहमपि शरासेने शरमायोज्य प्रतीक्षायामासम्। अकस्मादनल्पक्रोधो निशितदंष्ट्रः सिंहो नित्यवैरिण्याः वधाय कृतसङ्कल्प इव गर्जन् सत्वरमेकस्माद् गुल्मान्निःसृतः। सृक्किणीं लिहन्ती तस्य जिह्वा सत्वरमेव मानुषरक्तास्वादलोलुपाऽवर्त्तत। सोऽभिसुन्दरि प्रस्थितः। सिंहदर्शनसमकालमेव

---

१ प्रयता=पवित्रा, २ जायाया अङ्कीकृता, पुत्रीत्वेन रतिर्येन स तस्य, ३ कस्यापि= ब्रह्मणः।

खिन्ना सुन्दरी तस्या अश्वश्चाग्रपादावुत्थाय एलायितुमना इवोद्विग्नः संवृत्तः। सिंहोऽभ्यश्वमाचक्राम। अश्वश्च वेगेनारोहिणीमुत्क्षिप्यैकतः प्रययौ। आखेटवित्ता सुन्दरी च भूमौ-प्रसृता। सिंहश्चाग्रपादावुत्थाप्य सुन्दर्याऽऽर्त्त नेत्रैः सकरुणं वीक्षितो यावदग्रे प्राचलत्तावदेव मद्बाणविद्धः करुणं क्रन्दन् धरामधासीत्। एतत्सर्वमेकस्मिन्नेव क्षणे जातम्।

"देवि, कात्वमस्मिन् वीरभयङ्करे वने एकाकिनी मृदुलतनुलताऽऽत्मानं सन्देहसिन्धौ निपात्य भ्रमसि, नैतत्तवानुरूपम्। निवेदय क्व त्वां प्रेषयामि, क्व च तव पितरौ कथं पथो भ्रष्टासि" —वृक्षादवतीर्य तस्याः संशयमपहरता विनीतेन मया न्यवेदि।

"अहमत्र पार्श्व वर्त्तिनो राज्ञो राजेन्द्रपालस्य पुत्र्यस्मि, युद्धाभिरुचिरहं सर्वदैवाखेटार्थमागच्छामि। बहवः सिंहा हेलयैव मया निपातिताः, परन्तु हन्त, अद्यानेन नवीनाश्वेन मुषितास्मि। समये यदि भवान्नागमिष्यदहमवश्यममरिष्यम्। अधुना जीवनदातृत्वेनार्हत्तमोदेव आख्यात्वभिज्ञानम्"—वस्त्रखण्डेन स्वेदं धूलिञ्चापनयन्त्या सुन्दर्योचे।

"आ एवम्, त्वं वात्सल्यभावपूर्णे महिलासमाजे जन्म लब्ध्वाप्यदः किरातकोलभिल्लसेवितं गर्हितं कर्माङ्गीकृतवत्यसि तत्र किमु वक्तव्यम्। नाहं शान्तिसुधाप्लुतां मे वाचं भवत्या सहालापेनोत्तेजयिष्यामि, क्षम्यो याम्यहमधुना, श्रीमती चेत् साभिलाषा गन्तुं स्थिरीभूतोऽयमश्व आरुह्यागच्छतु", अश्वाभिमुखं प्रचलता मयोचे। साच नितरां विनीताऽऽभारं हृदयेन प्रदर्शयन्ती परिचयाय मुहुर्मुहुराजग्राह। अहञ्चावोचम्।

देवि, समयातिपातिनी ते प्रवृत्तिः। पश्य त्वयि युद्धकर्मणि प्रवृत्तायां का दशा तव देशस्य। सर्व एव विभागाः नाममात्रमासते। एकदाहं वृत्तजिज्ञासया तव नगरपर्यवेक्षणाय प्रवृत्तः। नगरपालिकाया आयमार्गः सम्पन्नोऽस्ति, किन्तूत्कोचास्वादाः कर्मकरा चतुर्थभागमेव संगृह्णन्ति। नगरस्य रथ्या राजमार्गाः भग्ना न कोऽपि पर्यवेक्षते। केवलं प्रासादमार्ग एव सुभगः सरलः स्वच्छश्चास्ति। रथ्यासु गर्त्तान्यासन् यत्र पार्श्वगृहाणां मलमूत्रजलमागत्य रथ्यानिवासिनां स्वास्थ्यं दूषयत् दुर्गन्धितां प्रसारयति। रथ्या नितरां विषमाः। नवगृहाणि प्राचीनगृहतो हस्तं हस्तार्द्धमग्रे निःसृतानि सन्ति। मन्ये पौरप्रतिष्ठानाधिकारिण उत्कोचं गृहीत्वा गृहपतेरिच्छानुसारमनुजानन्ति। येन रथ्यानां सौन्दर्यं सुगमता च प्रणश्यति। रात्रौ न प्रकाशस्य प्रबन्धः। केवलं पौरप्रतिष्ठानसदस्यानामधिकारिणाञ्च गृहाणि पौरप्रतिष्ठानेन प्रकाश्यन्ते। इतरे विश्वसन्ति

यदयमेतेषामेवाधिकारः। प्रधानमार्गेष्ववकरस्य कूटाः प्रेक्ष्यन्ते। न कोऽपि भद्रपुरुषः प्राणायामाभ्यासं विना तेषु मार्गेषु गन्तुं शक्नोति। वराकास्तन्मार्गस्थायिनो विविधचर्मरोगपीडिताः गतचक्षुषोऽहर्निशं कण्डूयनपरा मशकमक्षिकानिवारणमारणपराश्च स्वस्यैव दौर्भाग्यं दुष्कर्मताञ्च स्वीकुर्वन्ति। नगरे वराकबालानां पोषणाय गोशालैका पौरप्रतिष्ठानस्यास्ति। गवां द्विशती तत्र दुह्यते परन्तु सदस्यानां शिशवः स्त्रियो भृत्या गोशाला कर्मकराश्च पयः पीत्वा शेषस्य पयसो दधि विधाय नवनीतञ्च प्रधानसदस्यगृहेषु प्रेष्य केवल मुदश्वित् परिचितशिशुभ्यः प्रदीयते येषां मातरः सदस्यगृहेषु निःशुल्कं कर्म कुर्वत्यो विशेषाज्ञां लभन्ते। एवं तेषां नाम विलिख्यांगुष्ठाङ्कं गृहीत्वा तत् श्वेतं जलं दध्यम्लमिश्रं तेभ्यः प्रदीयते। नगरस्वास्थ्याध्यक्षः प्रधानो नगरवैद्यः प्रतिदिनं प्रस्थत्रयं नवनीतं दशप्रस्थं पयश्चादाय पौरप्रतिष्ठानानुसारि स्वास्थ्यविवरणं ददाति। तेनैवादेशि यत् प्रातःकालिकं पयः प्रवाहिकां करोति, अतः शिशुभ्य उदश्विद्देयम्। आदेशे चास्मिँस्तस्य स्वार्थः सदस्यानाञ्च हितं सन्निविष्टमस्ति। दयनीयेयं दशा देशस्य। पाठशालानां नैव साध्वी व्यवस्था। अध्यापका अपसमये समायान्ति। आगत्यापि केचन विश्राम्यन्ति, अपरे वासांसि प्रक्षालयन्ति, केचन पत्रं लिखन्ति परे छात्रेण गृहादानीतं भोज्यं भुञ्जते, इतरे मित्रैः सहालपन्ति। केचन कृषिसंरक्षणाय छात्रान् प्रेषयन्ति, अन्ये गृहकार्यसम्पादनाय, मध्ये मध्ये कोऽपि कदापि विघ्नरूपं कोलाहलं कुर्वद्भ्य श्छात्रेभ्यो दण्डचपेटादिकं दत्त्वा पुनः स्वकार्ये लगति। अधिकाक्रोशी शिक्षकःश्रेष्ठो गण्यते। योग्याः शिशवस्तत्र स्वबुद्धिं व्यर्थयन्ति। अहह आत्महत्येयम्। लोकस्य भाविन्य आशा एवं दुर्व्यवह्रियन्ते। स्थाने न वायोः, न प्रकाशस्य, न स्वच्छतायाः प्रबन्धोऽस्ति। यत्र तत्र बालानां सिंघाणं, शिक्षकानां निष्ठीवनञ्च प्रसृतं वर्त्तते। भग्नाः पट्टिकाः, खण्डितानि मषीपात्राणि आभुग्नानि पुस्तकानि साट्टहासमध्यापकानां सूक्ष्मेक्षिकां प्रसारयन्ति। श्रुतं, राज्यस्य शिक्षाविभागीयनिरीक्षकः प्रतिवर्षं समेति। केवलं तस्मिन् दिने वणिगागारतो मार्जनी समानीयते, पुनः सा मुख्याध्यापकस्य गृहं नीयते। तद्दिने प्रतिबालं मुद्रैका शुल्कं गृह्यते तेन स निरीक्षको मधुरभोजनेन पुरस्कारेण च प्रसाद्यते। एवं गृहीतबलिः सोऽदृष्टशिशुरपि अध्यापकानुमोदितः शिशूनग्रकक्षासु करोति। योग्याः वराकबाला

अदत्तपुरस्कारा नाग्रकक्षासु स्थानं लभमानाः पाठशालां त्यजन्ति। अयोग्या अग्रकक्षासु नियोजिताः पाठ्यक्रममननुसरन्तः कञ्चित्कालं शिक्षकाग्रहेण यापयन्तोऽप्ययोग्याः निःसरन्ति। शिशुषु न शारीरिकं न वा बौद्धिकं सौष्ठवम्। न वाक्पटुता न च व्यायामनैपुण्यम्। वराका मुधैव जीवनं यापयन्ति। किमेतद् भवत्या युद्धाभिरुचेर्न कटुफलम्।

वाणिज्यविभागस्य स्थितिर्नितरां शोच्या। तस्याध्यक्षः प्रतिमासं नवीनं महत्तरं क्रीणाति। प्रतिमासं पञ्चशतीं मुद्राणां लब्ध्वापि स स्वपुत्रं प्रमुखमुद्योगपतिं चकार। शतशो भवनैस्तस्यायमार्ग एधते। द्वे वस्त्रनिर्माणयन्त्रे सोऽद्य चलयति। वणिग्जातिः सर्वेषां रक्तं प्रशोष्य स्थूलीभूता। मध्याधमवित्तानां परिवारवतां विदुषामपि, कलावतामपि पटूनामपि का दुरवस्था नेति त्वं वेत्सि, युद्धोपनेत्रा नान्यदीक्षसे। अन्नवासोनियन्त्रणेनाद्य का स्थितिरित्यपि तव परोक्षम्—अजीर्णी बुभुक्षितस्य दशां कथं वेत्त। शनिवासरं यावदलब्धमुद्रेण न नियन्त्रितमन्नं प्राप्तुं शक्यं, तदेवान्नं तस्यैव चान्नं द्विगुणितमूल्येनापरसप्ताहे तस्मादेव व्यापारिणः प्राप्तुं शक्यम्, एवं वासोऽपि। निर्धनानां प्रतिदिनप्राप्तद्रव्योपभोगं कुर्वतां स्थितिं त्वं कल्पयितुमकल्पा।

जनस्वास्थ्यस्यापि स्थितिश्चिन्त्या। चिकित्सकाः प्रधानाधिकारिणां तोषाय तेषां सन्निधौ समयं यापयन्ति, उत्तमोत्तमानि भैषज्यानि तेभ्य एव प्रददति च। वराकान् कोऽपि वचसापि न सान्त्वयति। तेऽकाल एव कालकवलिता भवन्ति। शल्यकर्मण्येतेषु वराकेष्वेव हस्तः साध्यते। शल्यकर्मणः पूर्वकर्मरूपमेकं शल्यकर्मावश्यं वराके विधीयते। ततोऽप्राप्तव्यापत् कुशलकर्मा स धनिनि हस्तं प्रक्षिपति। न कस्मै निर्धनाय सलवणं जलं विहायान्यदौषधं प्रदीयते।

जनसेवाविभागस्य स्थितिर्नितरां शोचनीया। चौराः जनसेवाविभागेन सम्मिल्य तेषां सहयोगेन तेषामुपस्थितौ चोरयन्ति। ग्रामीणैर्बद्धाश्चौरा दोषरहिता उद्घोष्य तेषां सौजन्यं वैरञ्च ग्रामीणैः प्रमाणीकृत्य विमुच्यन्ते। न्यायालयेषु न्यायस्य व्यापारः प्रचलति। पीठस्थिता अपि ते कूटशब्दैर्मूल्यं व्यवस्थाप्यासाधुं साधयन्ति। रात्रौ

परिभ्रमन्तः प्रहरिणश्चौराणां सुयोगाय सूचनायै च चरन्ति। कस्यापि विपन्निमग्नस्य विपद्विवरणमपि नोल्लिख्यते विनोत्कोचम्। सतीनां सतीत्वं, धार्मिकाणां धर्मः, धनिनां धनं, सुजनामां सौजन्यं भयाभिभूतम्। किं भावीति विचारे सर्वेऽस्थिरबुद्धयो नोन्नतिं कर्त्तुं समर्थाः। किमेतस्योत्तरदायित्वं त्वयि नास्ति। त्वं केवलं युद्धकर्मण्यतिप्रवृत्ता समृद्धं सम्पन्नं देशं व्यकार्षीः। यदि कश्चन निष्पक्षो न्यायालयो भवेत्त्वां देशद्रोहापराधे आजन्म कारावासं प्रापयेत्। परन्तु मा नाम भूदत्र तव कारावासः, भगवान् जगदीश्वरोऽणुकणसन्निविष्टस्त्वामवश्यं दण्डयिष्यति। शृणु नाधुना जगति कोऽपि युद्धमभिलषति। सर्वे शान्तिसुधां पिपासवः शान्तिवार्त्तामेव शुश्रूषन्ते। निरवधिनिरवच्छिन्नशान्तिप्रिये पवित्रे भारते पुनारक्तकणान् प्रसारयितुमीहसे! नाधुनाऽणुवमानामावश्यकता। जीव, लोकजीवने च सहाया भवेत्येव प्राणिवर्गस्याभिलाषः। परन्त्वमधुना लोकसंहारकृतसङ्कल्पेव शस्त्रास्त्राणि निर्मापयसि! कस्य कृते! साम्यवादस्य प्रबलधारया समाप्लुतेऽस्मिन् जगति तव साम्राज्यवादस्याहैतुक आश्चर्यकरः कदभिलाषः हास्यास्पदम्। जर्ज्जरीभूतः साम्राज्यवादः सहैव स्वैरनुयायिभिरर्थवादादिभिर्लघीयांसमाघातमेव प्राप्य विनाशाय सज्ज इव स्थितः। किं भवती कस्यापि विवेकवतो हृदये साम्राज्यवादसामन्तवादार्थवादान् प्रति श्रद्धां प्रेक्षते !!

"परन्तु देव, एषा प्रवाहपतिता नौरिवाधुना महता वेगेन प्रवहति विचारधारा, किन्तु क्षुद्रोऽस्य कार्यकालः। एषा धारा न चिरं स्थातुं समर्था। अपां शीतत्वमग्निनाऽवश्यं दूरं क्रियते सकृत्, किन्तु स्थायिनी स्वाभाविकी शीतता न सर्वथाऽपहर्त्तुं शक्यते। एवमेव निर्धनधनिनोः सरोगनीरोगयोः दुर्बलसुबलयोः विवेकाविवेकवतोः साम्यं न कदापि स्थिरयितुं शक्यते। एकदैषैव नौः पर्वतादाघातं सम्प्राप्य प्राप्तविवेका प्रत्यावर्त्स्यति। तदा पुनरेष भवतां साम्यवादः पुस्तकालयानां ग्रन्थसंख्यां वर्द्धयिष्यति।"

"अनुमोदयाम्यहमपि तावकीनं विचारम्। मा नाम चलीत् साम्यवाद आलयं, एष नवनवे समुत्सुकस्य जगतः स्वाभाविको धर्मः किन्त्वेकदैष समस्मिन् विश्वस्मिन् प्रचलिष्यति, प्राचीनमर्यादाश्च विनाशयिष्यतीति ध्रुवसत्यम्। एतदपि सत्यं यन्न तव

बाणानां विषाक्तगोलकानां वमानाञ्चावश्यकता। जगच्छान्तिमभिलषति। जगतो जीवनेच्छा प्रबला, एतादृशे जगति न भवादृश्या आवश्यकता"।

"क्षणं विश्रम्यापराधिन्या अपराधं मर्षत्वार्यः। सापराधोऽपि परितप्यमानः साधुभिरवश्यं मर्षणीय एव।"

"क्षणिके परितापे को विद्वान् विश्वसिति। अद्य मृत्युं सम्मुखमुपलभ्य श्मशान-वैराग्यमिव परितप्य पुनर्विस्मृत्य स एव पन्थास्तदेव चक्रम्।"

"देव, सत्यमद्य पर्यन्तमहं युद्धाभिरुचिरासम्, कन्याप्यहं पितुः पुत्रस्थानीया विश्वं विजिगीषुरासं, किन्त्वद्य भवद्विचारमाकर्ण्य युद्धं त्यक्तुं कृतसङ्कल्पास्मि। मम पितू राज्ञो राजेन्द्रपालस्याहमेव युद्धपरामर्शदात्री, अहमेव बहून् राज्ञो विजित्याधुना रामपालेन योद्धुमुद्युक्तवती। परमद्य विचारः परिवर्त्तितः।"

"तिग्ममहसा वीरवरेण रामपालेन सह भवत्या युद्धं सर्वथाऽसमीचीनमासीत्। एतत्त्वं न वेत्सि। अहं युद्धभयङ्करं रामपालं शस्त्रास्त्रविचक्षणां तस्य चमूञ्च सम्यग् वेद्मि। तेन युद्धे निश्चितं भवत्याः पराजयो हस्तामलकवत् प्रत्यक्षम्। अहमैहिकीं सर्वां शक्तिं विज्ञातवानस्मि यत् कीदृशं सारं श्रीमती वहति।"

"शान्तं पापम्, अहं भगवन्तं सूर्यम्, परितः स्थितान् पादपान् वनदेवतां जीवनदातारं भवन्तञ्च साक्षित्वे न्यस्य क्षत्रियसर्वस्वं धनुश्च स्पृष्ट्वा प्रतिजाने यद् विध्वंसनात्मकं कार्यं विहाय राष्ट्रोन्नत्यै सर्वात्मना लगिष्यामि। तुष्यत्वधुना देवः।"

"नितरां प्रसीदामि। अस्तु, अहमेकस्मै महते कार्याय कृतसङ्कल्पोऽविलम्बं यामि, देवो द्रढयतु तावकीनं बलम्।" अप्राप्तोत्तरोऽहं श्रीमद्दिशि प्राचलमिति।

जनानन्दिने चन्द्राय साधुवादं वितरत्सु परिजनेषु "चिरञ्जीव, तावकं बुद्धिबलं विमृश्य नितरां प्रसीदामि" हर्षाश्रूणि मुञ्चता राज्ञा प्रत्यपादि। "परन्तु पुत्र, इतोऽप्यधिकं गरीयः कार्यं समापतितं येनाहं विषीदन् वक्तुं पुरः स्थातुञ्च न शक्नोमि। नैतस्मिन् कार्ये त्वत्तोऽधिकं कमपि समर्थं प्रेक्षे। परश्वो रात्रौ मनोरमया सह चन्द्रगृहे सुप्ता कमला प्रातर्न लब्धा······

येषां शृङ्गारमुख्या अहमहमिकया तालवृन्ते नियुक्ता
वैदर्भ्याद्याश्च येषां पदतलदलनप्राप्तसौभाग्यहृष्टाः।
श्लेषः श्लिष्टोऽङ्गमर्दे रसिकजनमुदे शास्त्रिणां श्रीनिवासा-
नामैत् काव्ये तृतीयः परिमलललितः कान्तनिःश्वास एषः।

इतिश्री—
मान्यमूर्धन्य—विद्वत्पारायणिक श्रीमन्नवरङ्गरायात्मजेन
काव्यालङ्कारेण श्रीनिवासशास्त्रिणा रचिते
काव्यकोविदकुमुदकुमुदिनीनायके चन्द्रमहीपतौ
तृतीयो निःश्वासः

———

चतुर्थो निःश्वासः

सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्त-
निःष्यन्दनीरनिकरेण कृताभिषेकाः।
अर्कोपलोल्लसितवह्निभिरह्नि तप्ता-
स्तीव्रं महाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः॥

सुभाषित रत्नभाण्डागार

जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्॥

भर्तृहरिः

धैर्यं धामवतां धनम्

त्रिविक्रम भट्टः

सततं भ्रान्तमस्मन्मनः सर्वत्रान्यविषयावगाहनेन। अधुना वयं चिरविरहितां राज्ञो नवेन्दुपालस्य परिषदं यामः। यया वियुक्तानामस्माकं दिवसानां तु कथैव का वर्षाण्येव व्यतीतानि। यतश्चन्द्रो गतोऽस्ति तत एव नास्माभिरशक्यत सभां द्रष्टुम्।

अधुना तस्यां कापि तन्द्रेवाधिष्ठिता। आलस्यस्य यौवराज्यम्। मूकानां विवादः। 'किमिति' नेत्रसङ्केतस्य नृत्यम्। लिखतां लेखकानां लेखनीशब्द एव वाद्यम्। अवस्तार-किङ्किण्या नूपुरशिञ्जितम्। गानं करुणायाः, गायिका चोदासीनता। कदाऽया-

स्यति चन्द्रः ? क गतश्चन्द्रः ?? कमपि पृष्ट्वा गतश्चन्द्रः ? कदापि केनापि कुत्रापि गमनाय श्रु तश्चन्द्रमुखादितिप्रश्नपारम्पर्यं विचारचातुर्यमातुर्यञ्च सभाभवने ।

भविष्यद्विदां ज्योतिर्विदां पण्डितानाञ्च प्रासादे सम्मेलो दरीदृश्यते। आदर-सम्भारेण ते पूज्यन्ते सत्क्रियन्ते कौशेयोत्तरच्छदासु सौवर्णीष्वासन्दीषु साभ्युत्थानं समुपवेश्यन्ते ।

केचन महोष्णीषास्तिलकाङ्कितमस्तका आप्रपदीनं दधतो राजतीं यष्टिं कलयन्त-श्श्मश्रु शालिनः प्रगल्भभाषणै र्महीपतिं मोहयन्तो धनलिप्सयाऽऽडम्बरताण्डवं विरचयन्ति।

अपरे च जटिला आत्मानं देशे भगवतीभक्तं विख्यापयन्त आरक्तकौशेयवसना भाषणभूषणा भूपतिं तोषयन्ति । इतरे च दुग्धव्रतिनोऽखिलां सिद्धिं कर एव कलयन्तः शोषितकाया भवनं प्रभासयन्ति ।

परं कोऽपि सत्यं "श्वः परश्वो मासतो वर्षतो नवाऽऽयास्यति चन्द्र" इति कथयति। पुत्रप्रणयिनी जननी उपजरसं वयः समाश्रिता "हा चन्द्र ! मन्मनःकैरवविकासक ? चन्द्र ? क्व गतोसि अप्रसूच्य प्रियां मातरम्"—इति विलपन्ती तस्य शयनागारं, प्रसाधनसामग्रीं वाजिनञ्च प्रतिक्षणं प्रेक्षमाणा, स्मारं स्मारमहर्निशमश्रु पूर्णलोचनसरोरुहा स्वास्थ्यमेव गमयाञ्चकार ।

महाराजो रुग्णः प्रजागरकृशो निमीलन्नेत्रयुगलो गतसत्व इवोपबर्हमाश्रयन् स्थितः। विदूरे चैको भृत्यः प्रलम्बदाम्ना व्यजनमाकर्षति । न कोऽपि शक्तो मौनप्रभोः प्रभुत्वमपहन्तुम् ।

"विद्याधर ? हरि—सुभद्रौ महत्या प्रतिज्ञया गतौ, अपि प्रतिनिवृत्तौ ?" तन्द्रा-साम्राज्यं मर्दयन्महाराज आह ।

मन्त्री—आम् देव ! परिभ्रमणकृशकृष्णविग्रहौ म्लानमुखौ प्रातरेव प्रतिनिवृत्तौ। परन्तु......

महा०—(मध्य एव) अकृतकार्यौ । किमेतदेव ।

मन्त्री—आम् देव ?

महा०—एतदेव सम्भावितमासीत् । शतवर्षमिव वर्षचतुष्टयं वीतम् , नास्ति कोऽपि समाचारो जीवति नवेति, प्रतिदिनं पटवः प्रतिदिशं प्रेर्य्यन्ते, परं वेतनभुजः पटवः प्रेक्ष्यन्ते,

चतुरशिरोमणीनां समवायः समीक्ष्यते, परं कस्यापि मुखमण्डलं कृतकृत्यत्वेन साभं नावलोक्यते। प्रतिदिनमेतदेव श्रूयते, मद्भाग्यत एतद्भिन्नाऽक्षरावलिरेव लुप्ता। (किञ्चिन्निःश्वस्य) मन्त्रिन्? उद्विग्नोऽस्मि, अस्माद् दुःखोदधे र्निःसर्त्तुं मर्त्तुं कामोऽस्मि। बहु सोढम्, इतोऽधिकं सोढुं नालमस्मि।

मन्त्री—नैतच्छोभते धैर्यधारिधुरन्धरे भवति भगवन्! पुरा किल नलरामयुधिष्ठिरादयो विपत्तिमनावृतेन वक्षसा सहन्तः कालेनातुलां सम्पदं प्राप्य प्रचुरं यशस्तेनुः। शक्तिधरोऽप्यात्मनाऽस्मिकार्ये लग्नोऽस्ति .....।

महा०—(मध्य एव)—अपि अप्यासादितः कश्चन समाचारश्शक्तिधरस्य?

मन्त्री—देव, अद्यैव तेनागमनं सूचितम्। मन्ये कृतकार्यः स निवर्त्स्यति। सोऽपि समदुःखसुखः।

महा०—(विमनायमान इव) आम् लक्ष्यते।

अधुनैव वेत्रहस्तो दौवारिकः प्रविश्य त्रिर्जयं व्याहृत्य "देव? श्रीमन्मन्त्रिकुमारोऽपरेण केनचिदज्ञातनामधेयदेशजातिना सार्द्धं श्रीमच्चरणौ प्रणिनंसति, श्रीचरणौ प्रमाणमित्यूचे"।

महा०—[उत्थापितनयनो दौवारिकं निपुणं निरीक्ष्य] आम् प्रेषय। दौवारिक, कावश्यकता शक्तौ व्यवहारस्यामुष्य, अस्तु, शीघ्रं प्रेषय।

प्रणम्य प्रयाते प्रहरिणि समायातः ससहचरः शक्तिधरः। महाराजं मन्त्रिणञ्च प्रणम्य, राज्ञा—"पुत्र! शक्तिधर! चिरञ्जीव"—इत्युच्यमानस्तन्निर्दिष्टकाष्ठपीठिकायामुपविष्टः पार्श्वे च सहचरः।

शक्तिधरोऽसौ वर्णेन शोणितप्रभः, आकृत्या सुषमाधरो मञ्जुलो वयसा पञ्चविंशतिवर्षदेशीयो, जनपदजेगीयमानमेध्य[1]-वीध्र[2]-विशङ्कट[3]-पुरुह[4] शेमुषी[5]गुणः, कोमलकलेवर उत्साहसखः प्रभावितसमस्तसभोऽस्ति।

सहचरश्चास्य विवर्णः प्रवृद्धश्मश्रुर्जटिलो विततततनुयष्टिर्धमनीततः, प्रस्वेदविन्दुपूर्णकपोलपल्वलः पीतदशनोऽसितवासा युवापि वृद्ध इव प्रतीयते।

अथ महाराजो नेत्रसङ्केतेन सूचयन्नुवाच—

अपि कुशलं पुत्र? त्वमपि नितरां कृशीभूतः, कोऽयं समानीतस्त्वया।

---

१ पवित्रम्। २ विमलम्। ३ विशालम्। ४ विपुलम्। ५ बुद्धिः।

शक्ति०—श्रीचरणकृपया कुशलम्। महाराज ! किं विस्मर्यतेऽसौ चन्द्रमित्रं विश्वशेखरः। यो हि युवराजमहोत्सवे तस्मा उच्चकुलप्रसूतमश्वमदात्।

महा०—(विस्मृतं पूर्वोदन्तं स्मारित इव, पूर्वानुभूतां युवराजसमयच्छटामनुभावित इव विस्फारितनयनः) आः (क्षणं निःश्वस्य) यच्चारुह्य चन्द्रोऽस्मान् दुःखिताँश्चकार...

शक्ति०—(कथयतो महाराजस्य मध्य एव) देव ! प्राप्तिसाधनमप्येष एव।

पीयूषपरिप्लुतामिव मधुरां श्रोत्रस्रोतसा मानसमानन्दयन्तीं वाचमिमामाकर्ण्य श्रोतुमधीरो महाराज ऊचे, अप्यासादितः कश्चन समाचारः स्वमित्रस्यापि पुत्र ? कच्चित्तस्य क्वापि गमनपदवी लब्धा ? अपि कुशली क्वास्ते चन्द्रः ?—विशकलय्य कथ्यतां स्वकीययात्रा-वृत्तान्तः।

शक्ति०—देव, अस्मान्नगरान्निर्गतोऽहं विचित्रविचित्राणि, शोभनशोभनानि वनानि स्थानानि नगराणि कन्दराश्चापश्यम्। परतश्च नर्मदाकूलशैलशिलागुहासु जातशङ्कश्चिरं तत्र वासमकल्पयम्। नर्मदायाः सुरम्योऽयं प्रदेशः। उभयतस्तटं हरिणमुख-यन्त्रकर्त्तिता दूर्वा कूलकान्तिं कुर्वत्यासीत्। विदूरं यावन्नितरामकुटिला नर्मदा श्वेतसूत्रमिव प्रत्यैत। कूले श्लक्ष्णाः स्नानशिला अतीतकाले पुरुषसत्ताम सूचयन्। एकतः कूले नितरां निविडं वनमासीद्, द्वितीयतश्च विरलपादपः समः प्रदेशः। एकतः शार्दूल-हरि-वराह-भल्लूक-खड्गिनां प्राज्यं राज्यं, द्वितीयतश्च मृग-चमर-शश-गवय प्रभृतीनाम्। एकतो निशितनखविदारितकरिणां हरीणां क्ष्वेडा[1], परतश्चाक्रान्तकदम्बकाण्डानां केकिनां केकाः। एकतः समूलपादपोन्मूलनं बृंहितं[2], परतश्च फलास्वादहारि रुतम्[3]। परस्परविरोधि प्रदेशद्वयं विभजन्ती नर्मदा प्रवहन्त्यासीत्।

अहं नर्मदारोधसि स्थितासु शिलासूपविष्टोऽनन्तानन्दसुधां पिबन् कदाचन हरिणशावकानां स्वाभाविकीं तरलतां, कदाचन वन्यशशकानां सैकतप्रदेशे निश्शङ्कं क्रीडनं कदाचनोपनर्मदकर्दमेषु [4]लुलायलुण्ठनं, कदाचन पादपेषु कपिपुञ्जचप्लवनं कदाचन [5]भूरिमायसमुदायमायाः पश्यन्नवर्त्तिषि।

नर्मदायास्तीरे मुनिभिरध्युषितचर एक आश्रम आसीत्। अतीतकाले केनापि

१ क्ष्वेड़ा = सिंहनादः। २ बृंहितं = करिगर्जितम्। ३ तिरश्चां वाशितं = रुतम्। ४ लुलायो महिषः। ५ भूरिमायः शृगालः।

विरक्तेन तपस्विना स स्थापितो भवेत्। शतशस्तापसकुमारास्तस्मिन्यवसन्, हविर्गन्धिविभावसुधूमः पार्श्वप्रान्तमपुनात, परमद्य [1]ध्वंसावशेषमात्रमासीत्। बिल्ववृक्षाणां सान्द्रच्छायासु निर्मिताः परिधयोऽद्यापि यज्ञवेदी आम्रस्थाणुशिवकेषु[2] धेनुदामनीघर्षणगर्त्ताश्च सौरभेयीणां प्रचुरां सम्पदमसूचयन्।

उद्यानं-यस्मिन् तापसाः सविभ्रमं व्यहार्षुः काननीभूतमासीत्, केवलं क्वचन क्वचन स्थिता वन्यदाडिमा बीजपूराश्च तस्य प्राचीनपरिचयमसूचयन्। कोणेष्वद्यापि देवमन्दिराण्यासन्, भग्नानि नितरां जीर्णानि। तेषां भित्तीर्विदार्य बहवः क्षुपा निर्गता आसन्। अग्निमवेदिकानां—यासु वेदव्रतिनो वेदमध्यापयामासुः—लोष्टानि प्रकीर्णान्यासन्। तत्र [3]वामलूरपूराणां पिपीलिकापूर्णानां प्राचुर्यम्।

एकं विशालं भग्नावशेषं विनाऽत्र किमपि नासीत्। परमद्यापि—सम्प्राप्तदशमीकः[4] सोऽतिथिसेवां न व्यस्मरत्। विदूरयात्रिणोऽद्यापि तस्य च्छायासु विश्राम्यन्तो ग्रीष्मभीष्मस्य प्रचण्डचण्डकरकिरणबाणानपानैषुः। विस्मृतमार्गा [5]अध्वनीना अद्यापि प्रावृषेण्यान् झञ्झावातानसहन्त। लघुलघुभिरपि स्वल्पस्वल्पैरपि फल जठरदेवमतोषयन्। यूथमुक्तान् मृगानद्यापि स स्ववेदीनामन्तः शं शाययित्वा निर्विघ्नं रात्रिं व्यतियापयितुं सहायिष्ट। अर्जुनशाखासु निषण्णाः पक्षिण आश्रमस्यातीतगाथामद्याप्यागन्तुकानश्रावयन्। नगराणां मदमत्तमानवेषु प्रासादेषु, विलासशालिषूपवनेष्वानन्दस्य शततमोऽप्यंशो नास्ति यस्तत्राश्रमस्य भग्नावशेषेष्वासीत्। तस्य मूकस्वरेण करुणरागे, अकृत्रिमौदासीन्ये भूतगाथायाञ्चैका·विलक्षणा मादकताऽऽसीत्। माधुर्यपूर्णं प्रकृतेर्दृश्यमासीत्।

सोऽयमाश्रम एव ममाधुना वास आसीत्। अहमितस्ततः सन्देहस्थानेषु परिभ्रम्य तत्रैवातिष्ठम्। तस्य भवनानि सम्प्रति वासयोग्यानि नासन्। आश्रमस्य मध्य एकः पिप्पलस्तपस्वीव स्थित आसीत्, को जानीते कतिभिर्वर्षैस्तपस्यन्, जीवने कीदृशैः शत्रुवातैर्दावानलैश्चायं व्यग्रितो भवेत्, परन्त्वासीद्विस्तृतो निश्चलो निष्कम्पश्च। अधुना तस्य त्वचा वार्द्धक्यं व्याञ्जीत्। शाखासु बालत्वं युवत्वञ्च वीतमासीत्। तस्य शाखासु

---

१ खण्डहर—इतिभाषा। २ खूंटा। ३ चींटियों का स्थान। ४ दशमी = अन्तिमावस्था। ५ अध्वनीनः—पथिक।

सहस्रशः पक्षिणः कुलक्रमेण न्यवसन्। शेष इव सोऽपि तान् स्वशिरसाऽधार्षीत्। ते तत्रैव न्यष्ठीवन्नमूत्रयन्नहदन्ननृत्यन्नकूर्दन्तारुवँश्च, परन्तु स सर्वं सह आसीत्।

मया तेषां समीपे पिप्पलस्यैकतमे उच्चैः प्रकाण्डे काण्डे एको मञ्चो व्यरचि। महता श्रमेण तालकाण्डै वंशदण्डैरेकाकी तमकार्षमेव। सुन्दरसुन्दरैः कोमलकोमलैः पुष्पपत्रैराच्छादिता सा कौशेयास्तरणमप्यत्यशेत। वंशानामेका छिद्रमयी भित्तिरपि मया परितो निरमायि। अहं विदूरात्कार्यं कृत्वा समायन् सस्नेहं सगर्वं तां मनोरमां कुटीं पश्यन्नासम्। मन्नेत्रे तस्या वियोगं न सहमाने आस्ताम्। सापि मां नेत्रैरिव सहस्रशश्छिद्रैरनिमिषनयना पिबन्तीवासीत्। अहं तस्या कोणे बहुविधानि फलानि रक्षन्नासम्। तान्येव मम जीवनस्य साधनान्यवर्त्तन्त। कदाचन तृषितो रात्रौ हिंस्रभयङ्करं नद्यास्तटमगच्छन् वन्यदाडिमीफलानां रसमेवापिबम्।

एकदाहं सर्वं दिनं कार्ये सुव्यग्र आसम्। कः पर्यमासीद् यत् कति गव्यूतयो मयाद्यावजगाहिरे, परन्तु मम शरीरं नितरामशक्तमभूत्। श्रान्तस्य मे सोऽपूर्वो दिवस आसीत्, मच्छरीरं स्वेदरूपेण बहिर्निरैत्। अहं नर्मदापवित्ररोधसि शिलाफलकमेकमधिशयानः कदाचिदात्मानं, कदाचन भयङ्करं काननं, कदाचन स्वस्याबहुदर्शितामकृतकृत्यताञ्च कदाचन वन्यपशून् कदाचन चन्द्रं, कदाचन भवन्तं, विमृशन् श्रममपनुदन्नासम्।

दिनपतिः पतन्नासीत्। दिनमपि तच्छोके सुसेवक इव म्लानमभूत्। अकस्माद् भीषणभीषणैर्धूलिमिश्रितैर्वायुपर्वतैः पर्यपूर्यत पश्चिमाशा। सुदक्षसेनानीसञ्चालितैः पूर्णसाहसैः सैनिकैरिवाकाशक्षेत्रं व्याप्तं पवनप्रेरितैर्धूलिधराधरैः।

मदीयाङ्गेषु मृतप्रायेष्विव शिथिलेष्वभिनवं भयं सञ्चरितम्। जीवनधारणस्य ममतैकं विलक्षणं साहसमकरोत्, श्रान्तेष्वङ्गेषु नवीना शक्तिः स्फूर्त्तिः समागच्छत्। अहं सत्वरसत्वरं पिप्पलाभिमुखोऽचलम्। मन्दवायोरेकसञ्चारेणैव विश्वं पीतमासीत्। एवं प्रत्यैद् यद् विराजो भगवतः स्खलितं पीतमम्बरं जगति प्रसृतम्। अकस्मात् पीततां रक्तता समपिबत्। परन्तु रक्ततापि सुचिरं न स्थिता, क्षणेनैव तद्रूपं कालिम्नि परिवर्त्तितम्। हस्ततो हस्तो नावालोक्यत। प्रबलपरिश्रमेणोत्पाटिताभ्यां चक्षुर्भ्यां पुरः स्थितमपि वस्तु नालक्ष्यत। प्रचुर-

शक्तिभिः प्रकाशदीपैरपि तिमिरदुर्गं नाशितुमशक्यमासीत्। महेश्वरीया मायेव भुवनं व्यामोहयत्। परन्त्वहं मत्कुट्यां प्रविष्ट आसम्। मया दुर्गं प्राप्त मितीवाहं व्यश्वसम्। काननं वन्यपशुपक्षिणां रोमाञ्चकारिणा कोलाहलेनोद्विग्नमासीत्। सर्वे स्वाश्रयप्रवणा आसन्। सौभाग्येन मुहूर्तात्परतश्शनैश्शनैर्वियद्विशददशामापत्। निश्चला उडवो विपद्ग्रस्ताकाशेन सहानुभूतिमिव प्रकटयन्त्य आप्राकाशन्त।

यथाकथञ्चिन्नीरवता विस्तृता। वनभूमिः स्वपुत्रान् लालयन्तीव गाढनिद्रितांश्चकार। अहमपि फलानि प्राश्य सुप्तः परन्तु सशङ्कः सचेष्टश्च। शिरोवेष्टनं शिरस्येवासीत्, कृपाणः कटितटे लग्न आसीदेव, वस्त्राणि सर्वाणि परिहितान्येवासन्। केवल मुपानद्युगलसुन्मोच्यैकस्मिन्कोणे निहितम्। कुटीरस्यै एकहस्ततोऽपि न्यूने द्वार एवाहं शयान आसम्।

अकस्मान्मम निद्रा भग्ना। मम धैर्यधारि हृदयमधीरतामभृत। तस्य गतिः-शततोऽप्यधिकाऽऽसीत्। आकस्मिकेन भयेनोद्विग्नः सहसा पार्श्वनिकुञ्जाद् गर्जनमश्रौषम्। उपविष्टश्चक्षुषी विस्फार्याद्राक्षं यदधो निकुञ्जे जिह्वया सृक्किणीं लिहन् सिंहो भ्रमति। तस्याङ्गारप्रतिमे अक्षिणी नैशिकमन्धकारं कर्त्तयन्ती द्योतेते। पुच्छमुत्थाप्य स गभीरगभीरं सत्वरसत्वरं बुभुक्षित इव पादान्न्यस्यन्नितस्ततोऽभ्रमत्। तस्य भयङ्करा दंष्ट्राः सन्तमसेऽपि प्रत्यक्षमैक्ष्यन्त। तस्योत्पाटितं मुखं सुपटो-राखेटिनः पाटवोत्पाटने पटुासीत्।

तस्यैका लघीयसी दृष्टिर्मत्कुटीरे न्यपतत्, एकेनैवोत्कूर्दनेन स मत्कुटीरोपर्यासीत्। हृदयभावश्चक्षुषोरग्रतः समायातः। स निश्शङ्कं गर्जन् कुटीरच्छत्रे भ्रमन्ना-सीत्। तस्य मुखादाममांसगन्धो मन्मानसमुदविजीत्। मर्मरशब्दैः कुटी स्वस्याः शोचनीयां दशां मह्यं सकरुणं न्यवेदयत। परन्तु सम्प्रति जीवनसंशीतौ चिन्ताचक्रमसमीक्ष्य हस्तधृतनिस्त्रिंशोऽभीरिवाभूवम्। परं मम कुटी सन्त्रस्तैवासीत्। तस्य निशिता नखा वंशप्राचीरस्य पार्श्वतोऽन्तः प्रविष्टा आसन्। सिंहवल्गितेन पर्णकुटी सर्वाङ्गैरकम्पत। पिप्पलशाखा मर्मरायन्त्योऽ-त्रुट्यन्। कुटीप्रवेशाय केवलमेकमेवासीद् द्वारम्। यस्मिन्नहं स्थित एवासम्। मयाऽतुलसाहसेनाक्षिणी उपरि कृते स भृशं गर्जितः। द्वावङ्गारौ मम नितरां समीपे

ज्वलन्तावास्ताम्। तस्य सक्रोधः श्वासः कुटीमपूरयत्। सिंहो भीषणं सङ्गर्ज्य उच्छल्य द्वारस्य सम्मुखीनकाण्डे समैत्। मयापि खड्गोऽक्षिणी निमील्य प्रहृत एव। परन्तु सिंहः प्रहारं वञ्चयन्नुच्छल्य पुनर्महता वेगेन कुटीरे पतितः। अधुना कुटी विश्रृङ्खला जाता। तस्या अङ्गानि शिथिलान्यभवन्। सा कड कड····शब्देन स्वशरीरं सिंहनखाग्रावहौषीत्। अनेनाकस्मिकेन व्यतिकरेण सन्त्रस्तः सिंहोऽपि सङ्गर्ज्य एकतः संकूर्द्य कुञ्जलीनोऽभूत्। मया च तस्मै नमोऽकारि। कुटीदशा विचित्राऽऽसीत्, भूकम्पोत्तरं नगरस्य संग्राम-सम्भग्नगात्रस्य वीरस्येव।

प्राची प्राकाशत। सूर्यदीपमादाय भुवननीराजनामिवाचरन्ती सा नितरामराजत्।

अहं प्रातराशं विधाय गन्तुं व्यचारयम्। तस्मात्स्थानान्मम मनस्तृप्तमासीत्। क्षणं भग्नगात्रां कुटीं, क्षणमाश्रमं क्षणं पिप्पलं, क्षणं मत्प्रतिवेशिनः[१] पक्षिणः सस्नेहं वीक्ष्य पार्श्वपर्वतकन्दराभिमुखमगच्छम्।

उपवनमेवासीत् पर्वतः। वनपर्वतयोर्मध्ये एकं विस्तृतं सुरम्यं चक्षुःसवस्वं क्षेत्रं पार्वतनिर्झराणां विमलजलेन सिक्तमुपवनतां दधदासीत्। एकतः शिल्पिनिर्मितेव सरला प्रोच्चा वंशभित्तिरभ्राजत। अन्यतश्च शिखरैराकाशं स्पृशन् विविधद्रुमलतागुल्मगहनः शैलोऽवनितलमाक्रम्य वियत्सुधामापिबद्भिः करीरपनसतिनिशपारिभद्रार्जुनादिभि निर्झराणामनवरतसणत्कारेण च व्याप्त आसीत्।

अहमेकस्य सच्छायमहीरुहस्य शीतले तल उपविष्टः पार्वतीः घनघना वृक्षावलीः प्रेक्षमाण आसम्। अकस्मान्मया दृष्टं यत् सान्द्रद्रुमनिलये आलपन्तौ द्वौ पुरुषौ पर्वतपाषाणविकर्त्तननिर्मितायां गुहायां प्रविशतः। कस्तस्या निर्माणकाल आसीत्, कियता श्रमेण कतिभिश्च वर्षैः सा सम्पादिता भवेत्, परमद्यापि सुदृढा। गुहाभवनान्निर्गतो "हे प्रभो? हे नारायण? हे दीनबन्धो? मा मां जीवये"ति विरलविरलोऽस्फुटाक्षरो ध्वनिर्मत्कर्णौ सतर्कावकरोत्।

अस्खनपदन्यासोऽहमपश्यं यल्लोहदण्डद्वारायां कारायां विश्वशेखरः प्रवृद्धश्मश्रुः कृशः

---

१ पडोसी—इतिभाषा।

कृष्णो दीनो म्लानोऽपरिचीयमानोऽस्ति। तन्मुखादेव तानि पदानि निःसरन्ति। तादृगवस्थं दृष्ट्वा हृदयमसाधारणया करुणया पूर्णम्। लघुरेव [1]विष्कम्भक आसीत्तदग्रे, पाषाणपातेनैव तं सद्योऽभिदम्। ततश्चैनं यथाऽऽनीतवानस्मि, तथा श्रीमतामग्रे स्थित एव। अनेन कथितं चन्द्रगमनवृत्तमिति।

ततश्च सभासदां साधुवादेन सहैव विरते श्रीमति शक्तिधरे प्रवर्द्धमानायाञ्च महाराजस्याधीरतायां मौखर्यं भजत्सु च संसद्येषु शक्तिधराल्लब्धसङ्केतः स व्यजिज्ञपत्।

देव! केवलं देहमात्रभिन्ने परमसुहृदि श्रीमति चन्द्रकुमारे गते द्वित्रेषु दिनेषु व्यतीतेष्वहं मम निकेतनस्य क्षौमे[2] सुप्त आसम्। ममाकस्मान्निद्रा भग्ना। निशीथः। सर्वतः प्रसृता च भीषणा निस्तब्धता। क्रूरतामन्तर्धर्त्तुं तमस्विनी च नितरां तिमिरिणी। झिल्लीकरुणझङ्कारमन्तरा कोऽपि शब्दः श्रुतिपथं नावातरत्। समस्तं जगदापादमस्तकं भयमग्नमिवासीत्। क्षिप्रश्राविणा श्रवणेनानुभूतो भवनस्याधोभागे कश्चनापूर्वो ध्वनिः। उद्विग्नो भीतश्चाहमसामयिकेन ध्वानेन, भित्तिमञ्जूषातः पञ्चगुटिकं [3]भिन्दिपालमेकं निःसार्य कुक्षि [4]गुटिकायां संस्थाप्य, नागदन्तेषु लम्बमानानां चन्द्रहासानामेकतमं लघीयांसं हस्ते कृत्वाऽशब्दितचरणः सोपानैरवतीर्याऽदर्शं यन्मम दासा लुप्तचेतना एकस्मिँस्त्रिद्वारे साज्ञानं शेरते। तान् विहायध्वानं विचिकित्सता मया कवाटसूक्ष्मच्छिद्रनिर्गमनलघु दृष्टं ज्योतिः। कपाटे पादाघातेन निरचैषं यत्कपाटयुगलमन्तरतो [5]मुद्रितमस्ति। अनुभूतिः प्रत्यक्षता मधृत। कतिचन पुरुषाः शनैरालपन्तश्छिद्रितभित्त्या मम कोशजातं सत्वरसत्वरं बहिर्निरक्षिपन्। [6]विमर्दप्रकाशिकाप्रकाशश्चाखिलं वस्तुजातं प्राकाशत। नैते द्वारमुन्मुद्रयिष्यन्तीति पर्यालोच्य बहिरागत्य दृष्टवान् यत् त्रयः पुरुषा ममकोशजातं प्रमोष्य पोट्टलिकास्वाबध्य वाजिष्वायोज्य गन्तुं सज्जाः। त्रयः पुरुषाः शरीरेण, साहसेन, बुद्ध्या, शक्त्या, शस्त्रेण, छलेन, क्रोधेन च गरिष्ठाः,—एकश्चाहमिति विचार्यापि नाभवमहं शक्तश्चोर्यमाणं कोशजातं द्रष्टुम्।

---

१ ताला—इतिभाषा। २ उपरकीमञ्जिलमें। ३ पिस्तौल। ४ पेटके पास की जेब। ५ मुँदा हुवा—इति भाषा। ६ टॉर्च लाईट।

"तिष्ठत रे! चौर्यकलङ्कपङ्किलाः! दुष्टभ्रष्टाः—इति सगर्जनमाभाष्य सदश्वमेकमारूढो निष्कोशकृपाकृपणकृपाणपाणिरहमन्वधावम्। किञ्चिद्दूरं गतो व्यचारयम्, यदेते निर्दयाः साहसिका—एकाकिनं मां हन्युस्तदा दुःखदमिमं संवादं कः श्रावयिष्यति स्वजनसम्बन्धिनः। सर्वैं मित्रबान्धवैरविज्ञात एव मरिष्यामि। मम हृदयगतिः पदे पदे व्याकुलता चावर्द्धत। उद्गताः वीरभावा एकपद एव विलीना। मुखमण्डलं खिन्नम्। करोऽकम्पत। शरीरं शिथिलतामभाषीत्।

अकस्मादश्वः—"हिँ हिँ शब्देन स्तब्धतामभनक्। तद्वाचि उत्साह आसीत्, स्वामिभक्तिरात्मविश्वासश्च। अकस्मात्स्थिरमभूद् हृदयम्। भीतिर्वीता। अहमसहायोस्मीति भावना नष्टा। पशुरयमस्माकं किमुपकरिष्यतीति विदन्नपि तस्य ह्रेषया—नवीनेनोत्साहेनाहं प्रतिबोधितोऽद्भुतधैर्येण पूर्णः।

सम्प्रति मदीयो वाहो वातेन समलपत्। तेषां वाजिनोऽपि वेगेन मार्गमतियन्त आसन्। परन्तु ममाप्यश्वस्तेभ्यो विदूरो नासीत्। को जानीते कति क्रोशमध्वानमहं व्यत्यायं, परन्तु नक्षत्रेक्षणेन रात्रिः स्वल्पैवावशिष्टा प्रत्यैत्। तेऽकस्मादश्वेभ्योऽवतीर्णाः। अहमप्यवतीर्य वल्गां करीर शाखाप्वायोज्य मर्यादया स्थितो भिन्दिपालं निःसार्य प्राहरम्। चतुर्दशी चन्द्र उदैत्। व्यग्रस्य ममाक्षिणी सम्यङ् नापश्यताम्। तथापि द्वौ पुरुषावाहतौ, एकञ्च परेतराजस्याध्वनीन मकरवम्।

घना वृक्षालिः। चन्द्रप्रकाशानाश्यं तमः। जनसम्पर्करहितश्चायं प्रदेशः। यदाहं मामकीनं धनराशिं जिघृक्षुरग्रपदे प्राचलं, तदैव "वीर! वीर! पश्यसि! पश्यसि"—इति समश्रूयत कर्णकुहरविस्फोटनः करालो घोर आवादः[1]। श्रुत्वा चैतच्छुष्यद्गलनले कुण्ठित-रसने विधूतधावनशक्तौ प्रोच्छलद्हृदये कम्पमानकरकरवाले भीत्या निपतित-भिन्दिपाल उत्थितरोमनिकुरम्बे स्वेदार्द्र स्तब्धशरीरे मयि निकटवृक्षव्रजान्मङ्क्षु निःसृतः कज्जलजललालितेनेव, कालकम्बलेनेव मषीपूरपरीतेनेव अशेषशेषादिसरीसृपसमूहनिर्मितेनेव, अखिलैलाकलङ्कपङ्कनिकुरम्बपरिरम्भितेनेव, कासरचर्मणेव काककोकिलकुलेनेव, षट्पदसंहत्येव महेश्वरीयभावेनेव, हत्यावृन्देनेव वैश्यहृदयेनैवाप्रपदीनेन

१ आवाज।

कृष्णपटेन समावृतशरीरो नीलवस्त्रावगुण्ठिताननो भयङ्कराकारः साकार इव कालो दृढशरीरो मल्ल इव हस्तधृतभल्लः कश्चन ना।

साक्षान्मृत्युमिव पुरःस्थितं तं वीक्ष्य शोचन्नहमात्मानं धिक्कृतमकार्षम्। नश्वरवृत्ते वित्तस्य गरीयसा लोभेन प्राणानपि स्वहस्तेन संशीतिमारोपयता मया स्वस्याविमृश्यकारित्वं व्यक्तम्। तरङ्गचञ्चला चञ्चला जीवनपारावारे समभ्येति नश्यति च बहुशः, परन्तु तनुरत्नमिदं न पौनःपुन्येनाप्यते, हन्त! कथं निःसर्तव्यमस्मान्मृत्युमुखात्। कथमस्य विपत्-पारावारस्य परं पारमाश्रयेयमिति चिन्ताकुलो मरणमवश्यं सम्भाव्यमानः सत्वरमेवा-सिना प्राहरम्।

परन्तु बलिष्ठेन प्रकोष्ठे गृहीतोमुना कालेन केवलं रुषा निःश्वसन् अन्तःस्थितं क्रोध-मक्षिभ्यां वमन्नासम्। तावदेव वायुध्वनिना[1] संकेतितः कश्चिदागत्य शिरसि विषमय-प्रचुरपरिमलमूर्च्छादायकौषधपरीतं वस्त्रं प्राक्षिपद्येन घ्राणाग्रवर्त्तिनैवाहं नष्टसंज्ञः संवृत्तः। नष्टमूर्च्छश्चात्मानं लोहदण्डनिर्मितद्वारे कारागारे प्रापम्। यस्मिँश्च कम्बलद्वयं प्रावरणविस्तरार्थं, पयःपूर्णघटं भग्नतुम्बीपात्रं विना नान्यत् किमप्यासीत्। कश्चिन्मूको दासो द्वित्रैरहोभिर्मह्यमन्नं प्रयच्छन्नासीत्। तेनैवाहमियन्तं कालं दुःखमा-कलय्यापि जीवामि।

अन्यदा प्रभाते स्वप्नमन्वभवं यच्चन्द्रः करेणुकामारूढो महति समारोहे समाद्रिय-माणोऽदृष्टचरे नगरे राज्ञो हर्म्याभिमुखं प्रयाति, तमन्वहमपि वाजिनमारूढो यामि। विलक्षणो वाद्यध्वनिर्ब्रह्माण्डं मुखरयति। अकस्मादेको महाँस्तोभ[2]श्चलितः। तेन-महाशब्देन व्यग्रोऽहं निद्रामजहाम्। क्षणं स्वप्नं क्षणं स्वकीयां वर्त्तमानां दशां विमृशन्नहं निशां व्यगमयम्।

बभूव सुप्रभातम्। अद्य दिनं मम जीवनस्य विशिष्टं दिनमासीत्। स्वर्णसूर्य उदगात्। किरणावली प्रमोदं प्रावर्षत। पक्षिणो रुतेन भाविसन्देशमिवासूचयन्। गुहावासिनो मृगा अपि सहानुभूतिं प्रकटयन्त इव मदीयद्वारदण्डे कण्डूमपानैवान्। विचारव्यग्रे मयि अविदित इव मध्याह्नमतीत्यापराह्णोऽभूत्। पादध्वनिरिवाश्रावि। मयानु-मितं मूकदासो भोजनमानयति। अहं जीवने निराशस्त्वासमेव। सद्यो जीवनक्षपणाय

---

१ ह्विसिल, सीटी। २ तोभः—तोप इतिभाषा।

परमेशं प्रार्थयमानेन कारावासदुर्बलाभ्यां नेत्राभ्यां प्रैक्षि यच्छ्रीमान्मन्त्रिकुमारः परमशक्तिधरश्शक्तिधरो द्वारस्य पुरो वेदिकामध्यास्ते। क्षणं मया चन्द्रस्वप्न इवैषोऽपि स्वप्न एव मतः। परन्तु क्षणेनैव आहितमान्द्ये मनसि विवेकरेखा समचरत्। भग्ने तालके सर्वाङ्गबलेनाहमुदतिष्ठम्। सस्नेहं, सकरुणं, सत्वरं मज्जीवनशरणयोश्चरण-सरोरुहयोः पतितोऽश्रुस्रोतसा वनभ्रमणधूलिमक्षालयम्।

आभारी ऋणी कृतज्ञश्चास्मि यदद्य अपेक्षितसूर्यभ्राजां सम्राजां नितरामसम्भावितं दर्शनसुखमनुभवामीति कथयित्वा विरिरंसतीव तष्टरि, "चन्द्रः कच्चित्त्वा"—मिति साधीरं भाषमाणे च राज्ञि पुनः प्राऽभत वक्तुं सोढप्रचुरकष्टस्तष्टा।

देव, चन्द्रः क्व किमर्थं वा गतः—इत्यहमेव जानन्नासम्। यतः स मया सहैवामन्त्र्य-गतः। शक्तिधरस्तु नासीत्।

महा०—आम्, अस्माभिरप्येतदेवान्वमायि यद् विश्वशेखरोऽपि तमनुगतः।

विश्व०—एतदेव विचारितमासीत्, परं मध्य एव यस्मिन् विपत्पयोधौ न्यमज्जं तच्छ्री-मतां पुरो निवेदितमेव।

महा०—(किञ्चिदधैर्येण) आम्, आम् ततः।

विश्व०—देव, किं न स्मर्यते भगवद्धरसिद्धियात्रा, विमलपुरेश्वरपुत्र्या च चन्द्रस्य परिणयप्रतिज्ञा।

महा०—(सोत्कण्ठेन मनसा स्मृतपूर्वोदन्त इव) आम् कथं न, चन्द्रे गते सप्ताहे व्यतीते ततस्तिलकः समायातः!

विश्व०—एकदा सान्धिवेलं विधिं समाप्य प्रादोषमशनमुपभुज्य भवनमुखोपवने पवनानन्दमनुभवति मयि द्वाःस्थश्चन्द्रागमनं न्यवेदयत्। स्मितेन रात्रिमुखं राजयति मौनमुपविष्टे तस्मिन्नहमवोचम्:—

वातलेऽपि स्विन्ना कपोलपाली गरीयांसमाधिं प्रकटयति, म्लानं मुखं कातर्यमिव व्यनक्ति, स्फुरदधरो धैर्यमिवावधीरयति, स्खलन्तौ चरणौ महतीमुत्सुकतां सूचयतः, किमिदं किञ्चास्य कारणम्!!

चन्द्रः—सत्यमुपलक्षितं मित्र! वस्तुतो नितरां खिन्नोऽस्मि।

अहं—कुमार, कोऽयमभिनवः खेदावसरः।

चन्द्रः—आम्, अभिनवः, यदर्थमामन्त्रणायागतोऽस्मि ।

अहं—अयमहं श्रीमतां जन्मनोऽर्वागेव दासः ।

चन्द्रः—सखे, सखेदोऽस्मि । पश्य पितुराप्रश्नदोनाद्वाससो वस्त्राध्यक्षेण लब्धमिदं पत्रम् ।

विश्व०—देव, तदेवेदं पत्रमासीद्, यदुज्जयिन्यां विमलपुरेश्वरेण लिखितम् । तदिदं पठित्वा स मृशमुदताप्सीत् । व्यञ्जितक्रोधोऽवोचच्च ।

"जगज्जुगुप्सितमनार्यचरणीयमयशस्यमाचरितमिदं पत्रं विस्मरता तातेन, मद्दत्तवाग्दाना चेत् परिणीता, यतो न पूर्णं वयः प्राप्य तिष्ठन्त्यविवाहिताः कुलीनाः कन्यास्तदा महद-न्याय्यम् ।"

"कुमार, शान्तं पापम् । अमरस्पर्द्धिनी ते सम्पत्तिः, नेत्रशतविलोक्या काममोहिनी ते मूर्त्तिः भूपालचक्रकीर्त्तितकीर्त्तेः श्रीलश्रीमहाराजनवेन्दुपालस्यैकाकी प्रियः पुत्रः, समाप्तसर्वकलं बलं, पूर्णे वयसि वर्त्तमानोप्येतत्सम्बन्धजिघटिषयाऽदत्तवाग्दानस्त्वन्मन्ये सापि भवच्चरणसरोरुहदास्यमपेक्षत एव । विलक्षणोऽयं भगवान् विधिः" ।

"सम्भाव्यते, परं श्वोभाविराजतिलकपर्यन्तमत्र स्थित्वा परत एतदर्थं यास्यामि ।" इति ।

तद्देव, चन्द्रो विमलपुरं गतः सर्वं क्षेममेव विधास्यति देवः प्रमथनाथः । स्तुत्यमेव श्रोष्यते देवेन चन्द्रस्य । अहमेतत्सर्वं विदन्नपि श्रीमते निवेदनायालब्धावसर आसम् ।

"परं विलम्बे कोऽवलम्बः"—इत्युक्त्वा मूर्च्छितो महाराजः ।

*　　　*　　　*

प्रातःकालः, कमलवनोद्घाटनपुरस्सरं विचकास सुप्रभातम् । कार्यकरणप्रेरणामिव कार-यन्ती भास्करकिरणावली जगतः कोणे कोणे प्रसृता । शक्तिधरो जिगमिषुः प्रणिनंसया उद्यानकुञ्जे दर्शनान्यनुशीलयन्तं स्वपितरमुपागमत् । स च हास्येनाभिनन्दँस्तमाह—

"पूर्वं महानिम्बस्वरसायितं कटुकाक्वाथायितं परिणामसुखं कर्म कुर्वन् नरो बंहीयो यशस्तनोति; अतो राजकुमारान्वेषणाय व्रजतादः शब्दपाथेयमवश्यमेव व्यवहर्त्तव्यम् ।

"मनोभावो मनस्येव श्रेयान् । परिचयवता किन्तु सतर्केणानुच्छृङ्खलेन च भवितव्यम् । मित्राणि कुरु तैस्तथा व्यवहर यथा त्वं श्रद्धास्पदं भवेः, किन्तु मा नाम अविज्ञाताचारविचारेभ्यः प्रमदः । विवादं परिहर, किन्त्वप्रतिहार्ये तस्मिन् दृढो भवेः, यथा न स पुनरुत्सहेत ।

शृणु, मा वद। सर्वेषां विचारं श्रुत्वापि निर्णये स्वतन्त्रः स्याः। निधिं निरीक्ष्य व्ययेः। वस्त्राभूषणे सभ्यतां मर्यादीकृत्य व्रजेः। धने नादाता नच दाता भूयाः। सत्यमात्मेति-भव्यभावनः सर्वदैव सक्षणो भवेः। प्रतिज्ञातपरो भूया इति।"

* * *

उपसमुद्रं स्थलम्, स्वर्णकणा इव मुद्गसन्निभा धूलिकणाश्चण्डकिरणसम्पर्काद् भ्राजन्ते। कस्मिन्नपि दिग्भागे शकुनिकुलाकुलिता नेक्ष्यन्ते सान्द्रपादपाः। क्वचन क्वचन खर्जूराणां नारिकेलानाञ्च विरलविरलाऽऽवलिः।

शक्तिधरो यानस्य प्रतीक्षाभवने क्षणं विश्रम्य राज्ञे पित्रे च सन्दिश्य सहयोगिनोऽभिनन्द्याशुशुक्षणितरणिं प्राविशत्। तरणिश्चेयमेकाऽल्पीयसी नगर्येवासीत्। पृथक् पृथक् श्रेणिविभागः वाचनालयः, भोजनालयः भ्रमणार्थं क्रीडार्थञ्च वेदिका निवासायावासाः। तेषुच शयन-विश्रम-शौच-स्नानादिकर्मणां कृते नितरां सौकर्यम्। शक्तिधरोऽपि प्राग्व्यवस्थापितमावासं प्रविश्य कार्यक्रमं निरमासीत्।

अथ नौ र्वायुध्वनिना जनान् प्रसूच्य धर्-र्-र्र् शब्देन धरधरायितधरा वेगेन विभजन्ती कर्त्तयन्तीव पयोधिं प्राचलत्।

श्रान्तो भगवान् गभस्तिहस्तोऽस्ताचलचन्द्रगृहमजूगुहत्। मृत्योरशरीरं दूतमिव ध्वान्तमभिजलधि प्रसृतम्। दिवसपतौ प्रोषिते शोकखिन्नेव द्यौः पतिव्रता योषिदिव कृष्णाम्बरावृता मौनमाकलय्य स्थिता। ध्वान्तविध्वस्तधैर्यं दिक्चक्रवालं सरितां स्वामिनोऽसितसलिलेना सितीकृतं तमसि लीनम्। प्रशान्तप्रभञ्जनेनापि लघवः शम्बरधराः पुष्करं दधतोऽनुकृतपुष्करिणो नावमभ्यषिञ्चन्। अकस्मादैधिष्ट वायो रंहः! क्षणेनैव गगनं क्षाराम्भोधेरम्भोधयनेन सान्द्रद्रुमनवच्छदनसन्नीलविग्रहैः, निष्करुणप्रचण्डचण्डकरकिरणकवलितां प्रेक्ष्य सृष्टिं, करुणार्द्रचेतसा धात्रा प्रसारितैः कृष्णकम्बलैरिव, तमःस्तोमपूर्णं विष्णुपदं क्षालयितुमागतैः सुरराजभृत्यैरिव धराधरणश्रान्तैर्वियद्विशदसमीरसेवनाय समागतैर्दिग्गजैरिव विशालविशालैः कृष्णकृष्णैः पूर्णपूर्णैर्भीषणभीषणैर्घनैर्व्याप्तम्। इतश्च हेपयन्तीन्धन-संहतिसंहननं विभावसुं चामीकरप्रभेण ज्वालाजालेन, दहन्तीव लोकहिताशीतं वाडवानलमपि तिरोभावयन्ती निजौजसा गर्जनोत्तरगर्जनैर्बधिरयन्ती जगद् विद्रुमाभकरेण नीरदकरिकुम्भमिवास्फोटयन्ती चपला चमदकरोत्।

समुद्रोऽद्य उच्छृङ्खलमनुष्यैरनवरतं विधीयमानां धर्षणामितोऽधिकं सोढुं न शक्ष्यतीव प्रत्यैत। स्वभावगम्भीरं तस्य हृदयं मानवानां स्वार्थपरताया विरोधीव रणाङ्गणे गर्जतो दैत्यादपि प्रचण्डं, प्रलयकारि चासीत्। उल्लोलैस्ताडिततरैः, मुसलधारं पतता धारासारेण हतोत्साहस्य प्रधानकैवर्त्तकस्य मनो विह्वलतां प्रापादि पदे पदे। निमीलितैकनयनः स कदाचन दूरवीक्षणेन परां नावं, कदाचन जलप्राबल्यं, कदाचन झञ्झावातस्य गतिं, तस्याः प्रशमनकालञ्च परामृशत्।

जनमानसानि भगवन्नामजपे मग्नान्यासन्। किन्तु शक्तिधरश्शक्तिधर एव। तस्य सुघटितं शरीरं निर्भीको यौवनसुलभ आत्मविश्वासस्तेन सार्द्धमासीत्। भयङ्करेऽपि समये सरितां पत्युस्ताण्डवं पश्यन्, गायन्नास्त।

अकस्मात् कल्लोलसंहत्या भृशमाहता तरिस्तिर्यग्भूता, जनतायाः सकरुणः कोलाहल-स्तमःस्तोमे लीनः।

दिशि दिशि ततख्याते विद्वद्वरान्नवरङ्गतो
विततमहसः शाब्दे शास्त्रेऽवतीर्णबृहस्पतेः
व्यधित कृतधीः के० के० शास्त्री मनोज्ञकविप्रियं-
बहुलमधु तुर्यो निःश्वासः स चन्द्रमहीपतेः।

इति श्रीटीकमानीवेदवेदाङ्गविद्यालयमुख्याध्यापकानां
पण्डितप्रवरायितच्छात्रपूजितपादारविन्दानां
श्रीलश्रीनवरङ्गरायशास्त्रिणां
तनयेन
काव्यालङ्कारेण
श्रीनिवासशास्त्रिणा रचिते चन्द्रमहीपतौ चतुर्थो निःश्वासः।

———

पञ्चमो निःश्वासः

अपि दलन्मुकुले बकुले यया
पदमधायि कदापि न हेलया।
अहह! सा सहसा विधुरे विधौ
मधुकरी बदरीमनुसेवते ॥

सुभाषितम्

अङ्गनवेदी वसुधा, कुल्या जलधिः, स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

बाणः

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमितः केतकरजः
स्फुरद्गन्धं प्रोद्यज्जलदनिनदस्फूर्जितमदः।
इतः केकिक्रीडाकलकलभरः पक्ष्मलदृशां
कथं यास्यन्त्येते विरहदिवसाः सम्भ्रमरसाः ॥

सुभाषितम्

देव,

प्रत्यूषः प्राकाशत। मुकुरोज्ज्वलाः मुक्तावर्त्तुला उडूञ्जिघृक्षन्निव वियत्क्षेत्रे धावन् दिदृक्षमाण इव वा सांसारिकमाश्चर्यं भगवान् भास्वानारुरोहोदयगिरिम्। आतपोष्मणा जगत उद्भमविधमया च मम निद्रा भग्ना। मम क्षिप्रपरीक्षिणा घ्राणेनानुभूतो भवने विलक्षणो गन्धः। नितरां शिथिलानि गतस्फूर्त्तीनि ममाङ्गान्यपि मूर्च्छामिवासूचयन्। मम व्यायामि वपुश्च पर्यङ्कपरित्यागेऽनीहम्। पार्श्वे कमलापर्यङ्कं निष्कमलं प्रेक्ष्य मनः साशङ्कमभूत्। झटित्युत्थायेतस्ततो वीक्ष्य बहिरेत्य सहचरीरपृच्छम्। ताः प्रत्यूचुः

'मनोरमे, किं भणसि बहिस्तु न समेता स्वामिनी जागरणसमयमपेक्षमाणा चिरं प्रतीक्षमाणा भवती मुन्निद्रयितुकामा इत आयत्यः स्मः'।

'किन्तु भवने नास्ति राजकुमारी' साशङ्काहं प्रावोचम्।

एकः प्रवाहः प्रसृतः, क्षणेन भवनस्य कोणं कोणमवगाढम्। महाराजो निवेदितः। सकोट्टपालाः नगरनियामका मन्त्रिणा सहैवागत्य व्यवतस्थिरे, परं कमला नाधिगता। देव, श्रीमति याते प्रत्यहं शुष्यन्ती नेममाघातं सोढुं शक्ष्यति, देवस्त्वरयतु"

"राज्ञ आरक्षानियुक्तैरन्ततः किं विनिर्णीतम्"। "देव, अन्ततो मन्त्रिणा नैशः प्रासादरक्षको देवलः समाहूतः, श्वयथुमन्नेत्रो रज्जुबद्धः शिथिलाङ्गो निष्प्रभमुखो घर्घरवता स्वरेण सर्वं नैशोदन्तं प्राबोधयत्। अग्रे च रात्रौ प्रेषितानां चराणां मुखा द्देवः शृणोतु :—

"देव, परह्यो रात्रौ पञ्चषा जना मरुत्तरारूढाश्वैः साश्चर्यं वीक्षिताः, किन्तु देवस्योत्सवे समागमाशङ्कया न विशेषत आशङ्किताः। एको मरुत्तरो रात्रावुपहर्म्यं वीक्षितः, स एव च रात्रौ नदीमार्गमारूढोऽवलोकितः। नद्यास्तटे नाविकनायकेन सूचितं यदपररात्रे कतिचन पाटच्चराः शवेन सार्द्धं जीवननौकास्वारूढा वनं विविशुः" इति।

चन्द्रश्चराणां योग्यतामफलां विभाव्य तान् किमपि निर्दिश्य स्वयमेवाग्रेसरोऽभूत्।

* * *

"पिपासा बाधते शुद्धं जलं लब्धुं शक्यते।" नवागन्तुकेन वृद्धः प्रावोचि।

"अवश्यम्, उपनदि बाहुल्यमस्य, क्षणं विश्राम्य, धूलिधूसरणमनवरतभ्रमणं, दीर्घो-निःश्वासस्त्रुट्यन्ती वाक् च त्वां श्रान्तं घोषयति। त्वादृशानां कोमलकलेवराणामेवं निश्यसहायं भ्रमणं मनो भ्रमयति; अहमद्य भवन्तं दुर्घटनाग्रस्तमिवानुभवामि।" —गोविन्द, सद्यो जलमानय"—मुखं व्यावृत्य कैवर्त्तक आह।

"नाविक, त्वमदः कार्यं कुर्वन्नेव वृद्धो भूतः, मन्ये बह्व्यो घटनास्त्वया दृष्टाः"

"महाशय, नदीतटं दुर्घटनानां स्थानम्। यदा परुत् मरुन्महावेगेन प्रवर्षणेन च प्रावर्द्धत नदी, गृहाणि गृहिण्यः पुत्राश्च विलुप्ताः, भ्रमणव्यसनिनश्च ग्राहाणां कवलीभूताः।"

"दस्यवोऽपि नद्या लाभान्विता भवन्ति"?

"अथ किम्"।

"एषु दिनेषु त्वया किमप्यस्थाने दृष्टम्"

"परह्यो निशीथात्परतो निश्शब्दगमनलघुतरमरुत्तरारूढास्त्रयः पुरुषाः समेताः। पार्श्व एव तमालनीला सान्द्राम्रा स्थल्यस्ति, निशीथे तत आगमनसाश्चर्यकरमासीत्। अहं जागरित एवासं वृद्धभावान्निद्रा सम्यङ् नैति, यतश्च कनीयान् मृतोऽस्ति सा न जाने क्व दरीलीना, सर्वां ...."

"स्थाने," ततस्ततः, औत्सुक्याद्वचस्ततिं त्रोटयतोक्तम्।

"ते मां मुद्रापञ्चकमातरं[1] दित्सवोऽतिवेलमाग्रहीषुः, किन्तु कदभिप्रायाँस्ताननुमाय साहाय्यं नाकृषि" तमालधूममाकृष्य पुनः प्रोवाच नाविकः—इतः पारमस्मिन् वने विचित्रभवनानि नरान् वञ्चयन्ति, जगत्ख्यातानां लुण्टाकानामेवायं निलयः। ये गतास्ते न प्रतिनिवृत्ताः।"

"आम्, ते क्व गताः"

"क्व गताः" इति तु ज्ञातुमशक्यम्। ते मरुत्तरादेकं शवमिव, वायुपूर्णा मसृणा स्तरणसाधना जीवननावश्चोत्तार्य नद्यां निपत्याभिवनं यान्तश्चक्षुषोरगोचरे संवृत्ताः। मरुत्तरश्च गतो यथागतम्।"

"शवो नार्या आसीन्नरस्य वा"

"वस्त्रान्तरित आसीच्छवः (किञ्चिद्विचार्य) शिञ्जितमिव श्रूयते स्म। मन्ये स्त्रीशव आसीत्।"

"त्वं मां पारं प्रापयिष्यसि !"

"नहि देव, नैतत्स्थानं धात्रा सज्जनानां कृते व्यरचि।"

"दुर्जनाः सज्जनान् पीडयन्ति, तदिदं मे गमनमार्त्तत्राणाय।"

"यद्येवं तर्ह्यवश्यमेव सहैष्यामि। किं नाम भवतः ?"

"चन्द्रः"।

* * *

उपापगमेवासीत्पवनेनापि दुष्प्रवेश्यं, विवस्वद्गभस्तिभिरपि दुरवगाह्यहृदयं, कलानाथ

---

१ आतर स्तरपण्यम्

कलयाप्यस्पृश्यतलं, विशालशाखशाखिसहस्रसङ्कुलं, कुलभवनं कौलेयकानां गृहं गण्डकानां निलयं लुलायानां, सद्म सिंहानां वेश्म व्याघ्राणां निकेतनं करटिनां कान्तारम्।

अतिशयशीतलार्द्रायां वनावनावभिनवानि पदचिह्नानि पश्यंश्चकितः शुष्यन्तीं गलनलिकामोष्ठयोः प्रसृतां पर्पटीं प्रस्पन्दमानं चेतश्च नारङ्गफलरसेनाश्वास्य श्रुतवानदो वचः।

"आः दुष्टाः, सर्वं जीवनं दुष्कर्मसु भवद्भ्यो विगमय्य इत्थमुपहृतोऽस्मि। मया शतशो निरपराधा निर्दयं हन्त हताः, आः जलम्, हन्त...गलोऽवरुध्यते। सत्यः पातिताः...महात्मानोऽवमानिताः, तत्फलं मया लब्धम्। किं ब्रवै...(घर्घरवता स्वरेण) हन्त, वराकी कमला...।"

अन्तिमशब्दश्रवणेनैव स स्वं व्यस्मार्षीत्।

वाचां प्रचारमन्वेष्टुकामो यथा प्राचलत्तथैवाद्राक्षीन्म्रियमाणं निःसरद्वायुस्पन्दमानावथवमुष्णशोणितशोणितीकृतक्षोणिमश्वसद्घोणं पादोत्क्षेपमृदुलितधरं नरम्। तस्य श्वासस्त्रुटितो जिह्वाऽन्तर्गता उत्तारके दृशौ शिथिलं शरीरमासीत्। स मुखं व्यादायानन्तनिद्रायामशेत।

यावच्चन्द्रो व्यचिकित्सदश्रौषीत् पिकान् सशोकयत् रम्भारम्भं दम्भयत्, मेनकां मौनयत्, उर्वशीं वशयत्, तुम्बुरुं स्तम्भयत् कदलीमृदुलतां दलयत्, सुधामवधीरयत्, चित्ताह्लादि, जितमनसामपि विकारि, पशुपक्षिणामपि मनोहारि विमानिताप्सरोगानं गानम्।

निर्जने वने मनुष्यमृत्युः—प्रहारेण न वन्यहिंस्रेण पुनश्चैतश्चेतोहारि गानम्। विधे! भयङ्कररमणीययोर्विचित्रो मेलः। आश्चर्यम्।

गानोत्तरं शवस्य समालोचनां विधित्सुर्यथा स प्रातिष्ठत तस्य विमर्शि हृदयं नानुमन्यत। प्रतिनिवर्त्य दृष्ट शवो नासीत्। निकुञ्जाः निष्कुटकूटाश्चावलोकिताः, शोणितं प्रसृतमासीत्, शव उत्थाप्य कुत्रचिन्नीतः।

उपकाननमेव प्राकृतिकं विस्तृतं क्षेत्रम्। दूर्वा नास्ति, न कुसुमलता न च पुष्प पादपाः किन्तु पङ्क्तिबद्धाः क्वचन समूहिताः विशालाः शाखिनः शाखायोजं स्थिताः। क्षेत्रादाराद् गगनं स्पृशन्त्यः पर्वतमालाः प्रेक्ष्यन्ते। मसृणपत्रपादपपङ्क्तिर्यथा सान्द्राश्लिष्टा चास्ति यदेकस्मिन् वृक्षे समारूढोऽप्रयासेन वृक्षान्तरं गन्तुं शक्नोति।

तत्रैकस्मिन् पादपे कौशेयदामनिबद्धायां दोलायां समानवयोवर्णवासोभूषणास्तिस्रः सुन्दर्यः रसापाकृतपीयूषं सरससरसं मधुरमधुरं तारतारं गायन्तिः—

रूम् झूम् रूम् झम् सलिलद ! वर्षसि । स्थायी ।

श्रावणमासो हासो भूमेः सान्द्रो वातो जगदभिरासम्

मारामृतमिव वर्षसि । (१)

विद्युदियं स्वर्णारुणवर्णा विस्फूर्जितबधिरीकृतकर्णा

आहत्याङ्कुशमशयति (२)

अभितश्छन्ना नीरदमाला कालिम्ना कलुषीकृतशालाः

मम मानसमसितयति । (३)

विमलेयं शाटी मम तन्वाऽऽश्लिष्टाऽऽर्द्रा तादात्म्यमुपेता

अभितो मां सखि हसति । (४)

पिकवाणी श्रवणान्तर्विष्टा विमथितमानसवर्द्धितकष्टा

रुष्टां द्रष्टुमिवेच्छति । (५)

मञ्जुलवञ्जुलसान्द्रनिकुञ्जे केकाविरुतं सारसरसितं

मन्मथमदिरां वर्षति । (६)

गानेनामुना विस्मृतान्यव्यापार उन्मुखो मृगगणो मन्त्रमुग्ध इव पीतमद इव वशीकृत इव रज्ज्वाऽऽबध्याकृष्यमाण इव विवशस्तत्र व्यष्टोभिष्ट । साश्चर्यः सावधान श्चन्द्रस्ता वीक्ष्य यावदग्रे प्रचलितस्तावत्ताः दोलादाम्नैव सान्द्रपादपेष्वारूढाः सर्वात्मना लीनाः ।

चन्द्रो व्यचारयत् :—नैवं मानुषीषु कदापीदृक् रूपं प्रैक्षि । अद्य कल्पना रूपसरसामप्सरसां साक्षात्कृत्या प्रत्यक्षीकृता । किमाभिरपहृता भवेत्कमला ? किन्त्वासां रूपमीदृङ् नाख्याति । किं कुशेशयकिसलयं करपत्रायते !! प्रकृतिस्थं पानीयमपि प्रज्वलयति ! सुषमा...वाङ्माधुर्यम्...विचित्रम् । अवश्यमेता एतत्प्रदेशस्याभिज्ञात्र्यः । एतासां साहाय्येन कमलावश्यं लब्धुं शक्यते ।"—विचारचयभञ्जकं शिञ्जितमाकर्ण्यानुशिञ्जितं लब्धाशोऽन्वसरत् ।

अदृष्टचरास्वटवीष्वनुमितमार्गो विभीर्भ्रमन् शारदमेघनिवहमिव सितं भालमिव

भुवनस्य सान्द्रसुधानिर्घृष्टश्वेतमसृणमित्तिं, यूपमिव प्राचीनयशोधनानां स्तूपमिव धर्मस्य वीक्ष्य प्रासादं तासामावासं मन्यमानः प्रविविक्षुः प्रदक्षिणं कृत्वाध्यैष्ट यच्चितरां वर्तुलमदो भवनं यत्र नास्ति द्वारस्य पक्षद्वारस्य वा चिह्नमपि।

हृदयाहितकमलं विष्णुमिव सौधं परिक्रमतश्चन्द्रस्याशासन्तानं तमःस्तोमे विलाय त्विषांपतिरदृश्यतामधात्। स्वभावतस्तमस्विन्यां वनभूमौ सूर्यस्यास्तमयनेन विश्वव्याप्तं तमः। वृक्षप्राचुर्यात्तमसोऽपि प्राचुर्ये धवलभवनधावल्यमप्यासीदकिञ्चित्करम्।

शर्वर्यां पादपे सुप्तोऽलब्धनिद्रानन्दः प्रत्यूष एवोत्थाय भवनभावनायां लग्नः। अकस्माद् गोधामेकामारोहणसाधनामुपलभ्य कौपीनं दधत् शिरोवस्त्रेण धौतवस्त्रमायोज्य गोधाञ्च संयोज्योदक्षिपत्।

नखाश्लिष्टभित्तौ तस्याश्चन्द्रोऽप्यनायासायेनोपर्याजगाम। किन्तु दैवे प्रतिकूले सर्वं प्रतिकूलम्, यतो बहुभारायासिता बालगोधा प्राणानुदसृष्ट।

भवनस्य नीलशिलारचितः क्रीडाङ्गणमिव कालिकायाः महिषगोष्ठमिव यमस्य विलासवेश्मेव मृत्योः विशाल उपरितनो भागः। एकतो भित्तौ सुदृढं लोहनिर्मितं द्वारम्। निपुणनिरीक्षणेन निरचायि यत्सोऽयं द्वारे काष्ठभागो द्विहस्तपरिमितो नीलरागेण रक्तो दुर्लक्ष्ययोगो लोहफलके प्रतिष्ठापित आसीत्।

क्षणं विचार्य शिथिलानि वासांसि सम्यगाबध्य करवालश्चेतस्ततो निरीक्ष्य कृपाणाग्रभागेन कपाटसन्धिं विस्पष्ट्य काष्ठफलकमतुत्रुटत्।

नीचैरवतरणाय सोपानानि प्रेक्ष्यन्ते स्म। निष्कोशकृपाणपाणिः साशङ्कः थरथरायितध्वनिनाऽऽसन्नचतुस्त्रिंशानि सोपानान्यवतीर्य मुद्रितप्रदेशखिन्नः कस्यापि धनिन औदार्यं शिल्पिनश्चातुर्यञ्च साश्चर्यं विमृशन्नद्राक्षीत्ः—

अन्तः श्वेतं वर्तुलं बृहद् भवनमदः। अभितो लग्नपित्तलविष्कम्भका भित्तिमञ्जूषा सैत्यलिप्ता भित्तिरूपाः प्रतिभान्त्यः सन्ति।

कुट्टिमं केनापि धातुपत्रेणाच्छादितं, किट्टलिप्तमिव शोधनाभावाच्चलतां पादयोर्लिम्पति। एकतः पाषाणाभ्यन्तरखातः प्रलम्बो लघीयान् सुरङ्गस्तत एवाल्पीयसी तेजोरेखा प्रतीयतेऽस्ति।

कमलाप्रीतिवीतभीतिरयं तमसः प्राज्यराज्ये सुरङ्गे सत्वरसत्वरं प्रविश्य तमोवशात्

क्लिन्ने पूतिगन्धौ पथि पतितः स्वं म्रियमाणमिवामन्यत। दुरत्ययो दुर्दैवदुर्विपाकः। कामाग्निहवनकुण्डे सर्वस्वं जुह्वति युवानः।

निर्वपतो जीवनदीपस्य स्वल्पीयसी प्रभा तदक्ष्णोरग्रतोऽनर्त्तीत्। जीवनमरणसन्धौ स सकृत् स्वकीयं सुखसमुदयमस्मरत्।

"पाटच्चराणां विनाशाय कृतया प्रतिज्ञया सहैव कमलापि नष्टा, कीदृशोऽहं दुरदृष्टः। हन्त, पालयित्री हर्त्री सर्वापदां मान्या जननी, वात्सल्यविगलदश्रुस्नपितश्मश्रुः पूज्यः पिता क्व च शक्तिधरः। यानसूचयित्वा समायातोऽस्मि कृतघ्नः। क्वागत्य मृतोऽस्मि। मत्प्रतिज्ञायामाहितविश्वासो रामपालो व्यर्थः, व्यर्थमेव च प्रियप्रजानामपेक्षणम्। व्यर्थान्येवाशाभवनानि विरचय्य प्रजाः प्रलोभितवानस्मि। हन्त म्रिये मन्दभाग्यः।"

* * *

प्रातःकालः। समुदीयमानश्रीर्भगवान् विभाकरः। पर्वतशिखरे लालित्यं वर्त्तते। पर्वतावृतः प्राकृतिकोऽयं प्रदेश उपवनानि परिभावयति। तरुवारपूर्णे परमरम्येऽस्मिन्प्रदेशे फलपादपाः फलभरेण मनुजन्मनामनागमनं सूचयन्ति, यान् परिषिञ्चन्त्येका तन्वी सरित् प्रवहति। अभितोऽनारोह्या पार्वती भित्तिः, ततः सेहुण्डस्य घना भित्तिः। प्रदेशमध्यं कृत्रिममिवास्ते, परमधुनाऽपरिष्कृतम्। पथिषु कुण्डिकासु वन्यविटपा उद्गताः, स्थले स्थले पतितपर्णानां कूटं, वेदिकासु बीजानि पक्षिपुरीषसङ्करश्चावलोक्यते। जल-प्रणाल्यो धूलिपूर्णा अनिदिता इवासन्। मसृणपाषाणा उद्यानविश्रामवेदिका असम्पूर्णाङ्गाः काठोर्यं भजन्ते। कृत्रिमनिर्झरकुण्डिकासु मरकतपुत्रिका अङ्गभङ्गतां पातं भ्रष्टताञ्चोपगताः।

उद्यानस्यैकत एकं पुराणभवनं वृष्ट्या दावेन वन्यैः पशुभिः पक्षिभिर्विकृतं भ्रंशितदशा-मासीत्। क्वचिद् भग्नं छत्रं क्वचिद्दग्धे कवाटे, खण्डिता भग्ना भित्तिर्वृश्चिकसर्पपूर्णा। चन्द्रः प्रकृतिदेव्याः पुष्पाभरणैः पक्षिसङ्गीतैः कीचकवनवंशीभिर्निर्झराणामश्रान्तनादेन सरससमीर-समीरणेन कविकल्पनाऽकल्पनीयमानन्दं विभावयन् हरितहरितेषु सान्द्रसान्द्रेषु पादपकुञ्जेषु प्राप्तपरमानन्दानां मधुरमधुरं कूजतां तर्जयतामिव प्रतिपक्षिणां पक्षिणां विरावं शृण्वन् आश्चर्यचकितः शून्यहृदयः शून्यनिकुञ्जेषु विविक्तकोणेषु कमपि गवेषयन् नद्यास्तटेऽनोक-

हानां छायायां शिलायां विश्रम्य वासांस्यवतार्य प्रक्षाल्य शाखिशाखासु शोषणार्थमायोज्य धृतकौपीनो नद्यां चिरं स्नात्वा धौतं वासः परिधाय छायाशीतले शिलापट्टे कृतसन्ध्य उपस्थाय कृतपार्थिवशिवार्चनस्तरङ्गिहृदयो नदीतरङ्गान्प्रेक्षमाणः मधुराणि सरसानि भृशमास्वाद्य-फलानि मनोहरदृश्यहृष्टो लब्धस्वास्थ्यः पक्षिणां प्रियाभिः समं चञ्चूत्रोटं फलखण्डभक्षं महोत्सवं पश्यन्नवर्तत। रम्यस्थाननिरीक्षणेन तस्य रसिकचरं चेतः पाठप्रत्यावर्त्तनेनेव-स्मृतिं शान्तिञ्चापत् परमज्ञातमार्गेषा वाणी तस्य शान्तिमभनक्:—

"मया बहुशः प्रेम्णा साम्नाऽऽगृहीता परं साऽस्मन्निन्दनादन्यन्न किमपि ब्रूते, अत्ति, च। कथयति दुष्टस्पृष्टं न भक्षयिष्यामि अपि मरिष्यामि।"

म्रियतां क्षुद्रभाषिणी सा का हानिः।"

मैतद् ब्रूहि, महत् कष्टं विषह्यात्मानं सन्देहसिन्धौ निपात्य यामानीतवाँस्तस्यै नैतादृग्-वचः। तथाऽऽचर यथा सास्मासु प्रसीदेत्। हठिनी किं करिष्यति गलभूषणातिरिक्तम्। फलानि प्रेषय।"—

"अस्तु तथा करिष्ये।"

चन्द्रो व्यग्रोऽभूत्, दन्ता अधरमक्राम्यन्, बाहू अस्फुरताम्। भ्रुकुटिरशरासनायत। सामर्षे लोचने प्रावृषेण्यजलदाविवाचरताम्। स क्रोधमदिरां निपीय विवेकविकलो-भ्रान्तो व्रणितहृदयः क्रुद्धोरग इव श्वसन्नुत्थायानुमाय यत्पार्वतभित्तेरधस्तादनुनदी-प्रवाहं वाणी समैति; अविदितान्यमार्गो लिङ्गाटमावध्य सधमध्वानेन नद्यां पतितो लीनश्चान्तः।

* * *

विशालोऽयं प्रदेशः। ऊर्व्यां दूर्वाया प्राज्यत्वेन नीलकण्ठकण्ठसन्निभकौशेय-वाससाऽऽच्छादितेव भूर्विभाति। क्वचित्क्वचित्प्ररूढा मालतीमौलिश्रीगणिकाबकुलादयः प्रतिष्ठां वर्द्धयन्तः पुष्पविटपाः महान्तो महीरुहाश्च राजन्ते। प्रिया प्रणयपरिप्लुतश्चन्द्रो वांसांसि संशोष्य चिकीर्षितव्यं विमृश्य सूक्ष्मया क्षमया स्वागतीक्रियमाण इव दृष्ट्या सतर्कमीक्षमाणो विदूरे श्वेतमष्टकोणं भवनमेकं प्राप्य मध्यद्वारे सितशिलाशकलेऽ-सिताक्षरैः, "न प्रवेष्टव्यमन्तः"—इतिलिखितमैक्षिष्ट। बहुषु द्वारेषु भवनस्यास्या-न्तरावृतेष्वेकमेव द्वारं बहिः शृङ्खलया बद्धमासीत्।

चन्द्रस्तु लेखमध्यायन्, तदन्तः प्रविश्य ददर्शः—सर्वाणि द्वाराणि नीलकौशेय

जवनिकया समाच्छन्नानि सन्ति। अनल्पाः भित्तिमञ्जूषा वस्तुभृता भित्तिषु लग्नास्सन्ति। अभितः शोभना महार्हा आसन्द्यः[1], मध्ये च वर्त्तुलमतुलं महदेकं स्फाटिकं पीठमास्ते[2]। यत्र पुस्तकानि रमणीयैः काचखण्डैर्नेमाक्रान्तानि पत्रादीनि च राजन्ते। एकश्चर्मनद्धं पत्रपुस्तकमपि तत्रैवास्ते यस्मिन्प्रेषितान्यागतानि च पत्राणि सन्ति। तेषामेकतमं पत्रं दृष्टिपथमागतं निःसार्य पपाठ :—

विजयतां श्रीमान् दीप्यत्प्रतापसिंहः कान्तिसिंहः,

श्रीमन्, भवदाशीःसंवर्द्धिततनुर्गृहसाज्ञाकारी दासः कमलाकान्तं कमलाभवनं गत्वा धूपाग्नौ मूर्च्छौषधिं निक्षिप्य मूर्च्छां निश्चित्यानीय च प्रच्छन्नद्वारस्य मायाभवनस्य द्वादशसंख्ये कारागारे स्थापितवानस्मि। सा चाधुना नष्टमूर्च्छास्ति। अस्मद्दलेऽपि कोऽपि सन्देहो भासतेऽतः श्वः प्रातरेव भवद्भिः समेतव्यम्। शेषं कुशलम्।

श्रैमत्कः—

प्रबलः।

पत्र प्रान्ते तिर्यगक्षरैर्लिखितमासीत्—

प्रिय प्रबल, लब्धावकाशश्चेत् श्वोऽवश्यमायास्यामि— कान्तिसिंहः।

इति पठत एवास्य क्रोधानलमवर्षतामक्षिणी रक्तस्नात इवाभवद्विग्रहो रुषा। परन्तु पुनः पर्यालोच्यामर्षमवरुध्य पत्रान्तरमपठत्—

महोदय,

मम पत्रानन्तरमपि देवदर्शनं न भूतम्, महतः खेदस्यावसरः। किं नास्त्येतत्कृत्यम्। अद्य सूर्यसिंहो न जाने क्व गतः कस्मिँश्च कार्ये लग्नः। विचार्यः खल्वेष विषयः। सम्प्रति सपद्येवागन्तव्यम्।

श्रैमत्कः—

प्रबलः

अपरपार्श्वे लिखितमासीत्—

सायमवश्यमागमिष्यामि, पार्श्वकानने मिल त्वम्। कान्तिसिंहः।

तृतीयञ्च पत्रं मुद्रामुद्रितं प्रतिज्ञापत्रमासीत्

१ कुर्सी। २ गोलमेज।

श्रीः

प्रतिज्ञापत्रम्

सूर्यं साक्षित्वे निधाय विश्वेश्वरं भगवन्तञ्च प्रणम्य प्रतिजानीवहे—

आवां सदैव श्रीकान्तिसिंहास्यानुज्ञां पालयिष्यावः श्रीमत्प्रतिकूलांश्च समूलमुन्मूलयिष्यावः। श्रीमत्प्रतिकूलः कमलानिःसारणविहितप्रयत्नः केवलमासीत्सूर्यसिंहः। स चेतः पलायितोऽपि पार्श्वकाननेऽकस्माल्लब्धो हतः। उचित एवैष न्यायो विश्वासघातिनाम्। अन्योऽपि यद्येवं व्यवहरिष्यदवश्यमीदृशीं गतिं प्राप्स्यत्।

वीरवर—प्रबलसिंहौ	}	श्रीप्रचुरचतुरचारणः
विषयममुं प्रमाणीकुरुतः।	}	कान्तिसिंहः श्वेतकन्दरा

अधुना स कमलां प्राप्तुं महोत्कोऽभूत्। विचाराश्चारा इव चेतसि समक्राम्यन्। एका विलक्षणाकारा तालिका तत्रासीत्। तया भित्तिमञ्जूषामेकामुद्घाट्य दृष्टं यच्छतशः कीलकेषु लिखिताक्षरास्तालिका विविधाकारा राजन्ते। तासामेकामादाय निर्दिष्टभवनमुद्घाट्याद्राक्षीद् यत् कोशोऽयम्। अयोमञ्जूषा[1] लग्नवृहत्तालकाः स्वस्यां कनकराशिं ख्यापयन्ति। क्वचित्कनकसूत्रग्रथितानि पर्यङ्केषु राजन्ते राजार्हाणि वस्त्राणि। क्वचन काचमञ्जूषासु पट्टराज्ञीसमुचितानि मणिमाणिक्यखचितानि प्रभाभाञ्जि महार्हाणि नवानीवालग्नमलानि विभूषणानि च। नागदन्तेषु सौन्दर्यसारा हाराः जाम्बूनदमयं गलसूत्रमवलम्बते। अयोमञ्जूषायां धृतेऽङ्गुरीयके चन्द्रचक्षुरपतत्। चन्द्रः सद्य एव तत् पर्यचिनोत् "एतदंगुरीयकं तु मित्राय विश्वशेखराय दत्तवान्। तदत्र कथम्? किं विश्वशेखरोऽपि ममानुपदं समायात एषां दुष्टानां हस्तं गतः।

सर्वमेतत्ताद् गवस्थं विहाय द्वादशसंख्याकां तालिकामादाय परं द्वारमुद्घाट्य यावत्प्रविवक्षति, तावदेव पर्यपूर्यत चास्य नासा महता पूतिगन्धिना। परमयं नासाग्रे-वस्त्रमायोज्यान्तः प्रविश्य विज्ञातवान् यत्कारागारमदः। यत्र क्वचित् पाणिपादपतितायःश्रृङ्खला अखला अपि खलदष्टा आर्द्रतरकलेवराः अस्थिमात्रावशिष्टाः प्रतीयन्ते कथामात्रावशिष्टाः। इतरत्रेषच्छुष्काः स्रवदस्रपूरितकटाहा, वल्भीषु बद्धाः,

---

१ तिजोरी।

भापयन्ते नरकङ्कालाः। एकस्यां शिलावेदिकायां लोहकीलकपरिवृतायामेकः सद्यो मृतः पञ्चजनः प्रतीयते, सूक्ष्मया दृष्ट्या निरणायि यत्सोऽयं शवो यः पार्श्वकानने दृष्टः। क्वचन जीर्णं झर्झरास्थि कङ्कालस्य प्राचीनत्वं प्रथयति। क्वचनाधोनिम्नं, क्वचिद् भग्नं कपालास्थि दण्डाघातेन मृत्युं सूचयति। क्वचिद्वर्त्तुलभिन्नं शङ्खास्थि भिन्दिपालगुलिकया मृत्युं प्रमापयति। क्वचन विशृङ्खलकशेरुकः कङ्कालः पाशमृत्युतां विख्यापयति। इतरे वक्षोऽस्थ्नि प्रविष्टच्छुरिका दार्ढ्यादनपगतच्छुरिकाः सद्यो मारिता इवावगम्यन्ते। आयुर्वेदीयशवच्छेदविभाग इवास्मिन्नाश्चर्यचकितः शोकाशङ्की भयविस्फारिताक्षः कमपि गवेषयन्नयमधुना मधुनाऽप्यहार्ये दुर्गन्धनिधानेऽनाचार-प्रधाने, सद्भित्तिरोधाने प्रकाण्डहत्याकाण्डभाण्डे प्रचण्डे भवनखण्डे विभीर्भ्रमन् पार्श्वभित्तिवातायनादाकर्णितवान् "हा? प्रिय? म्रिये, "हा त्वं न वेत्सि कथमहमस्मि" इति। करुणाकूपारपूरपरिप्लुतेऽस्मिन् वचसि काप्यद्भुतेव शक्तिरासी द्यतश्चन्द्रस्त्यक्तान्यविषयो द्वारानभिज्ञ उपकुड्यं पाषाणानायोज्योत्थापितपार्ष्णिः प्रैक्षिष्ट यत्—कूपनिम्ने कारागारे एकस्मिन् कृष्णकम्बले, रसालकपोलशालिनी कमला, मलाचितवसना, शुष्कगण्डमण्डला, म्लानमुखचन्द्रा, मृतकल्पेव शिथिला, हतप्रभेव-दीपदीप्तिः, शुष्यज्जलेव महानदी, नष्टद्रुमेव वाटिका, मृतनृपेव पुरी भयङ्करा, शिखेव कृपीटयोनेर्धूमाचिता, आज्ञेव सम्राजो धूर्त्तैरवमानिता, वीतसुषमाऽसमा वामानां, मानाम्भोधेर्वेला लोहद्वारे कारागारे भित्तिमाश्रित्योपविष्टास्ति। अधुनापि तस्या मुखं--निष्प्रभमपि सुन्दरमासीत्, सत्यं "रत्नं पङ्के न लुप्यते"। तस्याः सम्मुखे चैकः प्रचण्डचण्डः पिचिण्डिलो गृहीतासिधेनुकः स्थितोऽस्ति। कमला-क्रोधान्धा सरोषं वक्तुमारभत--

"आः पाप! किं पौनःपुन्येन छुरिकां दर्शयसि। अरे न वेत्सि, यस्य भारतस्य परमपूतनामधेयाः सीतादमयन्तीद्रौपद्यः पुत्र्य आसन्,--तस्य भारतस्य—यस्मिन्नङ्गना जीवन्त्य एव स्वामिनाञ्चितासु भस्मीभूता भगवतो भूतभावनस्याङ्गरागतां सम्पद्यन्ते,—तस्याहमप्येका पुत्र्यस्मि। तासां चरित्रं, साहसं, कर्म, तदेव भारतीयं रुधिरं मदीयशिराजालेषु प्रसृतमास्ते। अमूल्यपातिव्रत्यधर्मे कर्म मादृशीनां प्राणार्पणम्। मूढ, मुधैव मुहुर्मुहुरसिं दीपयसि, धारां निशातयसि, यदि युवासि, वीरोऽसि

तर्हि सपद्येव प्राणानपहर। परं दुष्ट!! निकृष्ट! त्वत्सम्मुखे प्राणाँस्त्यक्तुं नास्मि सज्जा। मह्यं देहि इमां छुरिकां, यया स्वाभीष्टं साधयामि। आः विवशास्मि, नहि तु··· नहि तु त्वां किं कारयामीति विचारैः परम्"—

इति कथयन्ती किञ्चिच्छिथिला जाता, परन्तु पुनः प्रोवाच—

कामोन्मत्त! पापान्ध! पश्य! अक्षिणी उन्मुद्रय, विचारय! क्षणिकजीवन लालसातृप्त्यै कीदृशं महान्तमपराधं शिरसा वोढु मिच्छसि।

कुलाङ्गार? न वेत्सि भारतरमणीनाञ्चेतः स्वर्गसुन्दरं, सज्जनवच इव मृदुलं, प्रजा-पालयश इवोज्ज्वलं, तपोधनविचारवत् पवित्रं शिशुस्वभाववत् सरलं, कविकल्पना तोऽपि प्रबलं भवति। यत्र लोभलोलायाः, भयभावनायाः, विलासवासनायाः, छल च्छायाया अणुरपि नास्ति।

नरपिशाच!

मानसमुक्ताभक्षणस्पृहा हंसी किमवकरं किरति! बकं विलोकयति, मेघमत्तमयूरैः सह नृत्यन्ती मयूरी किं गर्हणीयं श्मशानगृध्रं स्वप्नेऽपि गर्धते! मूर्ख? मुधैव कुबेरायसे, स्वातौ पतिता विप्रुडेव चातकतृप्त्यै अलं, सा महान्तं रत्नाकरमपि कुटिलेन काणेनाक्ष्णा नेक्षते।

इतोऽधिकं चन्द्रः श्रोतुं नाशकत्। धैर्यशिला, विपत्तेरगाधे पयोनिधौ विभज्य-भग्ना। प्रलयङ्कारिणा झंझावातेन धैर्यद्रुमो व्यनाशि। स कटकटायितदशनः प्रत्युत्प न्नरोषः "प्रिये, मा भैषीः, आः कुसुमकोमले! साम्प्रतं स्थण्डिलमधिशेते? असाम्प्रतम्। तिष्ठ रे दुष्ट! क्व ते स्थानं मदसिलक्ष्यवृत्तेः। प्रिये! आगतस्ते प्रियः—इति व्याहृत्य भित्तेः परतो भविष्यति द्वारमित्यालोच्योदकूर्दत। कमला स्वप्नमिव-वाचमिमां श्रुत्वोत्कर्णाऽभूत्, परं निष्फलम्, यतो भित्त्यारोहणसमकालमेव, उपरि प्रसृतलोहदण्डाघातान्मूर्च्छितश्चन्द्रः। आशायाः परिपूर्णा तरणिः शैलशिलात आघट्य चूर्णिताङ्गा तलं पस्पर्श।

* * *

विशालोऽयं प्रासादः। परितो लग्नेषु स्तम्भेषु भ्रमणाय मनोहरं स्थानम्। ईषद् रे भृत्यानां रथानां वाजिनामावासाय स्थानानि प्रेक्ष्यन्ते। परितो हरितो[1] हरितयत्, लघ्वपि

१ हरितो दिशाः।

परिमलेन प्रान्तं प्रीणत्, फुल्लद्विविधसुमं, लग्नविपुलफलमवकोकिलं, वापीविप्रुट्पानपीवरपवनपरिलसितमुपवनं राजते। यत्र मधुरमधुमय्यां मालतीलतायां मकरन्दमत्ता मधुपा माद्यन्ति। यत्रोपवनचतुष्पथेषु स्फटिककुण्डिकासु मारकत-पाञ्चालिकासु लघुलघून् विन्दून् निपातयन् नितरामाभाति कृत्रिमनिर्भरः। यथोचितमिष्टकाभिर्विरचिता सरणिर्मालाकारस्य कृतित्वं, स्वामिनो विलासित्वं ख्यापयति। प्रासादो हि रक्तपाषाण विहितः सुबहूच्छ्रितो रमणोयश्चास्ते। मसृणश्वेतशिलाभीरचितानि, आसन्नविंशानि सोपानानि, करटिरदनशकलशबलिता द्वारशाखा, दृढं राजतपत्रच्छन्नं कवाटयुगलं, यत्र पत्रचित्रा वल्ल्यो विटपाश्च शिल्पिनः शिल्पकर्मणि नैपुण्यं द्योतयन्ति।

सभाभवने वार्त्तैव श्रूयते। पञ्चसु द्वारेषु केवलं मध्यद्वारमेवानावृतम्। भित्तिमञ्जूषाः, कुड्यमुकुराः, छत्रलग्नाः '१काचवल्लर्यो भाण्डानि२' च परां छविमेधयन्ते भवनस्यामुष्य।

भवनेऽस्मिँस्तिस्त्रः स्त्रियः आसन्नविंशतिवयसः, गौरवर्णाः, सद्वस्त्रभूषणाः पौरुषाङ्ग्य आलपन्ति। तासां या महासुन्दरी, सुषमाखनिर्जनिः सौन्दर्यस्य, नायिकेवाभाति, यां वयं नामज्ञानं यावत् 'सुन्दरी' पदेन बोधयिष्यामः, मध्ये समुपविष्टास्ति।

किमिव निरूपयामोऽस्याः सौन्दर्यम्। अभिनवलावण्यलतिका, स्वर्गीयसौकुमार्या चन्दनगौरा, सजीवेव सुषमा, प्रफुल्ललतेव ललिता, विमलसरलतरलकमललोचना, मुकुरोज्वला, मञ्जुभाषिणी, कामकान्ता, पुञ्जीभूतेव ज्योत्स्ना, प्रेमप्रतिमा, सौन्दर्यशिला, पाटवतटिनी प्रज्ञाप्रभापत्तनं, यस्याः मानससरःकमलकलिकाकमनीययोः नन्दनकाननपारिजातपुष्पस्तबकयोरिवोन्नतयोः स्तनयोः पद्मरागमाला, श्वेता कौशेयी शाटी कटितटे, कम्बुग्रीवायां नासायां श्रोत्रे च हीरकं केलिं रचयति, सौवर्णे भोजनभाजने भोजनं परिवेषयन्ती गृहीदर्वी आहः—

"चपले! दैवात्त्वं समये समेता, सोऽन्यथा क्षणेनामरिष्यत्।

चपला०—आम्। मूर्च्छितस्त्वासीदेव। अहमेकाग्रचित्तेन पुष्पाण्यवचिन्वत्यासम्। अकस्मान्मया शब्दं श्रुत्वा दृष्टं यत् कश्चन भित्तिमारुह्य मूर्च्छितः। ततः शीघ्रमेव मालिनी

१ बिल्लोरियां। २ हाँडियाँ।

माहूय तत्पादमाकृष्योद्यानस्य मध्यभवने पर्यङ्के शाययित्वा बकुलपट्टिकामायोज्य सूक्ष्मप्रेक्षणेन तं परिचीय सान्द्रद्रुममासाद्य तच्चेष्टा अपश्यम् ।

सुन्दरी०—धौतवसनं कदा निहितम् ?

चपला०—तस्मिन् वाप्यां प्रविष्टे एकस्यां शिलावेदिकायामङ्गाच्छः शाटी च धृते। तां विस्मितनेत्र आबध्य स्मयमानः सन्ध्यां विदधाति। मन्मुखं किमीक्षसे ? शीघ्रं परिवेषय। तदागमनात्पूर्वमेवाम त्रमेतद् भवने स्थापयितुमिच्छामि। आम्ररसं परिवेषय, दाधित्थं संयावञ्च परिवेषय। अहं स्वर्णभाजनान्यानयामि (आनीय) एषु पृथक् पृथक् शाकानि परिवेषय।

सुन्दरी०—किं परिवेषयामि, विवशाऽस्मि ।

चपला०—आः मुग्धे ! बहुशः शिक्षितापि न ज्ञातवत्यसि।

सुन्दरी—त्वं मुधैव क्षत्रियाणामेकपत्नीव्रतस्याऽऽडम्बरं रचयसि, परमद्य न रामसदृशा राजन्याः। अद्य क्षत्रियाणामुपदश विवाहाः सम्पद्यन्ते। त्वं व्यर्थमेवारण्ये रोदिषि, अहं कथयामि यत् पार्श्वकानने दर्शनानन्तरम नीशास्मि मनसः।

चपला०—आम्, कामिनि ! (सव्यङ्ग्यम्) देहि पात्रं यामि ।

चपला सद्य एव निर्भाजना समेता ।

सु०—क्वासीत् !

चप०—नाम न गृह्णासि किम् ? (विहस्य) वाप्या आयन्नासीत्।

सु०—अस्तु,……

चपला—अये ! कुमुदिनि ? कथं न वदसि ? अयि ! मौनीभूता किम् ?

कुमुदिनी—कः शृणोति मद्वाक्यम्। किं स्वविचारं पथि पथिकेभ्यो वितरामि।

चपला—(सक्रोधेव) विभ्रमं विधास्यसि, किमपि कथयिष्यसि वा ? सरोजिनि, आकर्णितं कुमुदिनीकौतुकम् ?

कुमुदिनी—अस्तु, शृणु कथयामि, परमेतन्न कथयिष्यामि यत्कथं ज्ञातवत्यस्मि। त्वन्मन्त्रिपुत्रेण कान्तिसिंहेन विवाहार्थमानीताऽस्ति माननीया भाविनी चन्द्रपत्नी कमला। तामन्वेषयन् राजकुमारो माराभिरामो रामोपहसितरतिकश्चन्द्रोऽपि समेतः। यश्च

पार्श्वकानने दोलारूढामपि त्वामवशयत्। चन्द्रनयनचन्द्रिका च प्रच्छन्नद्वारस्य माया-भवनस्य द्वादशसंख्याककारायां निगडिता······

सरो०—(साश्चर्यं सहर्षम्) कदा ! क वा कुमुदिनि ?

कुमुदिनी—अनीतायास्तु पक्षो व्यतीतो भवेत् (किञ्चित्स्थित्वा) सरोजिनि ? त्वं कमलां कारातो निःसार्य सत्कृत्य तस्याः पुरः प्रेम्णा वशंवदायामदः प्रस्तूयाः, मन्ये कारामोचनप्रसन्ना, ऋणमपनिनीषन्ती स्वपतिना विवाहमनुमोदयेत्, परन्तु मा नाम कान्तिसिंहो वृत्तमदो विजानीयादन्यथा सोऽस्मास्वपि प्रकृष्टं निकृष्टो वैरायिष्यते।

सरोजि०—कुमुद ? प्रिये ! कथं ज्ञातवत्यसि ? सत्यं कथय ?

कुमुदिनी—(विहस्य) योगिन्यस्मि, योगप्रभावाज्ज्ञातवती।

चपला—नैवं कथयसि यद्वियोगिन्यस्मि प्रबलस्य। (उभे हसतः)

* * *

भगिनि ! कमले ! स्तोकं दाडिमीरसं पिब, पक्षो व्यतीतः, नाधुना तवाङ्गेषु दार्ढ्यम्। पीता कपोलपाली गर्त्तगते गलज्जले निष्प्रभे नेत्रे मम सेवां कदर्थयन्ति। कथय कापि त्रुटिरवहेला यद्यस्ति सपद्यपनयामि कमपि सुचिकित्सकमाह्वयामि। त्वमेवैतस्य गृहस्य स्वामिनी, वयमाज्ञावाहिन्यः आज्ञापय।

कमला—सरोजिनि, किं वक्षि। अहं स्वस्था सन्तुष्टा चास्मि। त्वत्तः कदापि न भविष्याम्यनृणा।

कुमु०—(शनैः) भविष्यसि।

कमला—भगिनि ! नहि नहि मातः ! देवि ! (सरोजिनी हस्ताभ्यां कमलाया मुखमाच्छादयति)

सरोजिनी—प्रिये ! कमले ! त्वयाहं भगिनीनिर्विशेषं दासीनिर्विशेषं सम्बोध्या, बोध्या च।

कमला—यद् भवत्यै रोचते, परमृणभारमसमर्थास्मि वोढुम्।

चपला—यदि कोऽपि भवतीमनृणां कर्त्तुं पारयेत्तस्मै किमपि देयं नाम ?

कमला—देयम् ? शिरोधरामुत्तार्य पादयोः पातयिष्यामि, जीवनवनमेव तत्कृते समुच्छेत्तुं शक्नोमि।

चपला—अपि सत्यम् ?

कमला—सत्यम्, किं क्षत्रियकुलप्रसूताया रसना द्विर्भाषते ! सत्यम्, नितरां सत्यम्।

चपला—परमप्रियवस्तुवितरणे वदान्योऽपि सङ्कोचमश्नुते, अतः सम्यक् पृच्छ्यसे।

कमला—तर्हि विस्पष्टवचोभिर्विदय कथमानृण्यमासादयितुं शक्नोमि।

चपला—सरोजिनि, त्वमधुना विश्राम्य, अहं श्रीमत्या मनो विनोदयामि। (उभे-गच्छतः) श्रूयताम्:—

नास्त्यत्र सन्देहलवोऽपि यन्नन्दनपुरेश्वरो नन्दनसिंहः प्रतिभावान् सहस्रशो नगराणामधिपतिरासीत्। राजसभाङ्गनं जनसमुदयेन प्रपूरितं प्रेक्ष्यते स्म। शतशो गायकाः, कलाकाराः, चित्रकारा भवनमभ्राजयन्त। वञ्चकान् सान्त्वनं व्यष्टभत्। शतश आश्चर्यभवनान्यद्यापि तस्य प्रतिभां परिचाययन्तो राजन्ते, येषु निलीनः पुमान् प्राणानेव कष्टेन जहाति। येष्वसंख्यातं धनं निहितमास्ते। यद्यपि सर्वाः कला अद्यत्वे कालकवलितास्तथापि तदवशिष्टांश एव विस्मयायालम्। वर्षद्वयं व्यतीतं स बुद्धिमत्प्रियेण विडौजसाऽऽहूतः स्वर्गं सनाथयामास। तत्पत्न्योऽपि अप्सरोरूपेण सेवितुं तमनुसस्रुः। नन्दनसिंहो निष्पुत्र एवासीत्। केवलमेषा, एणाक्षी सरोजिनी एकाकिन्येव तस्य पुत्र्यस्ति। अस्या यौतुकमाश्चर्यभवनेषु सुगुप्तमस्ति। आश्चर्यभवनस्य, तन्मार्गाणां निधेः, सरोजिन्येव पूर्णाभिज्ञा। राज्ञो मन्त्र्यपि एकः प्रजाभक्तो रक्तो राजकुले कुलीन आश्चर्यभवन-विशेषज्ञ आसीत्। महाराजे सम्परेते स एवैनां राज्यञ्च पालयन्नासीत्, परन्तु प्रियपुत्रेण कान्तिसिंहेन मन्त्रिपदप्राप्त्यै दत्तविषः स्वामिनमनुससार।

अधुना सरोजिनीपितृव्यः कामेश्वरसिंहो राज्यं समीक्षते। कान्तिसिंहश्च दुष्टप्रकृतिरिति राज्यान्निःसारितो दुष्टजनसहायः पितृकृपाप्राप्तकिञ्चिज्ज्ञानो विदूरे गव्यूतिद्वयान्तरालस्थिते आश्चर्यभवनखण्डे निवसति। इतोऽप्येकः सुरङ्गस्तत्प्राप्त्यै वर्त्तते। पूर्वं तु सरोजिन्येव विज्ञाऽऽसीत्तस्य, सम्प्रति विश्वस्ते आवामपि बोधिते।

पितुः सरोजिन्यां प्रकृष्टं प्रेमासीत्। अर्वारोहणे, हरिहनने, करवालचालने, वेशपरिवर्त्तने, परवञ्चने, लक्ष्यसाधनादिकर्मणि सैषा नितरां निपुणा। एतस्याः प्रत्येकावयवे सुन्दरतायाश्छटा छन्ना। समस्तसौन्दर्यमेतस्या अङ्गप्रत्यङ्गे मुग्धीभूयेव स्थितं प्रतीयते। सैषा दुग्धवदुज्ज्वला, कर्पूरकमनीया, चन्द्रिकेव विकसिता, सौरी प्रभेव प्रभावत्यस्ति।

अस्या वाणी भगवद्भक्तिरक्ता कवितेव सरसा, गाङ्गप्रवाहवत् स्वच्छा, शिशुहासवत्सरला, पतञ्जलिभणितिरिव भावपूर्णा सुबोधा च विद्यते।

एतस्या वनितावल्लर्याः सौन्दर्यवितानस्य सान्द्रशीतलच्छायायां विरिरंसया बहवो वीरा मानसं तोषयितुमैच्छन्। सैषाऽधुनाऽबोधबालिका नास्ति, अस्याः कमनीय-कायकानने वसन्तेन वासो विहितः, सौन्दर्यसद्मनि प्रेमाङ्कुरो निर्गतः। हृदयसरोवरे स्मरसरोजं विकसितम्। प्रततप्रतिभे पितरि परेते स्वस्याः स्वयं स्वामिनी। स्वभावचञ्चलञ्चेत एकदा यशोनिर्जितचन्द्रे चन्द्रे चन्द्रेक्षणेन व्यासक्तम्। तच्चार्यकुलप्रसूताया निम्ननीतं नीरमिव न प्रत्यावर्त्तयितुं शक्यते। कथं नाम न भवेत्तृणाग्नियोगे ज्वलनम्। भवत्येव योषितां सदोत्सुकं मनो नृषु, पुनश्च समेते वरे नरे, मानसमुन्मथयति मन्मथे विलासशालिनि, केवलं सखीसहाये रहोनिवसने, प्रचुरचातुर्यतुच्छीकृतान्यविचार्ये च मनोविचारे कथं स्याद्रक्षणं ब्रह्मचर्यस्य। अधुनैषा अखण्डब्रह्मचर्यव्रतपारणां विधातुं चेष्टते। अहमप्यभिलषामि यद् हार्दमिदंयुवयोर्वयोऽन्तं यावत् स्थिरं भवत्विति।

कमला—ज्ञातनिखिलतत्त्वास्मि, धन्यास्मि, यस्या मन्दभाग्यायाः साम्मुख्यं राजकुमारी मारीविहसिनी, सिनीवालीकेशा, केशामोदसमाकृष्टषट्पदा, पदारविन्दविनिन्दिका, दकाच्छतनुलता, लता गुणामृतफलानामभिलषति। भृशमुद्योक्ष्यामि। परन्तु हन्त! वियुक्तया मया तेषां वागेवैकदा श्रुता···हा? हन्त, हतास्मि।

एवं कथयन्ती कमला मूर्च्छिता। चपलाहूता सरोजिनी कथङ्कथमपि बकुलजलेन, हिमपट्टिकया, औषधीप्रदानेन, व्यजनवातेन तां स्वस्थाञ्चकार।

* * *

अभूच्चोषःकालः। गतं स्वराज्यं विभावरीमहाराज्ञ्या भा च भव्यूहस्य। भ्रमर-कुलमधुना, मधुनासमेधितसम्पदां पदाङ्कविक्षतकिसलयानां विकसन्मधुरिम्नामिभानामिव स्रवन्मधूनां यूनां मनो हरति रतिप्रणयिनामुपरि पतन् सरजः सरोजानाम्। सरसाङ्गानां सारसाङ्गनानां लघुपदविन्यासेन विभाति विभातं काव्यमिव।

परमसरसा परममधुरा कान्ता शान्तेयं प्रावृट्। यद्यपि नाद्य तास्ता घनावल्यो घना-घनध्वानाः, न च सौदामिनीसूदारचमत्कृतय उत्पन्नदारादराः, न च सपटापटशब्दं क्षोभित

क्षोणीक्षोणीधराः पुष्करधराः, न च नाशिताशेषपादपा झञ्झावाताः, तथापि शस्य-सम्पत्तिसम्पादिताखिलेलानन्दः, पूरितसर्वजलाशयः, रोमन्थायमानगम्भीरगमनपशुसमजोऽ-मन्दानन्दनिमीलितनयनकृषकजनलालित ऋतुरयं संसारे समुल्लसति, वर्द्धयति च तेषाञ्चेतः।

अथ जगदनवद्यसौन्दर्यसरःसरोजिनी सरोजिनी विचार्य कर्म, वर्म परिधाय मसृण-कन्थायां निहितभोजना, जनान् जयन्ती साहसेन, लघु सुन्दरं दृढमेकञ्चन्द्रहासं कटितटे आबध्य, कृष्णं गुल्फलम्बि शिथिलमङ्गरक्षकं परिधाय, स्वभवनान्निःससार। इतस्ततः प्रक्षिप्तप्रेक्षणा, समुच्छलद्गात्रा कञ्चिदप्यनवलोक्य हृष्टा, कलहंसगमना, मनागप्यत्रस्ता, भीषणाप्यतिरोहितरतिसोदर्यसौन्दर्य्या, लप–लपायित–चक–मकायितद्विधाराधारकरा, पुनः पुनस्तमेवाभितः पश्यन्ती आनन्दितसमस्तकचाऽत्यक्तगाम्भीर्यया गत्याऽयासीत्।

पूर्वदिशि पार्वतपाथःपूरपूर्णोऽविज्ञाततल आयतः स्वच्छशीतशम्बरः सुमसृण-सितदृषत्सोपानो ह्रदो ल्हादते। यस्याभ्यर्णं मूलजलादानसर्वाङ्गविकसिता भूरुहाः कृतज्ञतामिव प्रकटयन्तः सन्ततं शकुनिकलरवैर्धन्यतामिवावदन्।

सरोजिनी समेषु कोणभवनेषु निपुणं निरीक्ष्य श्रान्ता हतोत्साहोलब्धचन्द्रा विभावरीव म्लाना, पादपतलमेकमासाद्य, क्षणं विरम्य, विश्रम्य विभाव्य वस्त्राणि सम्य-गाबध्य ह्रदसमीपं गता सकृदात्मानं सकृदुद्यानं सकृत्सरो वीक्ष्य, अविज्ञातमर्मणि वारिणि पातयामास आत्मानम्। पतनसमकालमेव मौक्तिकानीव, तारका इव, सप्तर्षय इव स्नात्वा खं यियासवः, कबन्धबिन्दव उच्छलिताः। कदम्बकाण्डोपवेशिनः केकिनश्च भीकरया केकया भुवं विरावयन्तो भृशं नेदुः।

साहित्यसारस्वतचातुरीतुरी-
धुरीणशास्त्रार्थशिरोमणेः कवेः।
अस्वस्थचित्तस्य कृतौ महीपतौ
ततौ सतां मूर्खयतौ नु पञ्चमः॥

काव्यकलामलक्षीरनिधिशीतांशुना श्रीनिवासशास्त्रिणा कृते
चन्द्रमहीपतौ पञ्चमो निःश्वासः।

———

षष्ठो निःश्वासः

यो दिव्याम्बुजलोलमत्तमधुपप्रोद्गीतरम्यं सर-
स्त्यक्त्वा मानसमल्पवारिणि रतिं बध्नाति कैदारिके।
तस्यालीकसुखाशया परिभवक्रोडीकृतस्याधुना
हंसस्योपरि टिट्टिभो यदि पदं धत्तेऽत्र को विस्मयः॥

सुभाषितरत्नम्

हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि॥

त्रिविक्रम भट्टः

गरलसहोदरजाता (लक्ष्मीः)
यन्न मारयति तदपि वरम्॥

स्फुटकम्।

यामिन्याः प्रथमो यामः। वायुर्न वाति। बकुलकुलशय्याशायिनां गणिकागणहारहारिवक्षसां सुगन्धशीतव्यजनेन वीज्यमानानामपि निर्लज्जेव वनिता नाङ्गं मुञ्चत्युष्णता। उष्णता उष्णता, तालुशोषस्तालुशोषः, हिमं हिमं, बकुलपट्टिका बकुलपट्टिका, कर्पूरलेपः कर्पूरलेपश्चन्दनं चन्दनं, जलं जलम् अहो स्वेदः, कण्डूः कण्डूः, मशकाः मशकाः, वायुर्वायुरित्येव श्रूयते सर्वतः श्रुतौ। क्वचन प्रलम्बगुणाकृष्यमाणव्यजनस्वनः, क्वचन द्रुतनिद्रसुन्दरीनूपुरझङ्कारः, क्वचित् करधृतव्यजनिकाभिर्जननीभिर्विधीयमानः स्वेदजालप्रशमनः शिशूनां रोदनप्रशमनः संलापः।

प्रत्यट्टालिकं प्रतिगवाक्षं समीरमिव मृगयमाणानां मृगीदृशां वेवेष्टि वलयशिञ्जितम्।

नवनवेष्वपि वासोवेष्टितेष्वपि घटेषु प्रतप्तमेव पानीयम्। उशीरनीरसिच्यमानाप्युशीरमयी पक्षद्वारपट्टिका उष्णतामेव पुष्णाति।

हार एव भारोऽङ्गदमेवाङ्गदम्। ललन्तिकैवान्तिका, रशनैवाशना, वस्त्रमेवास्त्रं, तूलिकैव शूलिका, उपधानमेवापत्।

किं बहुना वायुरपि वायुं वाञ्छति, सरसामपि सलिलस्पृहा, पिपासाक्षामदेहा नद्योऽप्यद्य सद्यः समुद्रमनुधावन्ति। मीनोऽपि दीनः। तुहिनमपि हीनम्। कमलमपि समलम्। प्रतिप्रतोलि "हे भगवन्! हे नारायण! दीनबन्धो! कथं जगदिदं जीवयिष्यसि" इति श्रूयते प्रवृद्धः प्रबुद्धवृद्धघोषः।

सोष्मलोकलोकं लोकं लोकं वियन्मध्यमध्यास्ते चन्द्रः।

सुशीतलजलशीतलतले शयनागारस्याग्रकुट्टिमे मञ्चे उपधानमाश्रयन् महाराजो-रामपालो विनीतविशदवेषैर्भृत्यैर्महद्भ्यां तालवृन्ताभ्यां वीज्यमानो मन्त्रिणाऽऽलपति। समीपे च न नितरां राजते राजते दीपाधानेऽप्यपरिष्कृतो दीपः।

अद्य रामपालमन्दिरे मालिन्यसम्राजः शासनं समवलोक्यते। धावल्यं विदूर-प्रसृतेषु यशस्सु, चापल्यं लतालीनेष्वलिषु, [1]अगा गीतयः प्रसृताः संसारे, चालनं व्यजनानां, फुल्लता पुष्पाणां, विकासो जृम्भितास्ये, सम्मेलोऽक्षिपक्ष्मसु। धिक् धिक् कुर्वती घटी लोल [2]लोलकेनाधैर्यं व्यनक्ति।

"मन्त्रिन्? शेष्व बहु व्यतीता रात्रिः"।

मन्त्री०—आम् देव! शयिष्ये। भूपेन्द्रं प्रतीक्षे, तत एव......

महा०—(मध्ये एव) किं सम्भावयसि मन्त्रिन्! यत् कमलां पुनर्द्रक्ष्यामि!... हन्त! महात्मनो नवेन्दुवर्मणोऽस्म्यहमेव, दुःखकारणम्। जीवन्नेव मृतोऽस्मि।

मन्त्री०—नहि, देव! नैवं वाच्यम्। महाराजानां चरणौ शपे, यतो भूपेन्द्रो-गतोऽस्ति वराकेण जगदवगाढम्। नासौ सालसो यत्कार्यममुं प्रमादेन जह्यात्। तत्पत्रमपि समायातम् (कक्षगुटिकाया निःसार्य)।

महा०—किं लिखति सः—

मन्त्री०—(दीपवर्त्तिकां किञ्चिदुद्दीप्य) देव! स मां सम्बोध्य लिखति—

कति योजनानि प्रत्यहमहो? मयाऽवगाह्यन्ते। षष्टिघटिकात्मके काले स्वप्नेऽपि

---

१ नास्ति गो यासां ता अगाः—ग—रहिताः = ईतय इत्यर्थः। २ लोलक = पेण्डुलम।

शान्ति न लभे। विविधरूपपरिवर्त्तनेन प्रतिक्षणमात्मानं सन्देहसिन्धौ निमज्जयन्नधुनापि साशः। क्षमश्चेद् गुरौ भवता मिलितुमिच्छामि, मद्वचनात्सप्रणामं सान्त्वनीयो महाराजः। जीवनेन कार्यं विधास्ये। शेषं कुशलम्।

टिपासर } आज्ञापालको—
भूपेन्द्रः

महा०—अद्य……

मन्त्री०—आम् देव ? अद्य गुरुदिनम्। मन्येऽधुना स आगत्यास्मान् हर्षयिष्यति।

महा०—दृश्यताम्, किं भावि, मन्त्रिन्! विरक्तोऽस्मि।

मन्त्री०—देव! आपदः प्राणिष्वेव पदं दधति। पुरापि पृथुप्रतिष्ठाः पार्थिवा आपत्तीराप्यापि धैर्यं न तत्यजुः। धैर्यधारिधुरन्धरा भवादृक्षा अपि धैर्यं हास्यन्ति, चेत् तदा हन्त ? कं नामाश्रयिष्यत्यनाश्रया धीरता। गगनमेव गतिं शक्नोति सूर्यमण्डलस्य।

द्वाःस्थो भूपेन्द्रागमनमसूचयत्। आगतश्चैकः सभ्यवेशः प्रभावितमुखोऽरूक्षाकृतिः उपत्रिंशवयाः, दीर्घाकारो व्यायामिविग्रहोऽदृष्टजत्रुव्रजः पुरुषः।

मन्त्री०—भूपेन्द्र, अपि कुशलम्? कच्चिल्लब्धो वृत्तान्तः? भूप, तवैव चर्चा भवति यामेष्वष्टसु।

भूपेन्द्र—किमिव कथयामि देव, अनवरतं रतो भवत्सपर्यायां पर्यायेण प्रचुरनगराण्यवगाहमानः स्वास्थ्यं गमयित्वापि पूर्णोदन्तं न ज्ञातवानस्मि। श्रीमाँश्चन्द्रो मरुत्तरारूढो गतवान्, तदा चालकेन किमपि प्रत्यावृत्य न निवेदितम्?

मन्त्री—विपत्तौ विपद एव पदं कुर्वते। को जानीते ततः किं सूचितमार्येण, परन्तु स वराकः समायन् पथ्येव केनापि हतः। मरुत्तरश्च नीतः। सोऽयं ह्य एव भग्नप्राय आनीतोऽन्वेषकैः। तत्पदपङ्क्तिश्च मृष्टा महत्या मुसलधारया वृष्ट्या।

भूपेन्द्रः—(निःश्वस्य) तर्हि देव? केवलं सूचयितुमेवागतोऽस्मि। कदाचित्पत्रं प्रहिणुवानि, तत्कार्यं श्रीमद्भिः सत्वरमेव विधेलिमम्।

* * *

"चपले ? अकारणबान्धवे, बहुभिर्दिवसैरस्मान् सेवयसि। स्वकीयममूल्यं समयमस्मदर्थं व्यर्थयसि। कुसमयागमनेनात्मानं संशये आरोपयसि। याहि, तवाभिलषितं

ददामि, ते स्वामिन्या अभिलषितं पूरयिष्यति परमेश्वरः। परन्तु चपले! सरोजिनी विवाहमहोत्सवे वयं न विस्मर्त्तव्याः।"

'आम्, अपरं शृणु, कोऽपि पटुर्वीरः प्रबलसिंहस्त्वत्स्वामिनीप्रेयांसं चन्द्रं द्रुह्यति, अपि जानासि तम् ?

चपला—आं देव! तपसाधिगतसिद्धेर्भवतः किं तिरोदधामि। स एव मम सहचर्याः कुमुदिन्याः प्रणयपात्रं वर्त्तते। तस्याः सूचनादेव कमला मोचिता। सर्वं वृत्तञ्चावगतम्। परन्तु सोऽस्मत्कृत्यमण्वपि न जानाति। न च कुमुदिनी तस्मै सूचयति। अस्तु, तर्हि तदर्थं किमपि करणीयं किम्!

महात्मा—नहि, किं करणीयम्.. न करणीयम्। कुमुदिन्यपि न सूचनीया। अन्यथा सत्यवीरः प्रबलः क्रान्तिसिंहदुष्टाय सूचयिष्यति। कीदृशो वीरो दुष्टस्य हस्ते समापतितः।

चपला—देव! एते सर्वे राज्ञो नन्दनसिंहस्य भृतिभुज आसन्, परन्तु दैवाद्देवे-दिवं गते दुष्टस्यैतस्य हस्ते पतिताः। परन्तु प्रबलः सम्प्रत्यपि सरोजिनीं मानयति।

महात्मा—अस्तु, त्वमधुना गच्छ।

सोऽयं महात्मा कस्मात्कालात्तपस्यति—इति सर्व एव इतस्ततस्त्या जानन्ति। विर-क्तस्यास्य एतत्प्रान्तीयाः सर्व एव परिचिताः विशेषतश्चौरधूर्त्ताः। कार्यसिद्ध्यै त एनं स्तुवन्ति, आद्रियन्ते। एषा चपलाप्येकदा महात्मकीर्त्तिमुखरितया सरोजिन्या काय-साफल्याय प्रेषिता। महात्मना—"देवि! महात्मनां सेवैवामन्त्रतन्त्रं वशीकरणम्, सैव करतलगता सिद्धिः। ते नान्यत्किमपीच्छन्ति"—इत्युक्ता प्रतिदिनं सेवितुं विनीतवेशा प्रत्यैति। महात्माप्युत्कण्ठया सरोजिनीक्रियमाणं चपलया विवियमाणं कर्म ध्यानेन शृणोति। महात्मन्ययं विशिष्टो गुणो यद् येन सकृदालपति तमा-जीवनं वशयति। युक्त्युक्तिभिर्मोहयति। सर्वैः सह मृदु भाषते विहस्य वक्ति, परन्तु कस्मैचन यदा कदा क्रुध्यति, तदपि कर्णे। अत एव एनं सर्व आद्रियन्ते। प्रबलसिंहादयोऽप्येतस्य नितरां परिचिताः यत्कुर्वन्ति चिकीर्षन्ति च महात्मने सूचयन्ति।

सोऽयं महात्मा एतत्प्रदेशजानां कर्मणामभिज्ञाता, परं स्यान्नाम किमनेन महात्मनः। स तु एकेन कर्णेन शृण्वन्नपि अपरेण निष्कासयन्, स्वयजनयाजन एव रत आस्ते।

* * *

कृष्णः पक्षः। निशीथः समयः। सधूलिर्वायुः सकम्पाः पादपाः। निद्रिताऽशेषजनं जगत्।

निशयाऽष्टमीन्दुं विजित्य स्वसाम्राज्यं विस्तारितम्। तस्याः पैशाचिकी चमूश्चराचरे प्रभावमाच्छादयत्। सद्वृत्तयश्चन्द्ररश्मय इव न्यलीयन्त। वन्यहिंस्रजन्तवोऽसद्वृत्तय इव विस्रब्धसुप्तानां वराकजन्तूनां विजिघांसयाऽभ्रमन्।

स्वच्छसलिलं सरः। सरस्तटे अतिथिविश्रमायावासभवनानि। आलवालेषु पिप्पल-निम्ब-न्यग्रोधा यथास्थानमराजन्त। भूपेन्द्रः शिशयिषुः, सहचरैः सम्मन्त्र्यैकस्मिन् भवने व्यरमत्। श्रान्त आसीदेव पतन्नेव गाढमाक्रान्तो निद्रया।

"सहयोगिनः! अधुनैवाहं स्वप्नमन्वभवम्"—भूपेन्द्रेणोत्थायोक्तम्।

यदहं शून्यनगराद् बहिरश्वारूढो यामि। अकस्मादश्वो गहनं वनं प्रविष्टः। पार्श्वतो वृकव्याघ्रशार्दूलाः शब्दायन्ते। मम हस्ते चैकं वेत्रमास्ते। परं यथाकथञ्चिन्मनो द्रढयन् वनान्निवृत्तः। अग्रे एका नदी प्रवहति। तस्यां जानुमितं जलम्। तस्यामश्वारूढ एवाहं पारं प्राप्तुमिच्छुर्यामि। अकस्मान्नदीजलमलं प्रवृद्धम्। जलप्रवाहो वाहोद्वेगकारी क्रोशेषु विस्तीर्णः। जले प्रोच्चा जलावर्ताः प्रादुरभवन् समीरस्योत्थापितसलिलेनाक्रान्तोऽहं साश्वो निमज्जन् केनापि तपस्विनाऽकस्मादागतेन निष्कासितः पारं गतः पदातिर्भूतः। अकस्माद्वने दावानलस्य प्रचण्डो वेग उत्थितः। अहञ्च भीतो यथा पलाये, तथा पथि विस्तीर्णे जाले पतितो बद्धश्च। तेन भयेन स्वप्ने यथाऽरोदिषं तथा मम निद्रा भग्ना" इति।

स्वल्पावशिष्टाधुना रात्रिर्गन्तव्यमस्माभिरिति सम्मन्त्र्य चलितः स उज्ज्वलितं जातवेदसं दृष्ट्वा, तमेव लक्ष्यीकृत्याचलत्। चतुरस्रो भूभागः। एकतो लघीयसी नवीना कुटी। अग्रभुवि च कम्बलं विस्तृतम्। अग्निः प्रज्वलति, यस्मिन् कमण्डलुमिता अङ्गारा भापयन्ते। अनतिदूर एवैकः शान्तो निष्प्राण इवाचलः, निमीलितनयनः, जान्वग्रधृतहस्तयुगलः, धृतशरीर इव धर्मः कलिकालकवलनभयेन विजनवनवसनतिरोहितः,

हितः प्राणिमात्रस्यैव सत्यः, अहेतुकघातुकप्रकृष्टनिष्ठुरदुष्टसन्त्रासत्रस्तयाऽलब्ध-शरण्यया दयया पूरिताङ्ग इव पीवरः वासश्शकलवेष्टित-कटिभागो, नाग इव निर्भीको निर्जितप्राणः, स्वच्छान्तरसः, करुणाप्रवाहप्रवर्त्तकः, अपारतपःपारावारपारीणधुरीणः, भसितसितकेशपक्ष्मश्मश्रु र्व्यायतललाटो महात्मा कुशासने स्थितः। समीपे चैका तुम्बी नारिकेलस्य खर्परपात्रं चिम्मटं दण्डः इति।

अथासौ प्रचुरं विचार्य महात्मनोऽनतिदूर उपविष्टः समाधिभङ्गमपेक्षमाणस्तन्मुख-कृतेक्षण आस्त। घटिकात्रयेण महात्मा साङ्गमर्दं सजम्भमुत्थायाऽग्निं प्रदक्षिणी-कृत्याचम्य हस्तयुगलमायोज्य श्लोकमिममपठत्—

अपार-संसार-समुद्र-तारिन्!
स्वभक्त-भूताखिल-दुःख हारिन्!
निशाचर-स्तोम-विनाश-कारिन्!
त्रायस्व मामुत्पलमालभारिन्!

"श्रीमतां चरणसरोरुहयोः प्रणमामि" महात्मना सावधानं वीक्षितः प्राब्रूत भूपेन्द्रः।

महात्मा०—(तूष्णीम्भूतः किमपि विचारयति)

भूपेन्द्रः—भगवन्, देदीप्यमानप्रबलसाम्राज्यस्य कलेः केलिकाले, पादैः प्रमथ्यमान-तपोधनगोधननिकुरम्बे महात्मनां तपोऽभिवृद्धिरवश्यमानन्दावहा। संसारे भगवद्भजन-मेव श्रेयः। तदन्तरा पुंसः परस्मिँल्लोके नैका काकिण्यपि प्रादुर्भवति। विषयसुखं [1]माहेय [2]माहेयमिव हेयम्। देव! भवादृशा एव जगदर्णवकर्णधाराः, सन्ति। भवादृशानां योगबलेनैव स्थितास्ते भूः।

भगवन्! दुःख्यस्मि, वराकोऽस्मि, भवतां लघीयसापि हस्तेन अस्यावर्त्तपतिता नौ रुद्धरिष्यति। महात्मन्! दयनीयोऽहम्। भवन्ति किल मादृशाः साधूनामनुकम्प्याः।

महात्मा०ः—(अस्य वचनभङ्गीमाकर्ण्य क्रुद्ध इव सिन्दूररञ्जिताभ्यामिव, पुरः स्थितक्रीटयोनिप्रतिबिम्बिताभ्यां, तिरोहिततपोरागाभ्यां विशालाभ्यां नेत्राभ्यां दहन्निव, उदरसात्कुर्वन्निव, जिघृक्षन्निव, चेतनीकृतसमस्तकाननया, गम्भीरया प्रतिध्वनि चतुर्गुणया वाचाऽनमर्षोऽपि सामर्ष इव सम्भर्त्सयन् प्राह) क्व नाम विस्मृतदुःखा-

१ मह्यां भवं माहेयम्। २ अहौ भवमाहेयं = विषम्।

कूपारगर्भप्रतिज्ञानाम्, ज्ञानाम्भोधिपानागस्त्यानाम्, सततसन्ततिततिकार्यविस्तार तारगतचेतसाम्, अद्यश्वीनमरणाय अकार्यकरणापेयपानाखाद्यखादनापाठ्यपठनादृश्य दर्शनकलुषितैनःपूरितनिन्दानिधिमेधानाम्, असदभिनिवेशप्रदुष्टस्वान्तानाम्, कुकृत्य सम्पादितयशसां, [1]अनभ्यासमित्यानां पशुवृत्तिपराणां नराणां वार्त्तया आवश्यकता। पूर्वं भगवद्भजनमाहात्म्यं कथयित्वा सम्प्रति नावमावर्त्तपतितां शोचति। मम कौपीनग्रन्थौ निबद्धास्ते नौः, उन्मोचय मम कक्षे विलीनास्ते निष्कासय। धूर्त्त! मा नाम गार्हस्थ्यवार्त्तया दूषितं विधेहि मनः। अपेहीतः। नाहं तव भ्रमे पतिष्यामि धूर्त्त! कुलाङ्गार! कपटप्रिय! पथिकवञ्चक! हँ हँ हँ हँ (हसति)

विचित्रमदो हास्यमासीत्। भूपेन्द्रो गतप्राण इव सम्भूतः—तस्य चेतसि सांशयिका विचाराश्चेरुः स शोचन्नासीद् यदद्य कीदृशेनाज्ञातस्वभावेनावसरः समापतितः। ईश्वर एव क्षेममाचरिष्यति। परन्तु हासेन जातं किञ्चिदाशाबन्धनं प्राणेषु। क्षणं पक्षद्वयत एव नीरवताऽऽच्छन्ना। पुनः प्रशान्तया वाण्या मधुरशब्दैराह महात्मा—

पान्थ। किमिच्छसि! कथं तव नौरावर्त्ते पतिता। वयं साधवो गतस्पृहाः। न कमपि प्रेक्षामहे। अखिलं विद्मः। प्रेमपात्रस्याग्रे कथयामोऽपि। कथय किन्ते प्रयोजनम्!

भूपेन्द्रः—महाराज! बिभेमि। यद्यभयं भवेत्तदा किमपि निवेदयेयम्।

महात्मा०—अभयन्तेऽस्तु, कथय।

भूपेन्द्र०—महाराज! राज्ञो रामपालस्य पुत्री कमला रात्रौ सुप्ता प्रातर्न लब्धा। ताञ्चान्वेषयन्नस्माकं राज्ञो भावी जामाता नाम्ना चन्द्रः—राजनगरराजकुमारोऽपि गतः। यदि श्रीमतां मतिमतां शान्तात्मनां महात्मनां दया भवेच्चेत्तयोः स्थितिं सूचयेयुस्तदाहमपि लब्धमहोपहारश्शं जीव्यासं शरदः शतम्।

महात्मा०—चन्द्रः कमलां त्वञ्चोपहारं लप्स्यसे, किमनेनास्माकम्।

भूपेन्द्रः०—नहि नहि देव! कल्याणभुजो भविष्यन्ति भवन्तः। साधवो जगतां कल्याणकर्त्तारो यतः

---

[1] दूरतः परिहर्त्तव्यानाम्।

महात्मा०—भवत एताः कः शिक्षयति, हुम्, अस्तु तर्हि सत्यं कथयामि किम्।

भूपेन्द्र०—आं महाराज!

महात्मा०—चन्द्रोऽधुना "नन्दन पुरे" आस्ते। तत्रैव च त्वत्स्वामिसुता कमला। परमशक्तस्त्वं तौ लब्धुं; यतः कस्याश्चन प्रेम्णि बद्धः सः।

भूपेन्द्र०—नैवं प्रवक्तव्यम्। अहं पातालादपि शक्तोऽस्मि निस्सारितुम्, का कथा नन्दनपुरग्रामटिकायाः।

महात्मा०—आ, एवम्। व्रज साधय, कुरु कार्यम्।

* * *

सायं दिष्टः, दृष्टिः कलुषा। भविभाऽनाढ्यो नैशिकोऽन्धकारः प्रादुर्भूतः। कुमुदिनी नरवेशमायोज्य पुरं प्रेक्षमाणा मौनमवलम्ब्यागतप्रत्यागतं विदधाति। गोपुरे कमपि[1] अद्यनवीनमपश्यत् प्रादुरासँश्चालोला आलापाः।

कुमुदिनी०—पान्थ! क्व यासि!

भूपेन्द्र०—किन्ते प्रयोजनम्। क्वापि यामः।

कुमुदिनी०—अरे! अहं कोट्टपालोऽस्मि पुरः। जानासि न वा!

भूपेन्द्र०—अत्रैव समायाताः (अग्रे व्रजति कुमुदिनी रुणद्धि)

कुमुदिनी०—क्व यासि मूर्ख? पूर्वन्तु कथितं यदत्रैवायातः—अधुना चाग्रे व्रजसि, बालिश?

भूपेन्द्र०—परीक्ष्य प्रवक्तव्यम्। नायं ग्रामटिको जट्टः, किन्तु चतुरशिरोमणि भूपेन्द्र इति कथयन् उद्भ्रान्त इवाभूत्।

परमस्माकं कोट्टपालस्तु विशिष्टश्चतुर आसीत्, यतो मर्यादया एकतो भूत्वा गुटिकामेकां भूमौ समपातयत्। तदुत्थितधूमेन च मूर्च्छितः ससहचरो भूपेन्द्रः। तच्च वायुध्मानेनाकारितैः सहचरैः पोट्टलिकास्वावध्य स्वभवने प्रैषयत्। अनुपद्रवं देशं द्रुतं पर्यट्य स्वभवनं प्रतिनिवृत्य भूभवननिबद्धं नष्टचेष्टं भुवि विलुठन्तं ससहचरं वीक्ष्य भूपेन्द्रं तस्य-कन्थासु पत्रादिकमन्वेषयन्ती पत्राणि लब्ध्वा तस्य दैनन्दिनीञ्च प्रपठ्य सौदामिनीव चञ्चला-

---

[1] अजनवी।

कारा, काराबन्धनं तस्य शोचन्ती, तदुद्योगं तल्लक्ष्यं क्षणेनैव ज्ञातवती। चिरं चिन्तयामास हन्त! महानयमनर्थो जातः। अस्तु यज्जातं तज्जातम्।

*   *   *

पाथोनिकेतने श्वैत्यन्यक्कृततूलं कूलमासाद्य परं परमश्रमललितलोहितलपनपद्म-लग्नाम्भःकणैः सरोजिनीव बभौ सरोजिनी। सा चोत्पन्नमहाऽपहायोदस्वन्ति वासांसि मसृणमञ्जूषया शुष्कवस्त्राणि धृत्वा भीरुभामिनीभूषणं दूषणं साहसिकानामपहाय शोकलोकं बाहीकभूमावागत्याभिनवां रथलेखामविदूर एवापश्यत्। आशङ्कित-मना एकस्मिन् प्रोच्चं गण्डशैलमारुह्याऽभितः पश्यन्ती गव्यूत्यन्तराल उद्घातिन्यां भुवि शनैश्शनैर्यन्तं रथमेकमैक्षिष्ट। रथसम्मुखपादपेभ्योऽकस्मान्निःसृतया तया सारथेरेवमभूवन्नालापाः।

सरोजिनी—क्व यासि रे! पाटच्चर, तिष्ठ, पश्यामि। रथे किमस्ति।

सारथिः—मन्ये धृतस्त्रीवेशः कोऽपि धूर्त्तोऽसि, परं नाहं वेशेन दयिष्ये। जिह्वां चर्परयिष्यसि चेल्लग्नचपेटो धरां धास्यसि। व्रज, अपेहि, न तेऽवस्था (कशयाऽश्वौ ताडयति)।

सरोजि०—मूढ? मदाज्ञामवज्ञाय क्व पलायितुमिच्छसि, पश्य सज्जो भव।

सरोजिनी एकतो भूत्वा रथ्यस्य शिरोधरां कृपाणमोषकेन सद्य एव हारयाञ्चकार। गतग्रीवे चार्वति, अतिरोषकषाये च सारथेस्तुण्डे क्रोधोद्यमतरलनेत्रायां सरोजिन्यां समजनि जन्यम्। पादाहतः कृष्णोरग इव प्रादुर्भूतमदः करीव भीकरकायः रोषोच्छलद्गात्रः स सरोजिन्या वराक्या उपरि कटकटायितदशनः कृपाणपाणिः पतितः। परन्तु सरोजिनी सौन्दर्य एव केवलं नाग्रगण्या, किन्तु कलाकलापालापिनामपि, यत स्तत्प्रहारं व्यर्थीकृत्य लघीयसा हस्तेन तच्छिरः फलमिव पक्वं बिल्वस्य निपातया-ञ्चकार। मृते सारथौ रथ्ये पररथ्ये च गन्तुमसमर्थेऽर्थे सफला सा सद्य एव रथान्मूर्च्छितं वस्त्रवेष्टितं पुरुषमेकमुत्तार्यापश्यत् फेनमृतमुखचन्द्रं स्वमनःकुमुदचन्द्रं, रिपुपूरतमश्चन्द्रश्चन्द्रम्।

तमेवं चिन्त्यां दशामनुभवन्तं वीक्ष्य नालभन्ताश्रूणि स्थानमन्तः। तानि सत्वरमन्तर्गतदुःखताडितानि धावमानानि नेत्रद्वाराभ्यां बहिरागत्य तद्दुःखदुःखितां

भुवमपि सिषिचुः। "कथमेकाकिनी शत्रुसङ्कुले सोपद्रवे विजने वने विलपामि। कोऽत्र सत्यां विपत्तौ साहाय्यमाचरिष्यती"ति चेतसा सतर्कीक्रियमाणा निपुणं नाडीं परामृश्य मूर्च्छां विज्ञाय तदपनयनौषधीं तस्मा आघ्राप्य, काँश्चिद्बिन्दूनपि तन्मुखे नेत्रयोश्च निपात्य प्रतीक्षमाणातिष्ठत्। घटिकाषष्ठांशेन स नेत्रे उन्मील्येतस्ततो व्यैक्षत, तावदेव प्रबलमवमत्। मुखं प्रोञ्छ्य यावदुत्तिष्ठासति प्रमदामेकां चन्द्रहासतारल्येन चक्षुश्चकितयन्तीं वीक्ष्य "नहि शस्त्रात्यन्ताभावशालिनि पुंसि श्रेयान् शस्त्रपात" इत्याह।

सरोजिनी त्वेकतः पतितं सारथेः खड्गं लक्ष्यीकृत्य "गृहाणामुं खड्गमहमपि वीर कर्म दिदृक्षे" इत्युत्तीर्य योद्धुमसज्जत। घटिकां यावदभूद् बहुलविधानं जन्यम्।

"कस्त्वम्, अप्रहरन् युध्यसे।"

"महाराज! एते दुष्टाः श्रीमन्तमावध्यानैषुरितिवृत्तमहं ज्ञात्वा मनाक् सेवितवती। मूर्च्छनशिथिलाङ्गस्य भवतो मनोविनोदाय आलस्यापनयनाय च क्रीडिता, न रुषा, सैयं धृष्टता साधुशीलैः क्षम्या। सम्प्रति अनुकामीनं,[1] मीनमिव पीनं रथावशिष्टमश्वमारुह्य यथाभिलषितं प्रदेशं प्रयातु देवः, अहमपि यामि। "किंनाम देवस्य।"

"चन्द्रः" "कुत्र भवती निवसति! किञ्च नाम भवत्याः।"

"पार्श्वे एव नन्दनपुरं तत्रैव मम वसतिः आख्या च सरोजिनी स्मर्तव्येयं कार्ये" इति कथयित्वा स्वीयं गुल्फलम्बि, अङ्गरक्षकं सकृदपहाय फट्कारेण धूलिकणानपसार्य पुनरायोज्योत्तरमनपेक्षमाणा, प्रस्थिता। चन्द्रश्च व्यतिकरेणामुना किंकर्त्तव्ये व्यमुहत्।

अथ विरोचनो रोचींषि समकोचत्। विदूरप्रसृतहिमततिताडनसंकुचितास्विव काष्ठासु प्राबल्यं बभूव तमसः। सर्वत्राकाशे तमःस्तोमो व्यापप्रे। दुर्दिनानीव दीनान् तमांसि भुवं व्याकुलयामासुः।

दैवहतकेन दृष्टः शन्निलयेऽपि शिवभवनेऽपि सुखी न तिष्ठति। तस्यामृतमपि विषायते, सुखसाधनं दुःखायते, प्रसूनान्यपि प्रहारायन्ते, मातृमन्दिरमपि यममन्दिरायते। अहेतुका आपदः स्फारीभवन्ति।

---

१ अनुकामीनो = यथेष्टगन्ता।

यतश्चन्द्रः सरोजिनीमनुचलितो गहने गहने मदमत्त इवेयाय ।

चन्द्रः प्रथमन्तु ज्वलितं जातवेदसं महात्मानञ्च वीक्ष्य 'क्वाऽऽयातोऽस्मीति भीतोऽपि, महात्मनः समीपमयासीदेव। स च चरणध्वनिना सतर्क आगन्तुकमपश्यत्। इतश्चन्द्रोऽपि साधुवीक्षणसमकालमेवाश्वादवतीर्य वल्गामाकर्षयन् साधोरभ्यर्णमुपेतः।

चन्द्रः—(प्रणामं कर्त्तुमीहमान इव) भगवन् !

महात्मा—नाहं प्रणम्यस्त्वया वधिक ! वराकान्मुधैव हिंसन् भ्रमसि ।

चन्द्रः—(महात्मस्वनुचितं कोपं प्रशमय्य) महात्मन् ! भवता कथं ज्ञातोऽस्मि यदहं वधिकः ।

महात्मा०—(हृष्टोऽपि कृत्रिमकोपं प्रदर्शयन्) आम्, महात्मन् ! कृपाणपाणे ! जगद्रक्षक ! त्वं नासि वधिकः । वयं स्मो वधिकाः । योगिराज ! स्वागतं तेऽस्तु ।

चन्द्रः—(निरीहो वास्तविकः स्तवनीयकीर्त्तिर्महात्मायं प्रतीयते) महात्मन्। किं खड्गधारिण एव वधिका भवन्ति, किं मालाविक्रेतारो भगवद्भक्ताः ? गङ्गाम्बुपायिनो दर्दुरा अपि स्वर्गसौभाग्यभागिनः !

महात्मा०—नाहं भवत उपमानं शिक्षयामि । कस्याश्चन नायिकायाः समीपं व्रज।

चन्द्रः—लक्ष्योऽखिलक्रूरचक्षुषां, विपदाञ्च, पात्यः प्रेयसां त्याज्यः सर्वदेहिनामस्मि। भवतापि वधिकपदेन सम्बोध्ये ?

महात्मा०—(शान्तो भूत्वा) अस्तु, उपविशासने । अश्वं वृक्षे आयोजय। कुटीरे शष्पं वर्त्तते, अश्वाय देहि । श्वो गन्ता ।

चन्द्रः—दया भविष्यति चेच्छ्रीमताम् ।

अश्वं प्रलम्बया वल्गया वृक्षे नियम्य शष्पञ्चाग्रे निपात्य महात्मप्रदत्तं फलमूलादिक मुपभुज्य चन्द्रोऽपि महात्मनः समीप एव कृष्णकम्बले पाण्डुकम्बलार्हः शयनं कल्पितवान्। द्वयोरेव चित्तं प्रचुरविचारैः पूर्णं द्वावेव च महोत्कौ प्रत्यैताम्। द्वयोरेव नेत्रे सव्याजं सकुटिलेक्षणवीक्षणं पारस्परिकं भावं विज्ञातुं मुखरिते आस्ताम्। परन्तु द्वावेवावसरं प्रैक्षाताम्। अन्ततः स्वभावचतुरो महात्मैव वचःसन्दोहं प्रावर्त्तयत्।

महात्मा०—पान्थ ! किन्ते नाम ! का च जातिः !

चन्द्रः—मां लोका 'चन्द्र' इति सम्बोधयन्ति । जात्या क्षत्रियोऽस्मि । महात्मन् ! किं नाम भवतः ?

महात्मा०—(स्मयमानमुखः) अस्य शरीरस्य……'शक्तिनाथ'—इति संज्ञा । अस्तु, चन्द्र ! सत्यं कथयिष्यसि, यदहं प्रक्ष्यामि ।

चन्द्र०—आम् देव ! कथं स्यात्तिरोधानं करामलकजगतां भवतां पुरः ।

शक्ति०—न तेऽङ्गानि श्रमक्षमाणि, न च प्रतीयते आहितश्रमं वपुः । न च विदित-वनवृत्तान्तं मनः, न च क्रूरवृत्तिः प्रकृतिः । पुनः किमर्थं [1]च्यौत्नीभूयाटवीतोऽटवीं, पुलिन्दकुणिन्दा[2]न् श्रावं श्रावं पुरः पुरं नगादगं भ्रमसि । [3]कुटरुवासिनो भवादृशा नारुरु[4]रुरु[5]रोदितशिवास्कन्दनसिंहक्ष्वेडाव्याघ्रविजृम्भणव्यालकरालकेलिलालिते-शार्दूलदोलनशक्क[6]धावनविधुतधैर्ये, [7]क्रुश्वक्रष्टे अन्यान्यवन्यशीव[8]विसरस्रुते, [9]सुत्वनस्तितृंहिषद्व्याप्तेऽवने[10] वनेऽनवना[11] भ्रमन्ति इति न चेत् कापि क्षतिस्तर्हि सङ्क्षिप्य कथनीयस्तावकोऽयं वृत्तान्तः ।

चन्द्र०—किमविदितं भगवत्पादानाम् । सर्वं विदन्नपि बालवदाचरसि । धन्या भवन्तः, यैरखण्डाच्छेद्याकाश्यतपोहुताशेन भस्मितममितं कुलस्याप्येनः । पावकपूतं वनमिवाङ्गारा-वशेषं पूतं प्रतिभाति येषां वपुः । धन्यौ भवतां जनित्वौ यावीदृशं पुत्ररत्नं प्रासूताम् । भगवन् ! अलमेतादृशमलिनवृत्तं श्रुत्वा । भगवन् ! भृशं दुःखितो-ऽस्मि, दुःखकल्मषयुजामसञ्जातसुखसूर्योदयानां भवादृशा भवविमोचका एव भवन्ति शुभाश्रया इति कवोष्णं निःश्वस्य चन्द्रः स्वकीयमुदन्तं विस्पष्टं न्यवेदयत् ।

गलितयौवना कामिनीव यामिनी शैथिल्यमभजत । चन्द्रो निःशङ्कं सुप्तः । शक्तिनाथस्तु निभृतमुत्थाय, गतो यथेच्छम् ।

अराजत प्राचीकामिन्याः सौभाग्यारुणसिन्दूरबिन्दुर्विशालभाले । बभूव चाग्रेसर उन्नतिपथे त्यक्तमेरुः पेरुः । प्रहरमात्रेणैव बभूव मध्यमह्नः । परन्तु युवराजश्चन्द्रः सुप्त एव । तस्यानल्पघोषा घोणा निद्राभरं व्याज्ञीत् । परं कोमल-दूर्वाङ्कुरभक्षण-

---

१ च्यौत्नो = गमनशीलः । २ कुणिन्दः शब्दः । ३ कुटरु वस्त्रगृहम् । ४ अररुः शत्रुः । ५ रुरुर्मृगभेदः । ६ शक्का=हस्ती । ७ क्रुश्वा शृगालः । ८ शीवाजगरः । ९ सुत्वा — ब्रह्मा । १० अवने — निर्जले । ११ अरक्षणः ।

गतश्रमो हर्षकृतह्रेषः शरीरं धुन्वन् वाजी एनमुदनिद्रयत्। अथ चकितो भीतश्चोत्थाय क्व गतो मुनिरिति सकृत् सम्भ्रान्तः, अथवाऽऽयास्यति किमस्माकमिति निश्चिन्तः, स्नात्वा प्रचण्डबुभुक्षाक्षामवदनो मुनेराज्ञां विनापि कुटीकोणधृतानि फलानि समुपभुज्य वाहमारुह्याभिमुखं दण्डमाथमाश्रित्यायासीत्।

नन्दनपुरप्रवेश एवासीच्छुल्कशाला। अध्यक्षेण चन्द्रस्याभूदालापः ।

"भोजनालयोऽप्यन्तः?"

"आम्, भोजनालयः, शैत्याधःकृतहिमालयो जलालयः। पत्रवाचनालयः भोजनसमये च नृत्यस्य प्रबन्धः, रात्रौ च मनोरञ्जनाय गानवाद्यमिति सर्वा सुखदसामग्री भवतां पुरो नृत्यति"।

"कस्यां भूमौ स्थानं दास्यते"!

"तृतीयायाम्, यतस्तत्रैव राङ्कवास्तरणास्तृताः सुसज्जाः पर्यङ्काः। महार्हा आसन्द्यः। विचित्राणि चित्राणि। सर्वा राजोचिता व्यवस्था।"

"घोटकस्य..."

"आम्, घोटको मन्दुरायां स्थास्यति। अस्मै घासादिकमप्यस्माभिर्दास्यते।"

"भोजनशालायाः प्रबन्धः कीदृक्?"

"देव! सामिषं निरामिषञ्च भोजनं पृथक् पृथक् स्थानेषु निर्माप्यते। सुपाचकपक्वं वैद्यैः परीक्षितं विशुद्धं भोजनं दीयते!

"तर्हि निर्दिश पन्थानम्।"

"कियच्छुल्कमेतस्य"—

"प्रतिदिनं दशमुद्रा" इत्युत्तीर्य तालिकां समर्प्य "कस्यापि वस्तुन आवश्यकतायामहं सूचनीयः—इति वदन् गतः।

भवने शौचस्नानवेशागार आसीत्। स च स्नात्वोपस्थाय पाचकानीतं मधुरमधुरं स्वादु भोजनं प्राश्य भवनाग्रभूमावेव शतपदीं विरचय्य भृत्यानीतं ताम्बूलदलमेकं सञ्चर्व्य निश्शङ्कमशयिष्ट।

* * *

एकस्मिन् भवने लघीयसि दीपाधाने स्थितः प्रदीपो मन्दं मन्दं प्रकाशते।

प्रकाशेनामुना न शक्यते शमयितुममन्दं कौटं तमः। एकस्मिन् भग्नकाष्ठपीठे स्थितौ द्वौ पुरुषौ शनैश्शनैरालपतः।

"न जाने कोऽस्य कथं साहाय्यमाचरति वीर!"

"कापि विशेषा शक्तिरेनं रक्षति प्रबल! परमधुनाऽस्माकं जाले तथा पतितोऽस्ति यथाऽऽख्यावशेष एव संवत्स्र्यति। कान्तिसिंहाय पूर्वमेव बहुशोऽस्य वधायावोचं परं न जाने स किमिव विचारयति, यतः 'गुप्तगुहायामेव प्रेषयितुमैच्छत् परमयं सारथिमश्वञ्च निहत्य इहायातः।"

प्रबल०—(चायचषकं निपीय) अस्तु, गतः सोऽवसरः, अधुना करणीयं विचारणीयम।

वीर०—विचारितमेव विद्यते। आवां तारस्वरेण चौरश्चौरः—इति कथयिष्यावः। रवेण सर्वे नष्टनिद्रा भविष्यन्ति, न चन्द्रः। यतस्तस्य भोजने पाचकेन प्रचुरं भङ्गा दत्ता। मादिनीमत्तः स भृशं शेते तद् दृष्टमेव। तत आवां तद्भवनस्याग्रे स्थितौ "अस्मिन् भवने प्रविष्टश्चौरः" इतिकथयिष्यावः। एष उपायः कार्यसाधकः। शुल्कशालाध्यक्षश्च मुद्राशतं दत्वा सानुकूलः कृत एव।

क्षणेनैव "चौरश्चौर" इत्युत्थितः प्रचण्डो ध्वनिः। जनश्चोन्निद्रितः। चन्द्रस्तु सुप्त एवासीत्। शुल्कशालाकोट्टपालोपि कोलाहलममुमाकर्ण्य ससहचरः समेतः। ते सर्व एव तेषां कपटपटूनां कथनानुसारं सद्य एव चन्द्रभवनं प्राप्ताः। पद्भ्यां कवाटयुगलमाजघ्नुः—प्रबलमाजुहुवुश्च परं स नोत्थितः। अन्ततः कर्णविस्फोटकेन 'धडधड' निनादेन चकितं स उत्थितः। स्वप्नेऽप्येष शत्रुभिर्युध्यमान एवासीत्। उत्थायापि 'धडधड' ध्वानं कुर्वतस्तान् शत्रूनेव विज्ञाय सामर्षः पर्यङ्कधृतं कृपाणं पाणौ कृत्वा कोशादाकृष्य द्वारमुद्घाट्य युयुत्सुः संवृत्तः। को नाम मृत्योर्मुखे आत्मानं निपातयेत्, सर्व एव दर्शकाः कान्दिशीकाः स्खलन्तो निपतन्तो दुद्रुवुः। केवलं ससहचरः कोट्टपालः प्रबलवीरवरौ च स्थिताः। कोट्टपालस्य मनस्यपि कृपाणपाणौ तस्मिन् दृढत्वमाप चौरविश्वासः। "प्रकृष्टदुष्टश्चौरोऽयं यद्धनमपहृत्यापि युयुत्सुर्विद्यते,-इति चेतसा निश्चित्य ससहचरः कोट्टपालो वीरवरः प्रबलश्च युगपदेव खड्गपातञ्चक्रुः। परञ्चन्द्रस्तु चन्द्रहासचालनचुञ्चुरासीद् यतस्तेषां मध्यात्प्रोच्छल्य वीरवरशिरो भूमिसात्कृत्वा यावदपरं प्रजिहीर्षति तावदेव पृष्ठतः प्रबलेन दृढमाबद्ध-

हस्तयुगलोऽवर्त्तत। ते च सामर्षा मुष्टिचपेटापादाघातैर्भृशं व्यथयन्तः कटुवचोभिर्मर्माणि स्पृशन्तो युवराजं प्राध्वंकृत्य[1] भीषणाकारायां कारायां निपातयामासुः।

* * *

प्रातः समयः। व्युष्टवायुर्नवीनं जीवनं सञ्चारयन् रयेन मन्दोऽमन्दमानन्दं तन्वन् वाति। उदीयमानः सूर्यः पूर्वत एवारुणदूतं प्रेष्य स्वागमनं सूचयति। अमरेश्वर-राजभवनमिव वीक्षितुमुच्चैः शिराः, पर्वतोच्चप्राकारो रक्तभित्तिः कूपनिम्नया कण्टकिद्रुमया नितान्तदुर्गमया महत्या परिखया परीतो विचित्रकक्षो विहितरक्षो रक्षोदर्पघ्न आदर्श-दुर्गो राजते।

महाराजः श्रीमान् कामेश्वरसिंहो वाजिनमारूढः, एकाकी प्राभातिकपवनसेवनाय वनाय जगतः प्राकृतिकं सौन्दर्यं समयस्य रामणीयकञ्च विलोकयन् मनस्येव मग्न इतस्ततश्चक्षुरविक्षिपन् यन्नासीत्।

सघनवटवृक्षस्यैकस्य तले आलवालकृतासनो मालां विभ्रामयन्नेकाक्येवासीत् प्रचुर शक्तिश्शक्तिनाथः। कामेश्वरसिंहोऽप्येतस्य नितरां भक्त एतस्य वैराग्यव्याख्याने सर्वोदयप्रवचने बहुश उपस्थाय स्वमतुलात्मनो महात्मनश्चरणयोरार्पयत्। बहुश एनं नन्दनपुरागमनायाग्रहीच्च। तमद्यात्रोपविष्टं वीक्ष्योपगम्य अश्वादवतीर्य देहं नमयन् "साधो! प्रणमामि"—इत्याह।

शक्ति०—(शनैः) चिरं जीव।

कामेश्वर०—(शक्तिनाथेन निर्दिष्टशिलातल उपविशन्) भगवन्! अनीहया औदास्येन कथम्। केनाप्यपराद्धः किम्। कथं दुःखित इव प्रतीयते भवान्।

शक्ति०—राजन्! अपराधस्तु साधुसद्धर्मरक्षितरि भवति भर्त्तरि न सम्भावयितुं शक्यते। परन्तु यस्य योगक्षेमनाशिताशेषभीतयः साचाराः प्रजाः सुखं शेरते, येन विश्वविश्रुतयशसा शशाङ्कनिर्मला ख्यातिर्वर्द्धमानमहाप्रचारेण धर्मेण सहैव दिगन्तं नीता, यस्य प्रभावेण त्यक्तवैरा विरोधिनः पशवोऽपि परस्परमङ्कादङ्कं क्रीडन्ति स्म। येन चुरापहृत-हिरण्यं समुत्पादितभयं भृशं दण्डितं लुण्टाककुलं यस्यारातिहृदयदाहकेन प्रतापवह्निना

---

१ बन्धनेनानुकूल्यं विधाय "प्राध्वंबन्धने।"

विद्रुतभीतयो भामिन्यो गृहाणां द्वारमेव नात्रन् : यं पितरमिव पालकं मातरमिव मानदात्वं भ्रातरमिव क्रीडाकरं गुरुमिव शिक्षकं, कुबेरमिव धननिचयभृतकोशं प्रजा मेनिरे प्रजापतिम् तस्यैव वर्णाश्रमव्यवस्थापकस्य सनातनधर्मसमाश्रयस्य श्रीमतो नन्दनपुरनरेशस्य शस्य-समृद्धमृद्धं योग्यजनसम्पदां पदं राज्यं नङ्क्ष्यतीति विचार्य दुःखितं मे चेतः।

"किमिति कथमिति कुत इति" सामर्षं सगर्वं सविस्मयं सभयं सनयनोत्स्फारं सासूयं कथितवति श्रीमति नन्दनपुरब्रह्माण्डब्रह्मणि स पुनः प्रावोचत्।

वीरवर! वयमशेषां शेषाधारां विचरामः। समेषां सुगुप्तान्यपि मानसमहोदधि-लीनानि वृत्तरत्नानि परेशदयया विद्मः।

कामे०—आम्, निश्चितमेव।

शक्ति०—भावी विमलेश्वरजामाता, माता वीरधैर्याणां राजनगरराजकुमारो भवत्पुरे समायातो राजकीयशुल्कशालायामावासं परिकल्पितवान्। स चाधुना धूर्त्तैश्चौरीकृतो व्यथितश्च कारायां रायां निधिर्निगडित आस्ते। तमुन्मोच्य तत्प्रसादाय स्वपुत्रीं सरोजिनीञ्च समस्तगुणाढ्याय तस्मै प्रदाय सुखीभवितुमिच्छसि चेद्भव। मा नाम अतुल शस्यं विपुलकौशलकुसूलं देशं रक्तरञ्जितभुवं भुवं वीराणां, रोरुद्यमान-चेखिद्यमान-चेक्लिश्यमान-नारीव्रातबाल-समुदयं कार्षीः। महती हेतिसम्पन्ना सेनास्य। राजनगराधिपतेरस्य पितुरपि प्राप्तप्रशस्तिका चमूः। तत्समय एव हृदयसात्कुरु मद्वाक्यम्।

कामेश्वरसिंहस्तु श्रुत्वैतच्छिथिलाङ्गो गूढं सम्मन्त्र्य प्रजविना जवनेन शुल्कशालां सद्य एव प्रापत्। शौल्कशालिकाश्चासूचितमहाराजागमनसम्भ्रान्ता भीता हस्तयुगलान्यायोज्य प्रणमन्तः क्षमां याचमाना जयान् भाषमाणा एकतः सन्तस्थिरे। "क्वास्ते कोट्टपाल"-इत्युक्तेऽङ्गैः सङ्कुचन् विदूरत एव प्रणमन् महतः कृच्छ्राद्धृतधैर्य आययौ सः।

महाराज०—कति सेवकाः सन्ति सम्प्रति!

कोट्ट०—देव! श्रीमतः प्रबलप्रतापतपनेन नाशितं भीषणवृत्तसन्तमसम्। तदहं द्वौ सेवकावेव पर्याप्तौ विज्ञाय नियुक्तवानस्मि। अग्रे श्रीचरणाभिधानम्।

महा०—अपि नाभूत्क्वापि घटनागतेऽह्नि?

कोट्ट०—जगत्पते! रात्रौ वञ्चनपटुना चौरेणैकेनापहृतः प्रचरो राः। बन्धन-

समये मारितश्चैकः पथिकः। अधुनापि स सिंहवद् गर्जति। श्रीमद्भ्यो निवेदयन्नेवाऽसं श्रीचरणैः पूर्वमेव पृष्टः।

महा०—(विमनायमान इव) कोट्टपाल! न्यायाधीशतामुपगतोऽपि अविमृश्यकारी मूढ इव अन्याय्यमाचरसि। किं तस्य समीपे चुराप्रमाणमासादितम्!

कोट्ट०—(विभ्यन्मुखं पश्यति) प्रमाणं तु नाधिगतम्। यथाज्ञाप्यते।

महा०—तत्कथं स निगडितः। त्वादृशे न्यायभारं दत्वा विषीदामि। अस्तु तस्य कृते राजसम्मानमायोजय। त्वरां विधेहि।

कोट्ट०—दयानिधे! यामि···

महा०—आम्, शीघ्रं यतस्व।

कोट्टपालो राजोचितां सामग्रीं विरचय्य मन्त्रिणमपि विदितवृत्तं विधाय राजार्हवासांस्युपायनञ्चादाय क्षणैरेव राजान्तिकमाययौ। तानि च उन्मोचितशृङ्खलाय सद्मावासस्थिताय चन्द्राय राजोपहारेण प्रैष्य स्वागमनं संसूच्य आजगाम आतिथेयवरः कामेश्वरसिंहः।

चन्द्र०—(उत्थाय अञ्जलिं बद्ध्वा) श्रीमच्चरणसरोरुहयोः प्रणमत्ययम्।

महा०—चिरञ्जीव! अज्ञानतो भ्रमतोऽनुष्ठितं भृत्यकृत्यं मर्षणीयं कुमारेण।

चन्द्र०—कथमसह्यो भारो निपात्यते।

महा०—नहि नहि! युवराज! ज्ञातोऽसि यच्छ्रीमानेव राजनगरप्रजापतिः, श्रीमानेव विमलपुरनराधिपकन्यारत्नसौभाग्यभागी। मन्ये एतद्राज्यमपि भवतः केनापि सम्बन्धेन पवित्रं भविता। अतो मर्षणीया इमे भवतो भृत्याः।

चन्द्र०—क एषां दोषः, क्षम्या एते। दैवं हि जगतां मानापमाने, सुखदुःखे, लाभालाभे च हेतुः।

महा०—कुमार! उत्कण्ठामावहन्ति दर्शकाः, तत्सपद्येव राजधानीं सुनाथय।

अथ चन्द्रो घोटकारूढोऽसङ्ख्यजनानुगतो राज्ञा स्वयं निर्दिश्यमानविशिष्टरचनो राजधानीमागत्य सज्जनविश्रमे व्यश्राम्यत्।

शक्तिनाथस्यान्वनुज्ञं पुरोहितमामन्त्र्य विवाहतिथिं निश्चिन्वति राज्ञि चन्द्रेण न्यवेदि यत् पूर्वं कमलया सह विवाहो भविष्यति तदनु चान्यो विचारः, इति।

विमलपुरे व्यग्रतामाकलय्य श्रीकामेश्वरसिंहेनामन्त्र्य कुमुदिन्या मुक्तं भूपेन्द्रं विमलपुरं प्रैषयदलिखच्च।

देव, सादरमभिवादनम्। श्रीचरणानुकम्पया कुशल्यहं परेशानुकम्पया प्राप्तव्यं प्राप्तवानस्मि ; सर्वं वृत्तं भूपेन्द्रो निवेदयिष्यति। श्रीमन्नन्दिनी नाद्यावधि स्वस्था, स्वास्थ्यप्रदः सुलभसर्वसुखदसामग्रीको रम्यश्चायं प्रदेशः—इति कतिचिद्दिनान्यध्युष्या-ऽऽयास्यामि, न कापि व्यग्रता कार्या। शेषं कुशलम्।

ललितवनम्। } श्रीमताम्
चन्द्रः

* * *

वीताध्यर्द्धद्वियामस्तमस्विनीदिष्टः। ज्योत्स्नाजयिनी महार्हमण्डनमण्डितानां हर्म्याणां प्रभा भासते स्म। तन्त्रीरणरणकेन वंशीविमलविरावेण कोकिलकाकल्या विलासिनीविभावैश्च विलसति स्म ललितवनम्। अकस्मान्मेघैर्मेदुरं दुरवस्थं जातं जगत्। निशावशाल्लब्धावकाशं निशीथसहायेनाधिकप्रसरं तमश्शासनं साहसेन विततम्। यत्र तत्र विद्युद्दीपा राजद्रोहिण इव शासनमवहेलितुं दृढप्रतिज्ञाः, किन्तु तत् प्रबलसेनयाऽनयारब्धराज्यो राजेव ताँस्तिरस्कर्तुमवकाशं गवेषयति।

अस्मिन्नेवानेहसि हसित्वा तडिन्मिषेण, साहसमिव वर्द्धितुं तमसो वारिधरैः समारब्धः सपटपटाध्वानं पृथुविप्रुट्करापातः। येन युगपद्गीतनिद्रातन्द्रं सकलं कलकल-विकलं बभूव विष्टपम्।

चन्द्रस्यावासे कमला निश्शङ्कं पर्यङ्के गतातङ्का राङ्कवास्तरणा, रणाधिगता विजय-लक्ष्मीरिव, विलक्षणश्रीः, दुर्जनसंर्गेणापि अलग्नकलङ्कपङ्का स्वपिति। बिन्दुप्रपातभवेन-रवेण चन्द्रनिद्राऽदुद्रुवत्। तदैव दैवचेष्टितं संघटयन् जवनिकान्तरितविग्रहोऽन्तःपुर-विहारी प्रहरी—"देव ! स्वामिन्याः सरोजिन्याः सकाशादागत एको भृत्यो ललितवन-बहिर्द्वारि तिष्ठति, नायमनेहा देवदर्शनस्येति क्रियासमभिहारेण कथ्यमानोऽपि सोऽत्यावश्यकं किमपि विज्ञापनं विज्ञाप्यमिति कथयति, अग्रे देवः प्रमाण" मित्यसूचयत्। "सूचय

बहिरेवायामि"—इत्युत्तीर्य वस्त्राण्यायोज्य, बहिरेत्य, इतस्ततः पर्यट्य, बहुश आहूय कमपि पुमांसं नापश्यत्। किमभूदिति चिन्ताचक्रचकितचित्तश्चन्द्रः परामृशन् सद्य एव प्रतिनिवृत्तः।

*　　　　*　　　　*

"प्राभातिको मातरिश्वा ललिता लोलत्कुसुमाः सुगन्धविसरमुद्वमन्त्यो वासन्त्यो लताश्च सुखयन्ति त्वाम्? त्वन्मेलनहर्षवर्षविधुतस्मृतिरहं वृत्तमेव नापृच्छम्। तत्कथय कथं व्यवहृतं तैः। अहं स्थानस्यामुष्य परिचितोऽस्मि त्वमपि किमत्र कदापि समायाता?

कमला०—शशधर, यस्मिन्समये मयूराणां नादेन मम मूर्च्छा नष्टा, सम्मुखे मुखायोजितवस्त्रास्त्रयो भयङ्कराकाराः कारुण्य वनदहना असभ्यतानिधय आकलितचुराविग्रहाः, ग्रहा इवौत्पातिकाः पुरुषा रुषा न्यक्कृतमृत्यवः स्थिता आसन्। ते मामाहुः—

"कमले! केनाप्यविज्ञातोऽयं प्रदेशः, चतुरैरप्यज्ञेयोऽस्य पन्था अस्मद्व्यतिरिक्तागमने च ध्रुवं मरणम्। अस्माकं देवः कान्तिसिंहः कार्यवशाद् बाहीकप्रदेशान् वीक्षितुं गतस्तदाज्ञयैव वयं तदनुचरास्त्वामानीतवन्तः। सोऽपि समये भवतीं द्रक्ष्यति। तावकीनोऽयं प्रदेश इति विज्ञाय स्वस्थान इवात्र व्यवहरतु भवती इत्याभाष्य चक्षुषोरगोचरे संवृत्ताः। अहञ्च सत्यपि क्षुत्पिपासाशामके फलबहुले चिन्ताचक्रचालनीक्रियमाणचित्ता सर्वं वासरमत्यवाहयम्। तस्मिँश्चिन्तापारावारे मदीयचातुरीतरणिर्निमग्ना। साहं छद्मवेशान्, शस्त्रप्रयोगान्, विविधसाहसिककार्याणि वेद्मि—इति साहसं सरभसं चूर्णितम्। दुःखितं स्वान्तं निजजनान्सस्मार—अहह? क्व पिता। क्व जननी हा! हन्त! सा तु दुर्भगाया मम शैशव एव स्वर्गता। पालयित्री धात्रीव धात्री अपि हन्त कीदृग्दशा अहो साम्प्रतमेव आनन्दाशाकिरणावली समुदिताऽऽसीत्। विचारितमासीद् यदधुनाऽधमितसुधं सुखं चिरं लप्स्यते। हन्त! क्वागतास्मि, कीदृशी मन्दभागाऽस्मि। 'वा' वेतिरससम्पूरितवचोभिर्भुवं विमोहयन् क्व भ्राता मे रामः। एवमहं विचारयन्ती चिरायात्मानमेव व्यस्मरम्। लब्धबोधया मया त एव त्रयः सम्मुखे स्थिता इति कथयन्तः प्रेक्षिताः।

"देवि अस्माकं स्वामी, देवः कान्तिसिंहोऽतिशयसुन्दरः। सौन्दर्ये चन्द्रसदृशश्चरणदास्येऽपि नाधिकृतः यथा स सद्रूपो भूपोऽस्ति, तथा गुणी ज्ञानी मतिमान्

बलवान् ओजस्वी यशस्वी वाग्मी चातुरोतुरीतन्तुवायोऽप्येक एवास्ति। अतो भवतीं रतिरमणीयां वयं सादरं प्रार्थयामो यदत्र भवती नः स्वामिनी भूत्वा निलयस्यास्य, यौवनस्य च आनन्दसन्दोहमनुभवन्ती चिरं रमताम्। मा नाम प्रचण्डचण्डहेतौ चिन्ताशुशुक्षणौ कमलकोमलमृणालपल्लवपेशलमिदं शरीरं पातयतु। चन्द्रसदृशा बहवो राजानस्तच्चरणाम्बुजरेणुपरागानुरागिणः सन्ति, मन्यस्वेदं सद्वच" इति।

निशीथ एकदा शोचन्ती वृक्षमाश्रित्यानिद्रा एवा सं तावदेको मनुष्यो मदभिमुखमागच्छन्नासीत्। अहञ्च "शङ्कया भीता पादपतमसि निलीना समभवम्। स मामन्विष्याह।

"कमले! त्वदनुचरोऽहं भवतीं स्थानादस्माद्बहिर्निनीषामि। परञ्जाल्मा एते मां सफलमनोरथं द्रष्टुं नेहन्ते। अधुनावसरोऽस्ति सपद्यागच्छ मा भैषीः। अनुत्तरन्त्यामपि स मां सकरबन्धं नेतुं प्रस्थितः। तावदेव चञ्चलाचञ्चच्छटैः कृपाणैराक्रान्तः। भीताहञ्चन्द्रहासचापल्येन मूर्च्छिताऽभवम्। तस्य का दशा सम्पन्नेति न जाने। ततः प्रभृति कारायां वासः। दुःखविचारैराभाषः। तैरेव प्रेमा। शोकशङ्कुना व्यथनम्। प्रजागराजगरेण दंशनम्। सन्तापसिंहेन भक्षणम्। तमोमित्रैर्मेलः। अरुन्तुदाभिरार्त्तिभिः खेला।

चन्द्र०—(निःश्वस्य) ततः कथं मोचिता?

कमला०—तद्दिनं मम कारागृहजीवने पीयूषपरिप्लुत मासीद् यस्मिन् भवतां वाचमशृण्वम्। मम जीवनवल्लरी क्षणं व्यकसत्, परमुत्थापितकर्णा निराशा समभवम्। व्यतीतेषु द्वित्रेष्वहःसु देवी सरोजिनी, कलितकृष्णवेशा कारायां समायाता। मया व्यचारि यदयं निर्दयं मादृशीनां देहधारिणीनां प्राणान् गृह्णन् नूनं चञ्चरीकश्यामलभर्भरीको मृत्युर्भ्रमति। मन्येऽद्य ममावसर इति मां नेतुं समेतः—इति। कृष्णपटकटिततनूः कतिचनाश्रूण्युन्मुच्य मामाह हसितगर्हितसरोजा सरोजिनी। सुधाक्षि कमले! अहं त्वां जाने यत्त्वं महाप्रभावस्य राज्ञो नवेन्दुपालस्य स्नुषा, प्रभुवरस्य रामपालस्य प्रेयसी पुत्री, अतुलगुणनिधेर्वरकर्मणश्चन्द्रस्य प्रियाऽसि। त्वामहं बहिर्नेष्यामि। उत्तिष्ठ, त्यज ग्लानिम्। उदितस्तेऽद्य भाग्यभास्वान्। अधुनानुभव पत्या सह निष्कण्टकं राज्यसुखम्।" इति

अहन्तु तादृशजीवनान्मरणं श्रेयो मन्वाना वचनचातुर्याच्चित्तं विमोहयन्त्याः स्कन्धमवलम्ब्य भवनमगाम्। तस्या निर्मायपरिचर्यया स्वल्पैरेव दिनैरधिगतस्वास्थ्याऽभवम्। एकदा सरोजिन्याः प्रिया सखी चपला सरोजिन्या हृदयभावं न्यवेदयत्। अहमपि तद्भारनम्रा प्रतिज्ञातवती। सेयं देव, मम भवतश्च जीवनदात्री रमणीया रमणी सत्कुलीना मम भगिनीनिर्विशेषाऽवश्यमुद्वाह्या।

"कथमेतत् सम्भविष्यति, सरोजिनीसदृश्यो नरायमाणा रमण्योऽपि पुरुषमपेक्षन्ते!"

"स्त्री धनम्, धनस्याधिपतिना रक्षकेण भवितव्यमेव।"

"अद्य स्त्रियः पुरुषमनुजीवन्ति, नैतच्छोभार्हम्। आद्याशक्तिप्रतीका स्त्री रक्षायै पुरुषमपेक्षते! जगतः प्रसूः पालिका स्वपुत्रैरवमता स्वपुत्रानेवाह्वयति। यां पितृतोऽधिकं वन्द्यां विद्मः, आर्त्तौ यामेव भगवत्स्थाने स्मरामः सा पुत्रं पतिं भ्रातरं वाऽऽह्वयेद् रक्षितुम्। अशोभनम्। स्मर्यताम्, अपरेण रक्षितः कदापि सुरक्षितो न भवति, यः स्वरक्षितः स एव सुरक्षितः। यथा नरः स्त्रीनिरपेक्षं जीवनं यापयितुं शक्तस्तथैव स्त्रियोऽपि पुरुषनिरपेक्षं जीवनं व्यतियापयितुं शक्ताः स्युस्तदैव ताः स्वरक्षिता सुरक्षिताश्च भविष्यन्ति।"

"सत्यम्, परं स्त्रीषु मातृत्वभावनाऽन्तर्निहिता। मातृपदमनधिष्ठाय न स्त्री स्वां कृतकृत्यां मनुते। अतः स्त्रियाऽवश्यं पतिमत्या भवितव्यम्। भावनामेनां स्त्री केवलं ज्ञातुं समर्था न पुमान्। मातृत्वं विना स्त्रीत्वं न सार्थकम्। तच्च विवाहं स च पुमांसमपेक्षते। पुमाँश्च सुशीलः सुन्दरो विद्वान् कुलीनो धनी समवयस्को वरस्तदा वरणीय एव। एकदा यदि वृतस्तदा वृत एव सर्वदा। भगवान् कृष्णोऽपि नरकासुरवधोत्तरं मनसा कृष्णं पतित्वेन वुवूर्षूणां भावं स्वीचकार एव। परिस्थितिः प्रबला। भारतीयसर्वस्वं वचस्तु रक्ष्यमेव।"

पादध्वनिं विभाव्योत्कर्णेन चन्द्रेण त्रयो जना अवलोकिताः। भीता कमला तान् परिचीय सन्धय आदिशत्। चन्द्रस्तु तां मध्यस्थकाष्ठपीठस्याधःस्तात् कृत्वा "पश्य पौरुषम्, एतेऽपि फलमनुभवन्तु—" इति कथयन् सतर्कोऽवातिष्ठत।

"कस्त्वं रे, अप्रवेश्ये भवने प्राविशः, तदास्वादयाशासनपादपफलम्, पातय च

कान्तिसिंहखड्गधाराप्रवाहे स्वम्, नैशी योजना विफलीभूता तामधुना साधयिष्यामः" इति सङ्गर्ज्य युगपत् खड्गधारया अभ्यषिञ्चन्। परन्तु चन्द्रस्तु न "नाऽऽज्झलौ" फक्किकासहकारमञ्जरीपीयूषपानपीनमधुपपुङ्गवः, न च 'व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नसामान्य-लक्षण'मण्डनपण्डितः, नवाद्वैतवादिवादीन्द्रवैदान्तिकप्राप्तपाटवः, किन्तु करवालकेलिकोविदः, यत आपततस्तान् मर्यादयापहृत्यैकेनैव लघीयसा हस्तेन कान्तिसिंहशिरः समपातयत्। तस्य कबन्धे च पतिते प्रकर्षामर्षौ 'चन्द्र ? इयमागता तेऽस्तमन-वेला, वीरवरदुःखमपि महताभीलेन यथाकथञ्चित् सोढम्, परं वोढुमेनं कथमपि न शक्ष्यावहे, अधुना तु ते शोणिताञ्जलिभिरेवैनं तर्पयिष्यावः। स्मर स्वेष्टदेवम्, भव सज्जः इति साक्षिविक्षेपं व्याहृत्य गृध्राविव जिघत्सू खड्गाभ्यां युगपदाक्राम्यताम्। परश्च चन्द्रोज्ज्वलहासः स चन्द्रहास एव तौ समरुधत्। प्रशस्तकरवालपतनसमकालमेव तयोः खड्गौ भग्नौ। चन्द्रस्तु अविज्ञायैतद् भृत्यशिरोऽत्रुटत्। ततो गतासिः प्रबलः—"चन्द्र! किं निश्शस्त्रश्शत्रुर्हन्तव्यः! धर्म एष आर्यवीराणाम्? अस्तु जातन्तज्जातम्। सम्प्रति सम्प्रतिष्ठ! द्वन्द्वयुद्धं समाचर मया सह। चन्द्रस्तु किमपि-विवक्षुरपि वाग्वेगमवरुध्य योद्धमेव सद्यः सज्जो बभूव। निबद्धकौपीनेन बभूव सावकाशदर्शनं सपार्श्वपरिवर्त्तनं मुहूर्त्तं यावज्जन्यम्। परन्त्वन्ततः प्रचण्डदोर्दण्डविक्रमो युवराजस्तं कटितटे समुत्थाप्य भूमौ प्राक्षिपत्। स च विहसन् तत्क्षणादेव चन्द्रचरणयो-र्निपत्यावोचत्,—"देव! ममैषा प्राणसमा उपांशु प्रतिज्ञाऽऽसीद् यद् यदि कदापि-कोऽपि मां द्वन्द्वयुद्धे निपातयिष्यति तस्याहं दासः संवत्स्यामि" इति। तद्देव! अद्य प्रभृति प्रभूणां चरणशरणः संवृत्तोऽस्मि इति।

वस्तुतो रत्नं स्थान एव राजते। ईदृशपुरुषरत्नस्य, सत्यवीरस्य, अतुलसाहसस्य उपचन्द्रमेवावश्यकताऽऽसीत्।

* * *

विविधधातुकृत्तकुसुमस्तवकेषु बककेशधवलेषु राजतपत्राच्छादितेषु स्तम्भेषु लग्नानां कर्बुरवसनकर्त्तितवल्लरीनरीनृत्यमानाभिझल्लरीणां वासश्शकलस्यूताष्टदलकमलविदित-सेवकजनचातुर्याणां, रक्तवासोवितानानामध आयुर्वेदशास्त्रमिव लक्ष्मीविलासभागि लसन्मंदिरं राजकुलं राजते। तत्रैव च झणझणायमानमणिनूपुराः पूर्णा वयसा,

वयसामपि विमोहिन्यः, काञ्चनकाञ्चीकिङ्किणीशिञ्जितरञ्जितसमस्तशस्तास्तालस्यजनाः, कदापि कटितटे तटे कामकूलङ्कषायाः, कदाचिदुरसि रसिकचेतोहरे, कदाचन शिरसि रसितशिरोरत्ने, कदाचिद्धस्ते हस्तं न्यस्यन्त्यः, मोहिन्य इव धृतामृतामत्राः, लोल—त्पटप्रान्तप्रेक्ष्यमाणाङ्गचेतोहरा हरिणाक्ष्यो वारवध्वः परममधुरं, स्रवद्रसं, पञ्चजनान् गानेन सकर्णवद्धमाकर्षयन्त्यो गायन्ति। वैणविकाः पिकस्वराः स्वरान्संमेल्य मार्दङ्गिकः सह सहस्तस्फारं तारं रणरणायन्ते। भ्रू कुंसा भ्रू विक्षेपजनितविक्षेपा जनान् समूहयन्ति। सर्वत्राभिनवो हर्षः, पताका अपि अभ्रं लिहन्त्यः फर्फरायमाणाः दुःखोदन्ताकर्णन-दुःखितमाकाशमद्य वीजयन्तीव। प्रबलतेजस्का निष्कासिततमसस्तडित्प्रदीपा अहो? निशामपि दिनयन्ति। सर्वत्र सौगन्ध्यम्। समस्मिन् मनःप्रसादः। सर्वत्र हास्यलास्ये। स्थैर्यमजीवेषु श्रूयमाणगानगमने चालस्यमासीत्।

सोऽयं महोत्सवो विविधाख्याननिपुणैर्विद्याविलासशालिभिः कविकोविदैः केवलं शान्तस्वान्तवेद्यः सक्रमलस्य चन्द्रस्येयत् महत् कष्टं विषह्य सकुशलनिवृत्तौ स्वागत-सम्पादनाय विहित आसीत्।

रात्रिमुख एव दीपाः प्रज्वलिताः विमलपुरबहिर्भूमौ चन्द्रप्रासादपार्श्वे स्वागतसामग्रीव्यग्रो जन ईक्ष्यते। वितानस्थायिनां सर्वेषां चक्षूंषि सम्मुखीनमार्गे लग्नानि सन्ति। अस्मादेव संसरणाच्चन्द्रागमनं सूचितम्। हर्म्ये च सज्जितारात्तिः सरोजिनी नितरामुत्का। प्रतिक्षणमितस्ततः सखीर्द्रष्टुं प्रेरयति। मरुत्तराणां दीपप्रकाशः सर्वजनसमूहं मुखरयामास। पश्यत एव द्वे मरुत्तरे समाययतुः। अन्तःपुरीयं सजवनिकं मरुत्तरं प्रासादमाससाद, परञ्च वितानभूमिम्।

अथ सकललोकजयशब्देन सह समवतीर्य महनीयरामपालचरणसरोजं नयन-नीराभिषेकं प्रणम्य, सगद्गदमाशिषं प्रतिगृह्य सभासदैर्यथायोग्यं सत्कृतो रामपालनिर्दिष्ट-मासनमलङ्कृत्य, वृत्तजिज्ञासातिशयं विज्ञाय भूपेन्द्रभणितमपि सङ्क्षेपेण निगद्य राज्ञाऽऽमन्त्र्य विश्रमाज्ञां जग्राह।

अथ महाराजो राजसदने दिनादौ दोषज्ञो, वरिवसिता सिताम्बरो वरो वीरेषु प्रताप-निर्जितमहेन्द्रो भूमहेन्द्रो रामपालः, नन्दनपुरेश्वरः कामेश्वरसिंहश्च मुख्यैः सामन्तैरशेष-विद्यानिधिना निधिना जराया राया हीतकुबेरेण मतिमतां वरेण मन्त्रिणा मतिवरेण,

आयुर्वेदमहोदधिमथनमहनीयमहिम्ना हेम्नो दाम्ना विभासितगलेन धाम्नां धाम्ना नाम्ना चन्द्रशेखरेण शेखरेण ज्योतिर्विदां कनकदण्डोपनेत्रेण क्षेत्रेण सकलकलानां श्वेताक्षिपक्ष्मणा कुलगुरुणा च परामृशति। मध्ये हस्तलिखिता भूर्जपत्रमयी जीर्णाऽऽकीर्णा स्वर्णाक्षरैः स्वच्छवासोवेष्ठितापि न मनोमोहिनी विराजते राजते पत्रे पुस्तिका। यस्याः पत्राणि इतस्ततः प्रचाल्य किमपि हस्तपर्वसु गणयन्ति गणकवरेण्याः। विज्ञेन दैवज्ञेन निरचायि चैत्री पूर्णिमा विवाहे वरणीयतमा वेला च त्रियामायास्तृतीयो यामः।

"सौजन्यजन्मनो नवेन्दुवर्मणः समागमनं लघीयसि समये न सुघटं पुत्र्यश्च पूर्णवयसो वेलाविलम्बायोग्याः"—इति मन्त्रिणामन्त्र्य कमलाविवाहसमारोहं समारभते रामपालः।

* * *

"महात्मन्, महाराजः कामेश्वरसिंहो रामपालश्च पत्रमिदं प्रैष्य जिज्ञासन्ते यद् यानादिकं कदा किं वा प्रेष्यम्"—अश्वादुत्तीर्णः सादी प्राह।

महात्मा च जत्वपहाय पत्रं पपाठः—

आत्मीयाः,

एकोऽहं बहु स्यामिति समायब्रह्मणः प्रथमस्पन्दनेन व्यक्तं चराचरसृष्टे-र्मूलतत्त्वं पुरुषः प्रकृतिश्च। युगलीभूय सन्ततिपरम्परया संसृतेर्धाराया अनवरतं प्रवाहणं पुराणपुरुषस्याभिलाषः। विवाहस्तस्याभिव्यक्तिः सामाजिकी। सोऽयम-भिलाषो रामपालस्य पुत्र्याः कमलायाः, नन्दनसिंहस्यात्मजायाः सरोजिन्याश्च महा महिम्नो राज्ञो नवेन्दुपालस्य पुत्रेण श्रीचन्द्रकुमारेण चैत्र्यां पूर्णिमायां विवाह रूपेण सम्पाद्यते। श्रीमन्त उत्सवसम्पत्त्यै उपस्थातुं प्रार्थ्यन्ते।

कामेश्वरसिंहः
नन्दनपुरम्

रामपालः
विमलपुरम्

कोणेऽङ्कितमासीत् :—

सञ्चितोऽभिलाषः श्रीमतामाशिषा सम्पूर्यते।
अनागमनेऽपूर्णतेव प्रत्येष्यति। स्वतन्त्रा महात्मानः
कथं तेभ्यो विधिः। —सरोजिनी

महात्मा—सूचय समये समेष्यामि। न यानस्यावश्यकता।

*　　　*　　　*

अद्य चैत्री पूर्णिमा या बहोः कालाल्लोकश्रवणयो रणरणायमानाऽऽसीत्।

अद्य तुच्छतुच्छस्यापि मनुजन्मनो मनोभवभवनमनोरमे रमेशकृपाकटाक्षवीक्षिते क्षितेः पत्युर्भवने नास्ति वार्त्तावकाशलेशोऽपि। यत्र तत्र पन्थानः परिष्क्रियन्ते, शाराणि द्वाराणि रच्यन्ते, आसन्द्य आसाद्यन्ते, जवनिका विस्तार्यन्ते, साश्वाः सादिनः शिक्ष्यन्ते, द्विपा भूष्यन्ते, शिबिकाः साध्यन्ते, भृत्या भर्त्स्यन्ते वासांसि सुवास्यन्ते।

अथ भूते दिनस्य साये विमात्रा पुत्रा इव विभावर्या निःसारिते प्राय उडुगणेऽपनीत-तपनतापासु धूपधूपितासु दिक्षु, तौभध्वानेन बधिरीक्रियमाणे च दिगन्तराले, सन्तमस-नाशप्रबलशक्तिकैर्विद्युदुल्मुकैर्दिवाभूतायां यामिन्यां, उपगवाक्षमागच्छत्कामिनी-नूपुरशिञ्जितजितजितेन्द्रिये समये, सभुशुण्डिकोत्तानं समानं सतर्कं कर्केषु घण्टापथमु-भयतः स्थितेषु कटिप्रान्तावलम्बमानकरवालेषु अबालेषु राजपुरुषेषु, सुगन्धनीरेण रेणुरहिते सिच्यमाने संसरणे, स्वस्वभवनेषु वनेषु सौन्दर्यशाखिनां ललितं गायन्तीषु ललनासु, सपुष्पाक्षतोत्क्षेपमाशिषं वदत्सु दत्सु समाहितताम्बूलीदलेषु विप्रप्रवरेषु सजयध्वनि विचलयन् विश्वं, कम्पयन् सकाननां मेदस्विनीं प्रारब्धः प्रचलितुं मर्दित-सर्वंसहो महामहः।

अग्रतः प्रदत्ततरवाद्यधिक्कारो ढक्काढक्कारः, ततो विहिताश्वस्थितयः प्रमतयो मौरजिकाः, ततः सुवाससां मुखाङ्गुलिवाद्यवादकानां पङ्क्तयः, ततो विपञ्चीप्रपञ्चचतुराणां, काकलीसमाकृष्टजनमनसां सुवेशसदलङ्काररचनाविजिताप्सरसां, हेलासमाकृष्टकामिनां वारभामिनीनां निपतन्नेत्रराजयो राजयः, ततश्चञ्चन्महोष्णीषमस्तकैर्दृढबद्धपरिकरै-र्वल्गाकर्षणसध्यानकरैरवलम्बितनिस्त्रिंशैः सादिभिराक्रान्तपृष्ठा उच्छलत्पुच्छप्रोत्साहिता इवाग्र गन्तुमुत्थापितपादाः, पादाङ्गदभूषिताः सिता असिताश्च, ह्रेषाहर्षितस्वामिनो मीननयनाः सदयना उत्थापितकर्णा अनेकवर्णा आजानेयाः, ततः क्षुद्रघण्टिकाविहित-महारवाणां बाणाङ्कविशोभिवीरवराधिष्ठितानां, कनककलशशोभमानशेखराणां खण-खणायमानानां रथानां वीथ्यः, ततः स्वर्णसूत्रसूत्रितचित्रचित्रितकौशेयकुथतिरोहित-

कृष्णवर्णानाम्, महार्हरत्नखचित-स्वर्णपीठस्थित-समधिकसमरजयिसामन्तकुमाराणाम्, महामात्रप्रयत्नरुद्धशीघ्रगतीनां करिणां शुण्डादण्डविराजितसुगन्धिपुष्पदामनीमभितो भ्रमद्भ्रमरश्रेणयः श्रेणयः, ततो भुशुण्डिकाग्रलग्न-चञ्चन्निशितसितासिधेनुकाशोभितस्कन्धदेशानां परेषां करकलितनिष्कोशकरवालानां तीक्ष्णफालशोभिकुन्तधारिणां, राजपुरुषत्वख्यापकवर्त्तुलपित्तलपट्टिकालंकृतवक्षःस्थलानां, स्थलानां वीरतायाः रतानां राजनि, जनिमतां सत्कुलेषु, कुलेषुधिधनुर्धारिणां वीरवराणां वारः, ततो मुक्तानिर्मितराजहंसमिथुनेन, मध्यमुक्ताकलापेन, नीलमणिना रचितमयूरयुगलेन भास्वता कनकदण्डेन रक्तकौशेयसम्पादितेन, पृष्ठस्थसत्सामन्तगृहीतेन, विशदेन आतपत्रेण प्रकटितसुषमः, उभयतो हस्तिवरारूढाभ्यां सामन्तराजभ्यां प्रचाल्यमानचामरयुगलः, महार्हरत्ननिचितकिरीटविभासिभालो लोलालकः, शमीपत्रकुसुमकोरककुङ्कुमकाश्मीरचर्चितमुखमण्डलः, दशननिर्जितकलानिधिः, कलानिधिः, स्वर्णसूत्रस्यूतपुष्पलतास्तवकभ्राजा, रक्तकौशेयेनाप्रपदीनेन वस्त्रसम्राजा समेधितश्रीः, श्रियो यशस उदारताया वीरतायाः सौजन्यस्य च भाजनं सश्रीफलेन दुकूलेनानद्धकटितटः, भ्राजता स्थूलवर्त्तुलमुक्ताहारेण चन्द्रहारेण वक्षसानुकृततारापतिः, पतिः राजनगरवसुमत्याः, मत्या विहसितकाव्यः, काव्यरचनाचतुरः, तुरङ्गविद्याप्रवीणः, वीणाक्वणनमुग्धीकृतप्रमदः, मदोत्कटकरिकटपाटनपाटवप्रथितः, कङ्कणविशोभिमणिबन्धेन हीरकखचितस्वर्णत्सरुनीलकौशेयकोशकरवालधारिणा रत्नजटितोर्मिकाहारिणा करेण द्योतितचापल्योऽपल्यः, प्रधौतधौतवसनः, सुभगपादत्राणः, महार्हपरिस्तरणायां राज्ञो रामपालस्य परमप्रेमभुवि भुवि सम्पदां प्रतिष्ठानाभ्व; करेणुकायां कायाङ्कितचित्रायां कृतस्वर्णासनस्थितिः, स्मितेन दशनवसनयोर्ललितललामां प्रसारयन् रसिकतां, विकासयन् कामिनीनेत्रकुमुदानि, उद्दीपयन्मनोभवप्रभावान् सत्काव्यमिव पदे पदे हर्षयन् सर्वचेतांसि आसीत् कामिनीयामिनीमनोवियचन्द्रश्चन्द्रः ।

पृष्ठतश्च महान्तमनलङ्करणमपि अलङ्करणमश्वानामश्वोरसमारूढ आसीन्महामात्यो मतिवरोऽनुगतः सशस्त्रै रश्वारोहिभिर्वीरवरैः ।

कामिनीकरपातितैः कुसुमैर्मालाभिः स्तवकैश्च मृदुला तारकितेवाभूद्वसुन्धरा ।

---

१ पलं मांसमर्हतीति पल्यः, न स, सोऽपल्यो-न मांसभोक्ता ।

चारुहासिनीहास्यैः कथमपि हातः, विलासिनीनयनवागुरया कथङ्कथमपि मुक्तः, नूपुरशिञ्जितैर्यथाकथञ्चिदनाकृष्टः, वामभ्रूदर्शनभाराक्रान्त इव शनैश्शनैश्चलन् समारोहोऽयं महामहिम्नो रामपालस्य दुर्गान्तर्हर्म्यमाडुढौके ।

अद्य हि भगवतोऽवतो वसुधां सुधास्मितस्य रामपालस्य भवनं वनं विलासितायाः, विभाति महेन्द्रस्येव । हाटकघटितेन द्योतितशिल्पिनैपुण्येन पत्रेण जटितं, चकितीकृतावलोचकलोचननिचयं मुखद्वारम् । अभितो लग्नाश्च पुष्पस्तबकलतायुक्ताः कौशेय्यो जवनिकाः । सम्मुखे चैतस्य रक्तकौशेयनिर्मितं विलसद्राजतकुसुमं नृत्यत्प्रान्तप्रतानिनी[1]-वीजितसकलजनं द्वात्रिंशत्स्तम्भैर्विहितायामं महावितानं विततम् । यत्र सुसज्जितानि सिंहासनानि सहस्रशः स्वर्णासन्द्यो राजतासन्द्यो वेत्रासन्द्यो राजन्ते । यमभितो निष्कोशकृपाणपाणयः पटवो भटाः समर्यादमासते ।

मुग्धा नूपुरशिञ्जितद्विगुणितरथकिङ्किणीस्वनाश्चिरण्ट्यः, मोहितसमाजेन विपञ्चीविनन्दकेन कोकिलानुकारिणा करिणामपि मनो हारिणा स्वरेण मधुरमधुरं तारतारं गायन्ति ।

इतराण्यपि वाद्यानि यद्यपि स्वस्वविजयाय मनुजमानसान्यपहर्तुं प्रयतन्ते, परन्तु मुग्धवधूगानमिदं सर्वातिशायि विजयमभ्यगात् ।

अथ वादकेष्वेकतो भूत्वा वादयत्सु यत्सु मुक्तमार्गे च सैनिकसमुदये हर्म्यसम्मुखकुट्टिममायाता करेणुका आयतललाटपराजितचन्द्रस्य चन्द्रस्य ।

निःश्रेणियोजनेन जनेन दत्ताशिषि समवतीर्णे वरे हस्तिपकेनान्यतो नीतायां करेणुकायां करधृतैः सौवर्णैः कृत्रिमनिर्झरैः सुगन्धविसरं वमद्भिः सुरभिते जनसमुदये, सहासं समनःसमुल्लासं व्रजत्सु चलत्सु च पञ्चजनेषु विहिततोरणाघात आहतोऽपि परमसुन्दरीणां दरीणां मनोभवस्य भवस्य सारैः कटाक्षैः, अतीत्य हर्म्यप्रथमद्वारमाससाद वधूविधूयमानमानसराजहंसपक्षतिसितव्यजनं सौन्दर्यविघूर्णितनयनं, नयननीरजैर्नीरजाकारयिताजिरं, कनकदण्डचामरग्राहिणीभिस्ताम्बूलवाहिनीभिः, पतद्ग्राहधारिणीभिर्भूषणभूषितामिर्दासीभिर्वाचालितं, मङ्गलगानमुखरितं द्वितीयं द्वारम् ।

[1] प्रतानिनी झालरी इति भाषा ।

तत्र चाङ्गनाभिः कृतेऽर्चने कमलयापि यापितदुःखदयामिन्या सरोजिन्या सहव सविभ्रमं ललनान्तरितशरीरलतया पुष्पस्तबकेनाहते चन्द्रे इतस्ततः सविलासं प्रयातासु विलासिनीषु गौडविडौजसा परिकल्पितसम्भारां परितःकदलीदण्डां चतुर्द्वारां वेदिकां सपत्नीकः कामेश्वरसिंहो रामपालश्च कन्यादानाय परिकल्पितमहार्ह-सम्भारावविशताम्। समये जगदानन्दी चन्द्रोऽपि मण्डपे स्वर्णपीठे पदञ्चकार। यथाविधि कमलासरोजिन्योश्चन्द्रेण सम्पन्नो विवाहसंस्कारः। शामीलं भस्म वधूवरयोरङ्गान्यङ्कयामास।

राजा रामपालः स्वभ्रातृभावनोपेतः कामेश्वरश्च दासदासीहस्त्यश्वरथरत्नालङ्कारयुक्तं यौतुकं कौतुककरमदात्। दध्वनुश्च विवाहख्यापकास्तोभाः। सम्पन्ने विवाहे चन्द्र आचार्यं राजानं रामपालं कामेश्वरञ्च प्रणम्य शक्तिनाथस्य पादयोः परमप्रेम्णाऽवनिनंसुः "केवलेन नमस्कारेण किम्, कामपि भूयसीं दक्षिणां देहि यां यावज्जीवं स्मरामः।" इत्युक्तः स्वकीयं महार्हमङ्गुलीयकं ददौ।

अथ सम्पन्ने उपयमनेऽबलाभिर्बलादाहूतः पुरुहूतोपमः शिञ्जानवलयया कमलया सजीवरजन्या सरोजिन्या चानुगतो गतवानुपदेवं देवश्चन्द्रः। तत्र च कृतकुलाचारो-महिलाभिराग्रहीतो नेत्रसम्पातेन परितः प्रेक्ष्य मदनसदनस्वामिनीभिः प्रमदप्रमदाभिः सोत्कण्ठमवलोक्यमानोऽचिरं विचार्य पद्यमदः पपाठ

> कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
> पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
> विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
> बीजं प्रेमद्रुमस्य प्रभवतु जगतां भूतये चचुकाग्रम्॥

लेभे चैकं महार्हमङ्गुलीयकम्।

तत्र च श्रृङ्गाररसस्रोतसि प्रवहमाने प्रकृत्यैव हासप्रिया प्रिया सखी कमलाया मनोरमा, रमाविनिन्दकरूपाऽकूपारं तर्जयन्ती गुणरत्नैः, रत्नैर्मण्डिततनुयष्टिः, यष्टिः स्मरस्खलितस्य, किञ्चित्परिवर्त्तितपदं हनुमन्नाटकीयं पद्यमदः श्रुत्वा स्मयमान-मुखी उवाच—

देव ! यदि न कालेक्षेपो यदि च प्रसादसम्मुखो देवोऽस्मासु, तर्हि भवद्व्याख्यातं शुश्रूषामहे पद्यमदः। अबोधविक्लवस्य ललनाजनस्यानुपेक्षणीयोऽयमनुरोधः।

"कलितवैदग्ध्यस्य दग्धस्यापि स्मरस्य प्रधानजीवनसद्मनो विमुग्धस्यापि मुग्धम्मन्यस्याङ्गनाजनस्य कृतानुभवः सङ्केतोऽप्यत्र गरीयान्। कठिनार्थविशदनमात्रफलिका हि विदग्धवृत्तिः।" विकसितसिताम्भोजभव्यमुखश्चन्द्रोऽवदत्।

"तथाच कलिरत्र प्रणयकलहः स एव मलं, तदपनयपनञ्च मथनम्। मुमुक्षोर्नीविमितिशेषः। परं पदाभ्यां·····तत्प्राप्तये प्रस्थितस्य, इत्येव भाषमाणे चन्द्रे व्याधून्वता हस्तेन निषेधयन्ती, अलमलमितिव्याहारचञ्चला चुटकितकमला समुत्तस्थौ मनोरमा विमोचितचन्द्रोत्तरीयः प्रमदाजनश्च।

* * *

वासन्तनिशीथयौवनमचेतने जगत्यपि सजीवसौन्दर्यं पूरयति स्म। विशदनीलाम्बरे वरे रजनीरमणीरमण उदारोज्ज्वलेन हासेन भुवं भासयते स्म। दिगङ्गना नक्षत्रपुष्पाञ्जलिमादाय जगज्जनार्दनस्यार्चां विदधाति स्म। शुभ्रज्योत्स्ना जगतीतले शान्तिसुधां प्रसार्य क्रीडन्त्यासीत्। क्वचन क्वचन नारीनूपुरा निशीथिनीनीरवतां भञ्जन्ति स्म। इन्दीवरश्यामं वियद्द्रुपुत्ताराहारावलीमण्डितं राजतमाप्रपदीनं परिदधन्नेत्रे रञ्जयति स्म। पवित्रपाथःपरिपूर्णपुष्करिणीपङ्कजपरागं प्रचौर्य सरसि स्नातः सुभगसमीरो रसालकुञ्जाञ्चितो मन्दं मन्दं वहति स्म।

विविधरागप्रकल्पितभित्ति चन्द्रभवनमद्य भवनेषु राजानति। सजीवनिर्जीवभ्रममुत्पादयन्तीनां मूर्तीनां शोभा सत्यमवर्ण्याऽऽसीत्।

स्वर्णचरणौ सुगन्धिकुसुममध्यौ चेतोहरौ पर्यङ्कावभितो लसतां क्षुपानामावलिः विभिन्नवर्णा दीपाश्चेतोहारिणी प्रसाधना।

चन्द्रकमलयोश्चिरप्रतीक्षितः समयः समेतः। नाद्य गमने सङ्कोचः, न च वाचि मान्द्यम्, न च चकिता दृष्टिः, न चोच्छलच्चेतः शरीरम्।

चन्द्रः सहासं काश्मीरं कमलाकपोलयोर्लिम्पति। विहसितनिःसृतदशनविभासितभवना गुलालप्रसृतिं प्रसारयन्ती चन्द्रावरुद्धहस्ता स्वं वक्ष एव रञ्जयति, चाम्पेयं पयः पातयितुकामा च्युतलक्ष्या वसुधामेवार्द्रयति। श्रमशिथिलं तयोः शरीरं

विश्रमितुमैच्छत्, शर्करामधुद्राक्षामिश्रमासवमास्वाद्य पल्यङ्काङ्कगतयोरचिरादेवाविर्बभूव नयनयोर्निद्रा ।

वीताध्यर्द्धद्वियामा त्रियामा । चन्द्रस्तरलतररमणीये शयनीये गवाक्षागतसुरभिनभस्वद्गाढ-निद्रोऽस्वपत् । प्रियतमा च तस्य भर्त्तुरङ्कं विहाय उपपर्यङ्कं पर्यङ्किकामेकामध्यास्त । द्रुतनिद्रा, साद्य निर्भरं चन्द्रप्रकाशे चन्द्राननामृतं निपीय विलक्षणां तृप्तिमध्यगात् । महोत्का सा चन्द्रस्योरसि कपोलयोः शिरसि पाणिपल्लवं भ्रमयन्ती तमपि गततन्द्रं चकार ।

"पश्य देव, कीदृशी मनोरमा यामिनी, वियत् सुधाविप्रुष इव वर्षति ।"

चन्द्रः—"निस्सन्देहम् । परमेषास्याः शोभा पत्या चन्द्रेणैव । अस्तु स्वपिहि, मधुरां निद्रामनुभवामि । चिरं रात्रौ क्रीडतोः शैथिल्यमापन्नयोर्निद्रैव स्वास्थ्यप्रदा । अवधेहि जगति परिस्थित्यनुसारं मनोरमममनोरमं वा भवति, शेष्व ।

"(मध्य एव तद्वार्त्तामश्रुत्वा) प्रिय ! भगिनी सरोजिनी योग्यभर्तृकृतपरिणया अलं गर्विता । सम्प्रति तु सा केनचिद् ब्रवीत्येव नहि—"

चन्द्र०—अये ! केन किं ब्रवीषि मुग्धे !

"अहं तन्नाम न जिघृक्षामि । यतः कृपणः [1]केलिकाले आकाशं व्रजति ।"

चन्द्र०—किन्तर्हि चन्द्रः ।

"आम्, आम् आर्यपुत्र, स एव यस्य कृते महान् दर्पः शिरस्यारूढः सरोजिन्याः । किं वदामि अद्यत्वे तु सा विलक्षणा मानिनी सम्पन्ना ।"

चन्द्र०—अरे ! एतत्किम् ? किं सर्वथैव विमूढासि यदसम्बद्धं प्रलपसि ?

"कथम्, किमहं सरोजिनीं न जानामि, आहोस्वित्तत्पतिं न जानामि । सोऽपि सविभ्रमं भ्रमति ।"

चन्द्र०—(सोद्वेगम्) अरे ! त्वं कासि ! किन्ते नाम ?

"धन्याः (सहासम्) भवद्भिरप्यद्य भङ्गा पीता, सत्यं क्षीवाः सर्वं विस्मरन्ति । अहह ! पतयः पत्नीरपि विस्मरन्ति धन्याः । सत्यम्भवन्तो मन्नामापि विसस्मरुः ? अस्तु, सम्भाव्यते कामोन्मादे स्मृतिभ्रंशः ।"

---

१ रात्रौ ।

चन्द्र०—स्मृतिभ्रंशः ? आः पापिनि ? वञ्चितोऽस्मि, छलम् (प्रकाशं प्रज्वाल्य बलात्तन्मुखं वीक्ष्य) आः कुटिले ! किं कृतवत्यसि । नाहमस्मि तव पतिः ।

"स्वप्ने ? उत जाग्रति ?"

चन्द्र०—जाग्रद्दशायां प्रकृतौ स्थितोऽहं वच्मि यत्—यं त्वं स्वपतिं मन्यसे सोऽयं पुरस्ते चन्द्रः ।

(सनयनोत्स्फारं मुखं दृष्ट्वा) "नहि नहि भवन्तो धौर्त्यं विरचयन्ति । मुकुरे मुखं पश्यन्तु भवन्तः ।" (मुकुरमानयति स स्वमुखं वीक्ष्य विस्मितो भवति)

चन्द्र०—अवश्यं मद्रूपं केनापि परिवर्त्तितम् (जलेन क्षालयति रागः पतति) पश्य मे रूपं केनापि परिवर्त्तितं वञ्चकेन ।

"अरे ! (अश्रुमुखी) भवतां किमनेन नष्टम्, अहं नष्टपातिव्रत्या नष्टास्मि । राजकुमार ? नेदं भवदनुरूपम् । स्वयं रूपं परिवर्त्य स्त्रीणामुज्ज्वलपतिव्रतविनाशनं किं भवद्विधानां कर्म ? अहह ! भवादृशा एव धर्मस्यैतस्य पालकचरा नाशाय भविष्यन्ति चेत्तदा हन्त ! बत !! कं नामाश्रयिष्यत्येषः । अन्याय्यम् ?"

चन्द्र०—कथं मां दूषयसि ? सर्वथाऽदूषणोऽस्मि । मां निरयपातिनं विधाय स्वयं सतीत्वस्य ढक्कां निनादयसि ।

"तर्हि कं दूषयामि ? (सविलक्षविस्मयं) अहो ! भगिन्याः सरोजिन्या अपि एषैव दशा भूता भविष्यति । सा मम पत्युरावासं गता भविष्यति । अहह ! विस्मृत्या, ह्रिया, सङ्कोचेन, मूढदासीकथनेन द्वयोरेव च्युतो धर्मः, हा !"

चन्द्र०—किं किं मदीया प्रिया परस्याङ्के । (खड्गं निष्कोशंकुर्वन्) कोऽस्ति !

"युवराज ! किम्भवन्त एव क्षत्रियाः ! श्रीमन्त एव शूरवारवराः ! किं मत्पतिर्नास्ति क्षत्रियः । तस्य तनावपि प्रोष्णं राजन्यरक्तं राजते । वीरवारवरणीयवीर्यः स को जानीते किमाचरिष्यति रुष्टः । अब्रह्मण्यम् ? यस्य प्रियां भवन्तो रहसि छलेन······प्रियाप्रेमपरायणो युवराजः कुकर्म कृत्वापि न जिह्रेति......" इत्यनर्गलं प्रवदन्त्यामेव तस्यां समाजगाम विकसितवदनसरोजा सरोजिनी । हसन्त्या सरोजिन्या धौतवदना चन्द्रेण साश्चर्यं वीक्षिता च तत्सम्मुख एव कमला समवर्तत । महदभूद्धास्यं लास्यम् ।

युवजानिश्चन्द्रश्चन्द्रवदनया कमलया सततविकसितनयनसरोजया सरोजिन्या च रममाणः पटुमुकुटशेखरायमाणप्रबलप्रबलसिंहविधीयमानरक्षो विश्वस्तै रक्षित-प्रासादोऽविषादः सानन्दं राज्यमीक्षमाणः नीतिनाशितभीतिः रीतिरञ्जितानीति प्रजः प्रजेशपरमप्रणयं वहन्, मानयन्नधिकारिण आश्चर्यभवनानीतविपुलधनराशि-र्देवान् वृद्धान् विप्रांश्च मानयन् प्रसन्नप्रजो विमलपुर एव स्थितिमकलयत्।

पुमान् सुखे सर्वं विस्मरति। प्रचरं कष्टं विषह्य स्वकीयं जीवनं सन्देहसिन्धौ निपात्य जनयित्रीं प्रियां मातरं, कृच्छ्रतामनुभूय धनादिकमर्जयित्वात्मजमेव सर्वस्वं मत्वा पालयन्तं पितरं, शैशवसहचराणि मित्राणि, कलत्रपुत्रभ्रातॄनपि विस्मरति।

हन्त ? महामदो लक्ष्मीविषम्। क्षुद्राणान्तु कथैव का यां प्राप्य शैशवे हैयङ्गवीनमुट्, अशेषदेवदानवरक्षोमनुष्यसिद्धसाध्यकिन्नरमुनिमुमुक्षुब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिशस्तसंविज्जट् शस्त-त्विट् कैटभद्विडपि क्षीरनिधौ निद्रामेव जुषतेऽनारतम्। अहह! सत्यं! "हालाहलो नैव विषं विषं रमा"। यामिमां लब्ध्वा सततसेव्यं परमात्मानमपि विस्मरन्ति स्मरणीय चरिता विपश्चितः। का कथा संसारसमाकृष्टेन्द्रियाश्वानां तुच्छानाम्। यद्यपि याच्येयं सर्वस्य भूभुजो जनस्य, परन्तु यां प्राप्यापि न सुखेन युञ्जन्ति, अपि तु महता दुःखव्रजेन। सर्वत्रेर्ष्यया, स्पर्धया, क्रोधेन, जिघृक्षया जिघत्सया, बुभूषया, अनन्तं कष्टसमुदयमसौ लभते।

योऽसौ नेत्रनिरीक्षितप्रकृतिको सज्जापटुर्वाटिका—
वाप्यारामतडागकूपसरितां दृश्यस्य मर्मग्रहः।
तेने तेन वयोनवेन कविना श्रीशास्त्रिणा द्विस्त्रिणा
तस्मिंश्चन्द्रमहीपतौ सुमतयः! षष्ठो गरिष्ठो गतः॥

इति—

श्रीपण्डितेन्द्रप्रत्यग्रपतञ्जलिश्रीलश्रीनवरङ्गरायशास्त्रितनयेन
वैद्यपञ्चाननेन काव्यालङ्कारेण श्रीनिवासशास्त्रिणा
कृते चन्द्रमहीपतौ षष्ठो निःश्वासः।

———

सप्तमो निःश्वासः

अघटितघटितं घटयति घटितं घटितं च दुर्घटीकुरुते ।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति ॥

फुल्लेषु यः कमलिनीकमलोदरेषु
चूतेषु यो विलसितः कलिकान्तरस्थः ।
पश्याद्य तस्य मधुपस्य शरद्व्यपाये
कृच्छ्रेण वेणुविवरे दिवसाः प्रयान्ति ॥

सुधासारावलिप्त इव चञ्चच्चन्द्रिके वियति यतिमानसविमले परिमलोद्गारिणि प्रफुल्ल-कैरवामोदसामोदे दीर्घिकार्णःकणे, हिमशीते चलतिदोलितलते, अगुरुघनसार-चन्दनधूपधूमे रसिकघ्राणरन्ध्रं सन्तर्पयति नैशिके मातरिश्वनि, मयेनेव निर्मिते वैभवभवने कौशेयास्तरणास्तृते महति मञ्चे उपबर्हमाश्रित्योपविष्टं चन्द्रं परितः समासीनेषु सभ्येषु प्रकाशेन दिनमनुकुर्वाणायां विभावर्यां गानं साधयत्सु गायकेषु हर्षमुद्वमति जन-निवहे वेत्रहस्तः प्रहरी प्रविश्य "जयतु जयतु देवः"—इति त्रिर्व्याहृत्य 'कश्चन शान्ति-परीततनुः तनुमानिवोत्सहोऽविषादी सादी भवत्सभामध्यमद्य समेतुमिच्छति, 'देवः प्रमाणम्—' इति निवेद्य, 'आम् प्रवेशय' इति श्रुत्वा गतः ।

चन्द्रश्च दूरत एव प्रहरिनिर्दिश्यमानमार्गं परितो वीक्षमाणं हृष्यन्तमागन्तुकं वीक्ष्य परिचितामिव गतिं चिरानुभूतामिवाकृतिं बहुश अवलोकितश्च पादविक्षेपं ससंभ्रमं गाम्भीर्येण पश्यन् समीपमायातश्च परिचीय भास्वानिव मेरोर्झटित्युत्थाय 'आः किं भवान् प्रियः शक्तिधरः" इति कथयन् स्मयेनोत्तरमधिगम्य सकण्ठग्राहं समालिङ्ग्य साश्रुपातं सत्कृत्य मञ्च एव समुपावेशयत् अवोचच्च ।

"अभ्यागतोऽयं दयितमत्प्रजः शैशवत एव सहचरो मन्त्रिकुमारः शक्तिधरः"

(सर्वे) "विजयतां श्रीमान् मन्त्रिकुमारः शक्तिधरः"

एको वृद्धः सभ्यः—

"द्विर्हर्षः। अद्य कुमारस्य पुत्ररत्नजन्मनः षष्ठं दिनम्। परममित्रं कुमारस्य श्रीशक्तिधरश्च समेतः, अद्य निरवधिर्हर्षः। देवं प्रार्थये जातस्य शिशोर्हर्षवर्द्धन इति नामकरणाय"

सर्वे सभ्या एकस्वरेण :— "अथ किम्"

चन्द्रः—अपि कुशलम्? कुशलिनस्तातपादाः? मद्वियोगदुःखिता अम्बा वासराणि सानन्दं व्यतियापयति कच्चित्? पितुः परमश्रद्धास्पदं मन्त्री कुशली? भवतां कुशलवृत्तं वेदितुं व्यग्रोऽस्मि।

शक्तिः—भृशं दुःखितोऽस्मि, किमिव कथयामि।

चन्द्रः—(सभ्यान् प्रति) अद्यतनो महोत्सवो द्विगुणतरोत्साहेनानुष्ठातव्य आर्यैः। अहमपि समये समेष्यामि। 'प्रेममन्दिरे 'प्रवल! शीघ्रं प्रबन्धमायोजय'—

* * *

चन्द्रः—शक्ते, मम दुःखानि परैरनुमातुमशक्यानि।

शक्तिः—अये, तन्न राष्ट्रोपकृत्यै, तपसे, सिद्धये, विद्यायै धनाय वा, किन्तु प्रियायै······ (हस्तं हस्तेनायोज्य हसति, चन्द्रः स्वनामाङ्कमङ्गुलीयकं वीक्ष्य श्वेतमुखो भवति) मौनम्, अस्या एव कृते वनाद्वनं भ्रान्तोऽसि, कारासेवीकृतोऽसि ताडितोऽसि बद्धोसि, ज्ञातम् एवं लभ्यन्ते मनःप्रियाः प्रियाः।

चन्द्रः—भृशं मा खैत्सीः खिन्नचरम्।

शक्तिः—खेदः! अटवीतोऽटवीं भवनाद् भवनमटतो महान्तं कालं यापयतः, भीरुभामिनीभिरभिक्रोडां व्रीडां कुर्वतः भयानकलपनध[1]वानक[2]शयानकां, [3]अपत्सलामनीक्षित[4]भवन्यूं, [5]वर्वरीक[6]शर्शरीकवन्य[7]जन्युसमन्युगर्जनां वनावनिमवना[8]ध्वन्चूर्यमाणस्य रहः [9]साधन्तभाषणं च विदधतो न ते खेदलवोऽपि, सम्प्रति स वार्त्ताभिरेव? न जिह्रेषि?

चन्द्रः—मर्षय मित्र मर्षय।

शक्तिः—स किं क्षम्यो भवति यः पातारं पितरमामनस्यसहां मातरं, विवधयोजनावद्ध

---

१ वायुः २ अजगरः ३ अमार्गा ४ सूर्यः ५ कुटिलः ६ हिंस्रः ७ जीवः ८ निर्जला ९ साधुः।

चित्ताः प्रजाः सहयोगिनो मित्राणि चासूचयित्वा दीनो हीन इव आसां जीवनरत्नकृष्ण-यामिनीनां कामिनीनां पृष्ठलग्नोऽशेषबान्धवाज्ञातश्चरणरेणुं चुम्बन् त्यक्ताभिमानः कारी-भवति लक्ष्यीभवति च किन्नरमुष्टितलानाम्। हन्त हता मनस्विता।

चन्द्रः—अस्त्यागः तथापि क्षम्योऽहम्। प्रथममेलने किमेवं मण्ड्ये।

शक्तिः—अहन्तु सखे, मिलितवान् परं त्वं न। प्रियापरमप्रेमपानीयागाधपाथोधौ शिखामामग्न आसीः।

चन्द्रः—मा स्म त्रपापारावरे पातय

शक्तिः—त्रपा वराकी स्मृतिपथमायाताद्य, भाग्यम्। सा तु त्वां स्मृत्वा त्रपते।

चन्द्रः—अलं, विरमास्माद्……

शक्तिः—तर्हि पश्यैनम्। (अङ्गुलीयकं दर्शयति।)

चन्द्रः—पूर्वमेव प्रैक्षि। इदं शक्तिनाथाय विवाहायतौ दत्तवानस्मि।

शक्तिः—स शक्तिनाथ एव शक्तिधरः।

चन्द्रः—आ एवं किल तत्! विचित्रं रूपं परिवर्त्तितवानसि, मायाविन्!

शक्तिः—मायात्र का, एषा तु कला।

* * *

"चपले, इय द्दिनपर्यन्तं क्व स्थिता? केवलं दिनद्वयार्थं गता सप्ताहमेवागमयः।"

"महाराज्ञी कमला देवी सरोजिनी च विजयताम्। अहं देव्याज्ञया पितृपादं दृष्ट्वा-मातरञ्च सम्भाव्य आयन्ती पित्रानुशासिता यद्विमलपुरमस्माकं प्राचीना पूः। मत्पिता-महोऽत्र कदाचन प्रधानामात्य आसीत्, परं पिशुनेन भ्रमितमतिर्देवस्तं निरवासयत्। तत्प्रभृति नन्दनपुरेश्वरस्य छत्रच्छायायामावासः। तत्रैव व्यतिकरेऽस्माकं सर्वा सम्पत् राज्ञाऽऽत्मसात्कृता केवलं नगरान्ते एका वाटिकावशिष्टा यस्यां मम मातामहवंशो न्यवसत्। अद्यापि तत्र मम वृद्धा मातामही निवसति। पित्रा मात्रा च प्रेरिताहं तां द्रष्टुकामाऽगमम्। वाटिकेयं विशाला किन्तु भवनं दुर्गतम्। वाटिकाभित्तिर्भग्ना पतिता च गृहमपि तादृगवस्थम्। परितोऽवकरकूटं, पक्षिविष्ठा। अहं श्रमेण परिष्कृत्य जलानयनासमर्थां वृद्धामनुरुध्य कूपं गत्वा जलमाकृष्य घटं शिरस्यायोज्य प्रत्यावर्त्ते तावदेवागत एको मामपरिचितां वीक्ष्योद्विग्नो मद्विदलनकृतमतिः प्रचुरपयःपानपीनो

गोवत्सः। अहं 'त्रायध्वं त्रायध्वम्' इति वदन्ती स्तब्धपादा मृत्युं प्रतीक्षमाणाऽऽसं परमेको युवा दैवप्रेरितोऽश्वाद् व्रजन्नार्त्तं वचः श्रुत्वा "मा भैषीः, अयमहमागत एव" इतिकथयन् अश्वादुत्तीर्य वायुगत्या व्रजन् क्रोधोद्वेगवमद्वायुपूर्णघोणं वत्समनुधावन्नुपेत्य मम वत्सस्य च मध्यमुपतस्थौ। क्रुद्धो गर्वितश्च वत्सस्तं वीक्ष्याहन्तुमनाः प्रचलितः। युवकस्तस्य शृङ्गकावादाय पश्चाचकार। पुनः स पशुरुत्थाय यूनः शिरसि तथाऽऽजघान यथा रक्तधारा प्रादुर्भूता। परं युवक उत्थाय एकेन हस्तेन तस्य नासां परेण च जिह्वामाचकर्ष। एतावता च ममाक्रन्दनं श्रुत्वा पुरुषाः समेत्य वत्सं रज्जुभिर्बबन्धुः। युवा च मूर्च्छितो भुवं पस्पर्श। तममुं चतुर्दिनं यावत् संसेव्य प्रसादसुमुखं ज्ञात्वाऽऽमन्त्र्य श्रीमतीं सूचयितु मागतास्मि यदानृण्यमासादयितुं मह्यमपि अवसरो देयः।"

"यूनोऽश्वः किंवर्ण आसीत्"

"मेचकः, वराको मूकः पशुः स्वामिनमोद्गतस्थं प्रेक्ष्य प्रकटितानल्पदुःखो वेगेन धावितः"

'को वासरः कश्च समय आसीत्'

'रवौ प्रातः सप्तवादनसमयः'

'निश्चितं कथैषा शक्तिधरमेवानुसरति। स एव प्रातर्भ्रमणाय गतो न निवृत्त स्तस्यैव मेचकोऽश्वो मन्दुरायामष्टवादनसमये रिक्तपृष्ठो निवृत्तः'

'कोऽयं शक्तिधरः'

'देवस्य परममित्रं मन्त्रिकुमारोऽस्माकं चिरपरिचितः कुमारान्वेषणाय कृतविरक्तवेशः शक्तिनाथः'

'आः शक्तिनाथ एव शक्तिधरः ? हे ईश्वर, सत्यं सत्यस्वरूपस्त्वम्'

'देवो नितरामशान्तस्त्वरया सूचय वृत्तम्'

'आम् यामि'

* * *

"देवस्य परममित्रं शक्तिधरो मां रक्षन् गोवत्सेनाहतो मद्गृहमध्यास्ते निश्चिन्तो भवतु, देवः," चपलयोक्तम्

'शक्ति स्त्वद्गृहमास्ते ? त्वरितमेव प्रधानराजकीयचिकित्सकेन सह गत्वाऽऽनय'

* * *

"कथय कीदृशी स्थितिः, अकस्मात्तव लोपोऽश्वस्य प्रत्यावर्त्तनञ्चास्मानखेदयत्। दक्षिणो देवोऽद्य यत्त्वां कुशलिनं पश्यामि। मन्ये शीघ्रमेव स्वस्थो भविष्यसि, त्व त्सेवायै कृताभिलाषा चपला चात्रैव स्थास्यति, अहञ्च त्वां समये द्रक्ष्यामि।" चन्द्रोऽवोचत्

* * *

'शक्ते ! कीदृशी स्थितिः'

'स्वस्थोऽस्मि अद्यैव स्नात्वा शिवं पूजितवानस्मि'

'कथयास्मै कार्याय को विशेषतः पुरस्कार्यः'

"एषाऽनिन्द्यसुन्दरी दिव्यदेहा चपला। एषा नक्तन्दिनं त्यक्ताहारविहारनिद्राऽनलसा मामेवापश्यत्। मूर्च्छिते मयि भिषग्वरमपृच्छत् 'भिषग्वर, अयं जीवनं धारयिष्यति किम्? जीवने कृतैः पुण्यकर्मभिर्भगवन्तमेतस्य जीवनाय प्रार्थये'। अहमेनां बहोः कालाज्जाने, किन्त्वस्मिन्नवसरे एतस्या विलक्षणरमणीयं मनोऽवलोकितवानस्मि"

'कथय चपले, किं देयमस्मै उपकाराय'

'देवो मनोऽभिलषितं दास्यति ?

"कथमत्र सन्देहः"

'विश्वस्तोऽप्यात्मा केवलं वाचा सन्देग्धि'

'निश्चितं वाञ्छितं ते दास्यामि'

"यथाज्ञापयति देवः" इति कथयन्ती शक्तिधरस्योत्तरीयप्रान्तं गृहीत्वा शिरःकृताञ्जला लज्जावनतमुखी अतिष्ठत्।

'योग्यः प्रशस्तस्तेऽभिलाषः, नितरां प्रसीदन् युगलस्य सौकर्याय ग्रामशतकं ददामि'

'देव, अपरोऽप्येक उपहारो देयो नाम, देवः प्रसीदतु'

'कथय कोऽसौ'

'देव, सर्वोऽपि परिजनः कुशलं कलयति, केवलं कुमुदिनी प्रबलबद्धप्रेमा देवाज्ञां प्रतीक्षमाणा वर्त्तते—देवोऽनुमोदयतु'

'कथमद्य तव जिह्वा समुदिता'

'देवस्य स्नेहो मां मुखरयति'

'अस्तु'

* * *

कथं रे हर्ष कथं रोदिषि, आश्चर्यम्? 'कुमारपाल कथं कुमारस्यैतादृशी अवस्था'!

'अपराधं मर्षतु देवी, अद्य सायङ्काले कुमारः सवयोभिः स्वमातामहामात्य-कुलरत्नैरुच्चकुलप्रभवैः स्वसमानविक्रमैः कुमारैः पूर्वपवनप्रेरिते सुदूर्वकोमले उपवने क्रीडन् कमपि अधिवयसं वैश्यशिशुमनाज्ञाकारिणं रुषा चपेटाभिरताडत्। चपेटाघात-संकुचिताङ्गेन वैश्यबालेनाभाणि—'मुधैव दर्पितोऽसि, दुःशील, नैकटिक इव मातामहगेहे कौलेयकवदन्नमत्सि, न ज्ञायते कस्य कुलस्य देशस्य ग्रामस्याधीशो दासो वा पिता, क्व च पैत्री पैतामहिकी सम्पत्, न वा। अत्र दयालुना राज्ञाऽस्मत्सम्पत्त्या परिपोष्यते सपरिवारः पिता, तदधुना मातामहमहिम्नोऽनुभव सुभोगम्, ताडयानपराधिनः शिशून्, दुश्चरितैश्चिरं चर। इतो निर्वासितैर्ज्ञास्यते किं कुमारैः कार्यम्, को जानीते क्वाटवीष्वाहिण्डमानो बुभुक्षितो मर्त्ता।" इत्युपमित्रं वज्रकल्पैः मर्मच्छेदनैः लोहसारनिर्मितैः पशुपतिपरशुनिशितैरिभकुम्भविपाटनपटुभिः सिंहनखैरिव अपटुबटुकटु-वचोभिस्तितऊक्रियमाणोरस्कः सकम्पोऽनलोपमो रुषाश्रप्लुताक्षो निश्शब्दं रुदन् सुब्वसुबायितो मया चिरं सान्त्वयमानोऽप्यशान्तः श्रीमतीमुपेतः"—

लालयन्त्यां कथङ्कथमपि सान्त्वनवचोभिः शोकं हापयितुं कथयन्त्यां तन्मातरि स पप्रच्छ 'क्वास्माकं देशः, किं कुलं पितुः, अत्र वयं कथं निवसामः, यदि कथयितुं शक्नोसि विशदय नो चेत् पितरमापृच्छे।'

"अद्य विलक्षणोपक्रमं तव वचः श्रुत्वा प्रसीदामितमाम्, शृणु, अस्माकं राजधानी प्रतिभारते भारते ख्यातनामधेयं, ध्येयं सद्गुणपीयूषपिपासुभिः, राजनगरं नाम शत्रुसेना-निगलनाजगरमिव नगरम्। तव पिता विश्वख्याते राज्ञो नवेन्दुपालस्य प्रियः पुत्रः। एकदा घुणाक्षरन्यायेनेतः समायातेन संस्कारवशान्मम जातो विवाहः। सानन्दमत्र निवसामः। स्वप्ना अपि नोद्वेजिनः, परमद्य तव रोदनमाकर्ण्य ममापि क्षत्रियोचिता विचाराः प्रसरन्ति।"

"मातरौ नाहमत्र तिष्ठासामि सामि क्षणम्। लज्जास्पदमेतत् क्षत्रस्य कृते"।

* * *

प्रयाणसज्जा प्रारब्धा। शक्तिधरप्रबलसिंहयोः शासकत्वे कमलासरोजिन्योः चपलाकुमुदिन्योर्हर्षस्य च दासीदासगणेन कोशेन च समं सेनासुरक्षितानां गमनं सुनिश्चितमासीत्। जलविहारप्रेमिणश्चन्द्रस्य च जलमार्गेण। किन्तु कमलाहर्षावपि जलविहरणोत्सुकौ वीक्ष्य सह गमनमनुमोदितवान्।

"पुत्रि, त्रिनयनाम्बररागविमर्द्दिभिः धिक्कृतैरावतबलैः स्वरूपसन्त्रासितदिग्गजैः गजैः परिवेष्टितां फेनसितखलीनैः निभृतोर्ध्वकर्णैर्विपुलवर्णैस्तुरगैः परिवृतां तप्तकार्त्त-स्वरभास्वरवसनवर्णाभिर्दासीभिः सेवितां पटुपटहप्रहननविगतविषादां यन्तीं भवन्तीं प्रेक्षमाणो भृशं सुखमनुभवामि"—साश्रुनेत्रेण गद्गदवाचा रामपालेनोक्तं "परमेशस्त्वां सदैवेदृशसौभाग्यशालिनीं रक्षेत्। परं मोहमदिरामोहितो वियोगं वीक्ष्य भृशमुद्विग्नोऽस्मि। दुहितः! हिताधायको वृद्धः पिता न कदापि विस्मर्त्तव्यः। श्वशुरगृहे सदैव गुरुजनाज्ञा-कारिणी पितृकुलमुन्नतमापादयेः। अनाज्ञासम्पादिन्यो हि दुहितरः पितृपदमवन-मयन्ति, चिरायुषं हर्षं प्रेम्णा परिपालयेः"

जलाविललोचना कमलापि "पितः! सत्वरमेवायास्यामि भवत्पादपद्मप्रेक्षणाय"—इत्यामन्त्र्य प्रणनाम सरोजिनी तत्सख्यौ हर्षश्च।

अतीतजीवनस्मृतौ भविष्यज्जीवनयापने च कल्पितानल्पकल्पनश्चन्द्रो जलधरावृताभोग-भितमालनीलमुल्लोलं ब्रह्मपुत्रम विशत्। स्वल्पा विहरणतरणिर्ध्वनिना गमनं सूचयन्ती शब्दायमाना स्खलन्तीवाचलत्। अन्तर्वत्नी कमला इयन्तं महान्तमनालोक्यमान जलातिरिक्तवस्तुं वीरभीषकं प्रेक्ष्य हृदयमुद्विग्नचेता भज्यमानेन लज्जमानेन स्वरेण जलप्लुतविलोचनाऽवोचत्:—

आर्यपुत्र, आव्यः प्रादुर्भवन्ति, शिथिलः कुक्षिः सशूलं जघनं समन्तात्कव्याः पीडा मलमूत्रत्यागेच्छा च आसन्नं प्रसवं सूचयन्ति, प्राणनाथ प्राणा निर्जिगमिषन्ति आः दुःखम्। आः कष्टम्। अवरुध्यतां यानम्।...

"किमुच्यते, कथं भयङ्करे सरित्पतौ यानमवरोद्धुं शक्यते, क्षणं धैर्यमाधत्स्व श्यामलं सुदूरं निकटतटख्यापि, स्वल्पेनैव समयेनवयं पारं प्राप्स्यामः, भगवान् शिवः शिवं विधास्यति।"

"आः प्रिय,"—इत्युक्त्वा मुमूर्च्छ कमला।

*　　　*　　　*

"आर्यपुत्र, वयं कुत्र स्मः"।

"प्रिये, आर्त्तवत्सलो भगवान् स्वत एव सर्वं साधयति। एषः प्रासादः केनापि रसिकेनात्र प्रवालपर्वतस्योपरि निर्मापितः सुखदसामग्रीपूर्णो भ्राजते स्वर्गस्य खण्डमिव। श्वेतस्फटिकनिर्मितं विशालं भवनं शरदभ्रायते। स्वर्णदण्डा मुकुरा हंसमिथुनाष्टदलभासि उज्ज्वलं कुट्टिमं निर्झरपुत्रिका आसन्द्यः कलाविदः कलावत्तां ख्यापयन्ति"

"प्रवलं शूलमनुभवामि, हन्त, दैवं किं विधित्सति"—इति कथयन्ती मुमूर्च्छ कमला।

चन्द्रो यथा जलमन्वेष्टुं प्राचलत्तस्य दृष्टिः शिलालेखेऽगच्छत् "विपन्नाय जलयात्रिणे सुखं प्रदातुं सदा नवीनेन नवप्रियेण राज्ञा राजदेवेन आनन्दभवनमिदं श्रमेण सिद्धया च निर्मापितं, पार्श्वे ब्रह्मपुत्रः स्तिमितः स्नानागारे जलमपि निर्मलम्···

इत्येव पठित्वा पार्श्वस्नानागारतः स्वच्छजलमापूर्य प्रत्यावर्त्तमानेन समाकर्णि जातशिशो रोदनम्। सम्भ्रान्तेनागत्य दृष्टं यत्—विद्योतितान्तर्भवन आयतललाटो ज्ञानापनयनदुःखो नवशिशू रोदिति। कमला च प्रसवपीडामूर्च्छिता, हर्षश्च मुखे दत्ताङ्गुलि श्चकितः स्थितोऽस्ति। चिवुकस्पृष्टाङ्गुष्ठश्चन्द्रोऽपि चिरं चिन्तयामास—

विलक्षणं घटनं विधातुः। क्व जितारातेर्नवेन्दोः पौत्ररत्नम्। अत्र कुतः प्राप्स्यते भक्ष्यम्। कुतश्च प्रसूतापरिचर्यायै वैद्यवृन्दं धात्र्यो दास्यश्च। हन्त, विलक्षणो विचक्षण श्चायं भगवान् किं चिकीर्षति।

कर्णाङ्गुलिकर्षणेन जलार्द्रोत्तरीयेण शीतलेन मातरिश्वना कथङ्कथमपि प्रबोध्य शिशुं शीताभिरद्भिराश्वास्य नालोच्छेदनादिकमाचर्य्य मृगरोममृदुले पर्यङ्के शाययित्वा सप्रेम जगाद चन्द्रः—

प्रिये, वयंस्मः साहसैकशरणा दुर्गमविहारप्रियाः क्षत्रियाः। अतस्त्वया न भेतव्यम्। अत्र नास्माकं समीपे भोज्यं कालात्ययाय। न चाधुना प्रयाणसहं ते वपुः, अनुभूतभावन-भावनं वर्त्तितव्यमेव। अतोऽहं भवत्यै भक्ष्यमानेतुमासन्ननगरं यामि, अन्यथात्र सर्वेषामेव ध्रुवं मरणम्। यूयमत्र सानन्दं निवसत। दूरवीक्षणेन पार्श्वं एव प्रेक्ष्यते

आशितङ्गवीनमरण्यमतः सायाह्नात् पूर्वमेव प्रत्यावर्त्तनं निश्चितम्। शीघ्रतायै चतुरो नाविकान् सहैव नेष्यामि।

वराकी कमला किं ब्रवीतु, अगाधे पयोराशौ प्रियेण सह वियोगः बालद्वयसहायो भोज्याभावः—सर्वं युगपद् विचार्य्य गन्तुमनुमेने।

हर्षस्योत्कण्ठिते नेत्रे स्रवदश्रु कमलामुखं सप्रेम प्रेक्षमाणः "नवशिशुः पर्यवेक्षणीयः" इति कमलां प्रेर्य्य यानमारोढुकामः प्रचलन् नाविकानवोचत्—

"यथाशीघ्रं चलत।"

'देव, विहरणतरणिरवतरणसमये दुरवस्थाऽभूत् व्यग्रैरस्माभिस्तदा नाध्यायि। अधुना सूक्ष्मेक्षिकयाऽवेक्षणेन तस्य स्थितिर्न शोभना प्रतीयते।" नाविकाः प्रत्यवोचन्।

'भगवान् शं विधास्यति सम्भववेगेन चलितव्यम्' छपछपाशब्देन नौश्चलिता। यन्त्रस्यास्वाभाविकः शब्दः, मध्ये मध्येऽवरोधश्च सर्वेषां मनस्सु भयमुदपादयत्। पर्वताकाराः कल्लोला अभित उत्थाय नावमुपायन्, परं नाविकाश्चातुर्येण पन्थानं निर्माय सत्वरसत्वरं निर्गन्तुमचेष्टन्त। किन्तु विधेरिच्छा विचित्राऽऽसीत्। जीर्णशीर्णयन्त्रा कल्लोलाघातविहता विहरणतरणिः सामुद्रपर्वतेनाहत्य शतधा भिन्ना।

दुर्गम्यकाव्यविज्ञानदुःखितानां कृते कृते।
यातः सप्तमनिःश्वासः श्रीनिवासस्य शास्त्रिणः॥

इतिश्रीभूदेवमौलिमणिशाणायमानचरणस्य विपश्चित्तल्लजस्य
श्रीनवरङ्गरायशास्त्रिणस्तनूजेन श्रीनिवासशास्त्रिणा कृते रसिकमनः कैरवचन्द्रे
चन्द्रमहीपतौ सप्तमो निःश्वासः।

———

अष्टमो निःश्वासः

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
वात्याभिः परुषीकृता दश दिशश्चण्डातपो दुस्सहः ।
एवं धन्वनि चम्पकस्य सकले संहारहेतावपि
त्वं सिञ्चन्नमृतेन तोयद ! कुतोऽप्याविष्कृतो वेधसा ॥

पण्डितराजजगन्नाथः

पाटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम् ।
यत्पिषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥

पण्डितराजः

रोलम्बैर्न विलम्बितं विघटितं धूमाकुलैर्व्याकुलै-
र्मायूरैश्चलितं पुरैव रभसात्कीरैरधीरैर्गतम् ॥
एकेनापि सुपल्लवेन तरुणा दावानलोपप्लवः
सोढः को न विपत्सु मुञ्चति जनो मूर्ध्नापि यो लालितः ॥

सुभाषितम्

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

भर्तृहरिः

सुन्दरमुनीन्द्रवसतिं दूषयितुं याति शूकरो विड्भुक् ।
इति पथिकेनापि मया सुदृढं ह्युत्तोल्यते लगुडः ॥

जहीहि गुरु गर्जितं विजहि शुण्ड्या शीत्कृतं
परिभ्रम शनैर्वनं किमु गजेन्द्र ! गर्वायसे ।
तथा न किल केशरी गिरिदरीषु निद्रां त्यजन्
विमूर्च्छयति जृम्भया सुभग ! तावकीनं मनः ।।

सुभाषितम्

शीतम् । प्रातः । प्रियबालमनोरमश्छात्रवर्ग इव धनिजनसुखकारी, वराकनरदुःख-कोशोदारभाण्डागारिकः, समुल्लसद्वसनधनिवृन्दवन्दनीयः परमात्मरूपो मासश्चायं मार्गशीर्षः । अह्नः प्रथमो यामः । अस्मिन्ननेहसि हसितमनोहयो, रयेन दुःखयन् प्रचुरप्रबलकार्पासोर्णाकवचनिबद्धातनुतनूनामपि तनुमतां तनूः, शरनिशातैः, प्रवेशनिपुणैः स्वप्रवाहैर्वाति विपुलितशीतो वियद्गङ्गातरङ्गसङ्गः, तपनतापातप्तं शीतलं भुवस्तलं जडयन्, हाहाकारितजगत् , पातितापत् , विततप्रभावो हैमन्तिको मरुत् ।

वराका अधना अधुना चेलचयनिचिताः, मलविशीर्णशरीराः, हिमकुब्जिताः शिरोविधृतपाणयः, अग्निशरणाः, एकत्रीभूय पार्श्वमेलं स्थिताः सन्ति । इतो धनिन आस्वादितवातादसंयावाः, निपीतपयस्विनीपयसः, कामेश्वरमोदकमुदिताः, वासोवारिधि-निमग्ना अविदितहिमागमाः, यन्त्रैरुष्णीकृतभवनाः पर्यङ्केषु सानन्दमुपविष्टा जगति सौभाग्यं तन्वन्तो भगवतः समदर्शितां न्यायिताञ्च विलज्जयन्ति ।

क्वचन स्नाता विप्रा राम ! शिवेति भणन्तः, तिलकाङ्कितप्रशस्तमस्तकाः, धर्म-प्रतिमूर्त्तयः, चक्षुर्मेलं भगवन्तं ध्यायन्तः स्वासनेषु कम्पमाना आसते । क्वचन शपथ-पण्यपूर्णे हट्टे "सुप्रभातं बहुहानिं बहुधानीं[1] वा कारय" इति ध्वनिभिः सहस्ताह्वानं बधिरयन्ति क्रेतॄन् विशः । वराकाः शकुन्ताः समसाधनहीना अन्योन्यं तनूर्यौजयन्तो दुःखस्य परां काष्ठामुपयन्ति ।

विलक्षणोऽयं भगवान् कालः । अयं जगतः सर्वभावानां भवाभवे हेतुः । परमेष्ठिनः सृष्टौ स्थितौ लये चास्यैव कारणता । एष एव उत्पादयति वर्द्धयति नाशयति च जगत् ।

---

१ बूणी = बोहणी वा । क्रेतुर्बहुहानिः, विक्रेतुस्तु बहु धीयते यस्यां सा मञ्जूषा तां तथाभूतां कारय । तस्यां बहुजनस्य बहुधनं समागच्छेत् ।

अमुष्मै विलक्षणाय नमोऽस्तु भगवते कालाय।

भवव्याकुलतया सह रजनी वीता। परमकारुणिकः सारुणो गृहीतनमस्कारो भगवानहस्करो हैमं दुःखं ताडयन् रक्तचर्मकशाभिरिवारुणाभिर्दीधितिभिरुदेति। सूर्यस्य कोमलकोमलः सरलसरलो बालालोकः पुण्डरीकेषु नवद्रुमदलेषु वल्लीपल्लवहिमकणप्रकरेषु क्रीडन्नेधाञ्चक्रे। बालभास्करप्रभया विकसितकवाटः प्रासादोऽयं सिन्दूरपूरितकेशमध्यायाः, अनवगुण्ठितमुख्या नववध्वाः साम्यं धत्ते। यस्य संस्कृतकाचखण्डमण्डितोऽग्रभागः, सूर्यारुणकिरणारुणितो वध्वाः पद्मरागमणिजटितचूडामणितुलनां धत्ते।

महामहिम्नः भास्वदतुलप्रतापतपनस्य राज्ञश्चित्रपुराधीशस्याभिनवपद्धतिनिर्मितं नव्यं भव्यं भवनं भ्राजते। यद्यपि भवनस्य निखिला सामग्री हिमचूषिता परं नवीनेयं रचनारीतिर्विश्वकर्मणा श्रमेण विचार्याविष्कृतेवावभाति। कुड्येषु भुशुण्ड्यादिलक्ष्यार्थं रचितैः छिद्रचक्षुर्भिः साम्यमिवावलोकयत्, निर्निमेषनेत्रमखिलामिलां पश्यतीव। प्रोन्नतभूभागे शोणितपाषाणदृढप्राकारस्य मध्ये विस्तृतक्षेत्रे रमणीयतमाऽस्य रचना। परितो मरुकूपनिम्ना बब्बूलव्याप्ता दुस्तरणीया [1]रणीया परिखा। द्वाराभिमुखञ्च नवनीतमृदुलसितश्यामोपलं कुट्टिमं प्रकाशयति यतिप्रह्लादनीं सुषमाम्। द्वारे काचकवाटा अट्टालिकाः सम्भोक्तृभाग्यमद्वितीयं प्रकटयन्ति। गोपुरे धृतोर्णावसनोऽपि ऋतुबलविधूयमानगात्रः, कक्षतो हस्तनिःसारणमनीहमानोऽपि जनपालशासनभयविवशोऽग्रलग्नचञ्चचन्द्रहासां भुशुण्डिकां करे कलयन् हिममपनयन् सत्वरसत्वरं नगरदशामीक्षमाणो भ्रमति गौपुरिकः।

इतश्चेत आकर्षन् कश्चिद्धवलवासाः, उष्णीषपट्टिकापरिवेष्टितशिराः सभ्यवेषोऽभिप्रासादमायन्नस्ति। स च द्वाःस्थेन सहाभाष्य दाशरथेर्जयं सप्रश्रयमाह महाशय! अत्रत्य एवाहं वणिक्, देवपादैः सहावश्यकं वर्तते किमपि कार्यं सूचयान्तः सत्वरमिति।

द्वारपालस्तु कुतोऽयं समेतो दिवसमुख एव भूमिस्पृक्, सम्प्रत्येव सौरतापेन न्यूनतां यातं शीतम्, अयञ्च प्रवेशयति हर्म्यमध्यमितिचिन्तयन् भर्त्सयन्नाह—

अपेहि रे! न त्वादृशान् कृपणान् प्रातर्दिदृक्षते महाराजः। चल चल

१ रणाय हिता = तस्मै हितम् इति छः प्रत्ययः।

पुनरायातव्यम्। देवपादानां सन्ध्यार्चाया दिष्टोऽयमाहोस्वित् कृपणानां चौर्यधर्मासत्यभाषणतत्पराणां पापपुञ्जनिर्मितानां त्वादृशानां दर्शनस्य ? गच्छ गच्छ, इति।

परं त्वरितप्रज्ञो विट् कक्षिगुटिकातो रूप्यकमेकं निःसार्य तस्य हस्ते ददत् पुनः प्रार्थयत्। रूप्यके महती शक्तिर्विद्यते, एतत् कुटिलमपि सरलयति दुर्जनमपि सज्जनयति।

अहह! विलक्षणमिदं रूप्यकम्, जगद्रणक्षेत्रेऽव्यर्थलक्ष्यः प्रहारः। यस्य हस्तं यस्य लोहमञ्जूषामेतदलङ्करोति वशंवदस्तस्य संसारः। एतत् पतिव्रताः पातयति, पूजारिणो जारीकरोति, भक्तान् विषयासक्तान् विदधाति, विदुषो दूषयति, नीचानर्च्यान् करोति।

हा! हन्त!! वर्त्तुलरूप्यक!!! त्यागः, उपकारः, ब्रह्मचर्यम्, सत्यम्, तितिक्षा, सर्वाण्येव कथामात्रावशिष्टानि जगति त्वय्येव लीनानि। वत! विप्राणां विश्वविस्मायकस्त्यागो हन्त दुर्वर्ण! त्वयि त्वया वा को जानीते क्व विलीनः। यस्य शास्त्रेषु चर्चाप्यधुना साश्चर्यमीक्ष्यते।

अहह! पुरा ये विप्रा विश्वदानलोभेन निष्ठीवनमपि न चक्रुः, त एवाद्य रूप्यक, भवति धवलधवले वर्त्तुलवर्त्तले विचित्रचित्रे विलक्षणाक्षरे झङ्कारवति भासमाने काकिण्याः भग्नकपर्दस्य लाभलोभेन निष्ठीवनमपि परिशोधयेयुः। हा? कीदृग वैलक्षण्यं कलेः। या नार्य्यः पूर्वं जगतो मूल्येनापि स्वव्रतस्य स्वधिकं मूल्यं विविदुस्ता एवाद्य हन्त! परगृहमटन्त्य एतस्य विन्दुवर्त्तुलस्य लोभेन किमिव न कुर्वन्तीति...

अस्तु, रूप्यकोष्मणोष्णीकृतो गौपुरिकः प्रासादोन्मुखो भूत्वा रामसिंहनामानं कञ्चित्पुरुषं सम्बोध्य "अयं महाराजान् दिदृक्षते"—इत्यब्रूत। स च "आं, तिष्ठ पृष्ट्वाऽऽयामि" इत्युक्त्वाऽन्तर्गतः क्षणेन प्रतिनिवृत्य "आम्, एहि" इत्याह।

ततः समीक्षितावयवो[१] वहुमूल्यरत्नादिकं विनाऽप्राप्तान्यसम्भारः शाणोल्लीढ[२]मल्लादल्यवारणावार्यनिशितसितभल्लशतविघटितेन, स्थूलतरायसपत्रपुष्टेन, लोहशङ्कुतललग्नपित्तलवर्त्तुलोन्नतपत्रिकाप्रथितदार्ढ्यसौन्दर्येण, घनाघोषवधिरितजनया महत्याऽर्गलयालङ्कृतेन कवाटयुग्मेन समुद्भासितं द्वारं प्रविश्य राजविभूतीः पश्यञ्जगाम।

१ तलाशी लिया हुआ। २ मल्लैर्दलितुमशक्यम्।

द्वारमिदं मारकतदृषन्निबद्धकुट्टिमं बहुभिर्भवनैर्विभासमानं विकासते। अजिरे च रमणीया पुष्पवाटिका, तदुत्तरतोऽवलोक्यते राजभवनम्। पुष्पवाटिका न विशाला, परं तिर्यगिष्टकारचितवीथिभिः, पक्षिमिथुनाङ्कितमारकतालवाल[1]लग्नविटपपरिमलैः, विचित्रैर्द्रुमैः, द्विकद्विरेफमयूरसन्नादितैश्च माघवनीं वनावनीमत्यशेत।

पुष्पवाटिकाया उत्तरतो द्वितीयं द्वारं विपुललोहं विशालं शालोन्नतञ्च। अत्र क्वचन ह्रेषाध्वनिमहितजना वाजिनः, क्वचन निमीलितेक्षणा मत्ता भ्रमन्मधुलिहः करिणः, क्वचन चकोरकीरगिरा विघूर्णितेक्षणाः हरिणाः शोभन्ते।

तृतीयद्वारकपाटयुगलं स्वर्णपर्णे मणिगणेन रचितैर्लतापुष्पस्तबकैः लावण्यपण्यैः पुण्यमादधत् शिल्पिनः प्रमाणपत्रमिवावभासते। उभयतः सुविटपानां परिमलभाजां पुष्पाणां परिमलमतिनिर्हारिणं घ्राणतर्पणं समेभ्यो विभजन् भगवान्पवमानो विदलितोद्यानविटपः प्रवृद्धरयोऽपि कदलीपर्णपुष्करकर्णखण्डितवेगश्च्युतलक्ष्यो योद्धेव मन्दं वाति।

अथ वैश्यः कौशेयजवनिकस्य हर्म्यस्यान्तः प्रविश्यापश्यद् यत्, मुकुरोज्ज्वलायां श्लक्ष्णभित्तौ रम्याणि चित्राणि पुण्यश्लोकानां सर्वादीनि सर्वनामानि चाङ्कितानि सन्ति। मध्ये च परितो जाम्बूनदासन्दीद्विगुणितसुषमायां, सदुपलसम्पादितायामुन्न्यस्तसिततूलिकामहोपबर्हपरिष्कृतायामेकतो वीध्रशातकुम्भनिर्मितेऽक्षिलग्नोदधिसारवैडूर्ये, मारकतबर्हे, नीलकौशेयालङ्कृतपृष्ठे, जातरूपातपत्रे मयूरासने समुपविष्टो गुह इव, उपहारदानैतराजन्यकुमारोपगूढः, गूढजत्रुरशत्रुः, अनारतधराधरपतिपुत्रीसेवितः शिव इव, ब्रह्मेवाश्लिष्टसरस्वतीकः, राम इव दुःखितदुःखहारी, अर्जुन इव भारतप्रसिद्धः, राधेय इव दानादीनः, भीष्म इव ब्रह्मचारी धनुर्विद्यावित्तः, रचितबृहन्न्यासो वररुचिः, वाग्घरिः, दैत्यारिः श्रीशो विष्णूदयो होतृकारः, सुग्रीवः, साङ्गदो हनूमान्, सूक्ष्मविरलकचोऽपि परिमललुब्धषट्पदबहुलितकेशः समुज्ज्वलायतमस्तको दीर्घसुन्दरभ्रूः गोपुरकवाटोरःस्थलो राजा राजते।

तं कश्चनोपवीणयति, कश्चनोपश्लोकयति, कश्चन दूरस्थायी सामन्तः साञ्जलिबन्धं प्रणमन्नपराधभिक्षां भिक्षते, कश्चन दुःखजालज्वलितचेताः कष्टं निवेदयते। अथ

---

[1] गमला।

तमायतदोषमदोषं विकचोडुविसरायां वाशुरायाश्चन्द्रमिव नरेन्द्रं किञ्चिदुपहृत्यैकत उपविष्टे भूमिस्पृशि, महाराजस्य स्नानवेलामाकलय्य भ्रूभङ्गवैलक्षण्येनैव निरितेषु नृपु महाराजवैश्ययोरेवमभूदालापः।

राजा०। आनन्दितोऽसि श्रेष्ठिन्!

वैश्यः०। (स्वजातिप्रभावेण बिभ्यत्) आम् जगद्रक्षक। को नाम···कः स्याद्··· भवति··भवद्राज्ये च··कोऽप्युत्पातः। गता दूरञ्चौराः। महद्भयं यस्मादासीत्तदपि पलायितम्। चिरञ्जीवतु श्रीमान् चिरमवतु।

राजा०। कोऽपि हेतुरस्ति क्रिमागमने!

वैश्यः०। देव! देवपादानां दर्शनादृते को नाम मुख्यो हेतुः सम्भवति, वन्द्यपाद! वयं वणिजो देशाद्देशमटन्तः सुन्दरसुन्दराणि विचित्राणि वस्तून्यवलोकयामो देवपादानां दयया लभामहेऽपि। गतयात्रायामहं काश्मीरदेशमयासिषम्, ततश्च वपुःपरिमलमोहितमुनिजनां सुरभिनिःश्वासां स्त्रियमानीतवानस्मि। सकलदेशतिलकायमाना साऽशेषभुवनभालायमानो भवामतोऽहं समवेतसौन्दर्यां दासीत्वेनोपजिहीर्षामि सकामां वामाम्।

राजा०। बह्वयोऽत्र दास्यः, नास्ति प्रयोजनम्।

वैश्यः०। परं देव, महता कष्टेनानीतां तां श्रीमच्चरणसरोजरजः सेविनीं द्रष्टुं नितान्तमुत्सुकोऽहम्।

राजा०। अस्तु, प्रेष्या।

* * *

"देव, देवीमहं तां वक्ष्ये, सा वैश्योपहृता 'काश्मीरीये' ति कृतनामधेया दासी भवता ज्योतिःशास्त्रानुसारं परीक्षितुमनुशिष्टा परीक्षिता। महता श्रमेण अनुनयविनयेन सा स्वहस्तमदर्शयन्न मुखम्। सा सत्यं त्रिभुवनपट्टमहिषीत्वानुरूपा कथमिमां दशां भजते इत्येव विचारः। एका स्वल्पीयसी रेखा तस्याः साम्राज्यं विदूरयति, मन्ये द्वित्रैर्वर्षैरेषा इमां दशामनुभवति। एषावश्यं भगवतीस्वरूपा न कदाप्यवमान्या मान्या च पट्टमहिषीव"।

"किं कथयसि ज्योतिर्विद्"?

"सत्यं देव"!

"दृश्यतां किं भवति"

"देव, विलक्षणोऽयं विधिः, प्रातर्भ्रमता मयाद्य द्वौ गोपबालावपि तेजोमयमुखौ वीक्ष्य तयोर्हस्तौ विलोकितौ। उभावेव राज्यार्हावास्ताम्। निर्बाधराज्यदात्री तयो रेखा। अहं तयोः स्थितिज्ञानायाहोरात्रं तावपश्यम्। दुर्विनीतो विचित्रोऽयं कालः, विचित्रश्चास्य महिमा। यस्य आत्मनः प्रतिमूर्तय इव मन्त्रिसामन्त-मान्यधनिवंशावतंसा अमलकुलजलनिलयनिर्गता मणय इव शाणोल्लीढाः स्वर्णस्यूतवाससः सुगन्धिगौरशरीराः शोभालाः कृष्णवाला बालाः सहाया उचिता-स्तस्यैव शिङ्घाणपूर्णघोणाः स्रवल्लाला दूषिकादूषितवीक्षणाः प्रकामं पुद्विकिरन्तः सविग्रहा इव काला नग्ना बालाः सहचरा आसन्। यस्यालकेषु प्रयत्नसिद्धं परिमलातुलं तैलं, सुगन्धमुग्धगन्धवाहं परागपटलभिन्नमवलेपनश्चोचितं तस्यैव दुर्दिनपरिभूत-प्रभस्य पेरोरिव एडकामूत्रमिश्रिता धूलिर्धारणाय। प्रतिदिनधावननिर्धुष्टोत्तरच्छदे प्रतिदिनं तौलिकतन्यमानतूले मृदुलमृगरोमास्तरणे शीतलविद्युद्व्यजनवीजिते सौवर्णे कौशेयतन्तौ परिसुगन्धौ मञ्चे शयनोचितो हलफालविषमेषु प्रचण्डकरतप्तेषु स्थलेषु शयान आहूतोऽपि न जागर्त्ति स्म। यस्य सुमधुरं सामोदं क्षरदाज्यं भोज्यमुचितं तस्य यवागू-कृशराप्रायमशनम्, तदपि कदाचिदपक्वं कदाचिद्दग्धम्। काश्मीरनारङ्गाम्रतफलदाडिमीका-पिशायनीफलोचितस्य करीरवानं दुष्प्रापम्। माघवन इवोपवने भ्रमणोचितोऽजागोष्ठ-निष्कुटसेवी। धात्रीभिर्मातापितृभ्याञ्च सप्रेमाभ्यर्थनोचितो भोजनाय रोदिति स्म, विलपति स्म। बकुलगणिकाचाम्पेयनागकेशरवञ्जुलमञ्जुलजलेन स्नानोचितोऽद्य स्वेदबिन्दुदूषित-तनुर्गर्ह्यते। रूक्षा अपरिष्कृता यूकालयः केशा अनीशतां समर्थयन्ति। कर्णयोः पीञ्जूषम्, अक्ष्णोर्दूषिका, हारोचिते गले मलरेखा, तनौ दौर्गन्ध्यम्, करयोरुत्पाटनम्, कमलकोमलयोः पादयोर्विपादिका, शरीरे कार्ष्ण्यम्, मत्यां मान्द्यम्, प्रतिभायामप्रभात्वमन्तर्गृह-मन्धतमसम्। दुर्वर्ण, दैव, किं कृतवानसि अनपराधिनि शिशौ, विलक्षणोऽसि रे अघटन-घटनाघटनपटीयः! सोऽयमद्य देव, मयापरोऽवसरो दृष्टो यदेकां दासीमेतादृशरेखाङ्कां पश्यामि। मम मतिर्वा भ्रान्ता शास्त्राणि वा विपरीतानि, नैवाकलयितुं शक्नोमि।"

* * *

घनतिमिरं नाशयितुं विरचितारुणनेपथ्या मारवी क्षत्रियसेनेव प्राची स्वर्णबाणान्

विक्षिपन्ती घनध्वान्तमध्वंसयत्। पराजिता रात्रिर्मुखमन्तर्दधौ। प्रातरन्नं पिंषन्तीनां पुरयोषितां मन्द्रगम्भीरो दृषद्ध्वनिर्माधुर्यकतां प्रसारयामास। प्रकृतिस्त्रस्तचरेण मुखेन पुनर्जहास। पङ्कजवनस्य मुकुलानि विचकसुः।

प्रगेतनं पवमानं सेवितुं सदश्वमारूढो याति चित्रपुरेश्वरः। मार्गे कावपि मुग्धौ अज्ञात-वाक्पाटवौ कोमलकमनीयतनू मलिनमुखौ शीर्ण-वस्त्रौ बालौ दृष्ट्वा स ज्योतिर्विदोक्तं स्मृत्वा सस्पृहः सप्रेमावोचत् "बालौ! कस्य तनयौ स्थः"?

"देव! कृष्णगोपसुतौ स्वः।" ग्राम्यशिशुसुलभया ह्रिया हृतधैर्योऽपि ज्येष्ठोऽब्रूत।

"अपि शिक्षितौ किञ्चित्।"

"नहि देव! अध्यापको रुप्यकं याचते, अस्माकमुदरदर्यैव न पूर्यते, पितास्माकं गतमासे मृतो गावो महिष्यश्च महामार्यां मृतास्तदा वराकाणामस्माकं कः सम्भाव्येत पठनप्रबन्धः" "आवामन्नवृत्त्या गाश्चारयावः"।

"अपि कार्यं कर्त्तुं शक्नुथः?"

"देव! कश्चनास्मभ्यं कार्यं ददात्येव नहि। आवां व्यजनं चालयितुं, गाश्चारयितुं शक्नुवः परं नास्मादृशेषु कश्चन दयते, दरिद्राणां दर्शनमेव परिहरति लोकः। श्रीमतां यदि दया भवेत्तदाऽऽवामपि दुःखोदन्वतः पारं लभेवहि।

राजा तु विहस्य दुर्गे व्यजनचालनकार्याय आदिश्य जगाम।

अधुनैतयोः सुदिनानि समितानि। पाचकेन सहाप्येतयोः प्रेम भूतम्। करुणदृशे दरिद्रे सहृदयो दयते। सोऽप्यवशिष्टम्भोजनं ताभ्यां प्रायच्छत्। अधुना तयो रागः स्वभावो बुद्धिविशदता परिवर्तिता। तौ स्वकर्मणा विनयेन आज्ञावहनेन बालसुलभया मत्या च राजकुलं वशंवदयामासुः। उभावेव राजनामाङ्कितवर्त्तुलपित्तलपट्टिकाभूषित-वक्षसौ तदुचितवाससौ महाराजशयनागारेऽन्ववसरं वाहीकं व्यजनकार्यमकुरुतां समये संलग्नमनसावपठताञ्च।

ग्रीष्मः, रात्रिः, उष्णता, शीतं प्रेतम, वायुरनायुरिव प्रतीयते। चित्र-पुराधीशः कमलकोरककृतोपबर्हः बकुलशय्यायां निमग्न इव स्वपिति। उष्णतापोषकं विद्युद्व्यजनमवरुध्य काश्मीरीया हिमशीतेन व्यजनेन शिरःपार्श्वं स्थिता सतर्कं वीजयति।

मध्ये मध्ये राज्ञो मुखं निपुणं निरीक्ष्य किमपि विचारयन्ती पुनः स्वं कर्म सावधानमाचरति। बहिःस्थितौ बालौ च राजभयेन शिशुस्वभावाच्छनैः शनैरालपन्तौ बृहता सूत्रणान्तर्व्यजनं चालयन्तौ स्थितौ स्तः। यद्यपि शिरोगृहं परितोद्वारं तदपि कस्या अपि दिशोऽद्य भगवान् समीरो न सरति। दूरस्थयोर्बालयोरप्यालापं काश्मीरीया ध्यानेन शृणोति।

कनिष्ठः—भ्रातः कामपि गीतिमालप रे!

ज्येष्ठः—नाहं जनामि।

कनिष्ठः—केशवस्तु बहु जानाति।

ज्येष्ठः—तेन किमस्माकम्। आवान्तु न जानीवहे।

कनिष्ठः—तर्हि किञ्चिदन्यदालप। अन्यथा तन्द्रा शिथिलयति, उष्मा ग्लपयति।

ज्येष्ठः—यदि आग्रहस्तर्हि शृणु—

अद्य मया एकं पद्यं रचितं, गुरवे श्रावयिष्यामि त्वमेव पूर्वं शृणु—

क राजास्ते चन्द्रोऽस्तमितरिपुवृन्दो नरवरः
क हर्षो बालोऽस्ति क नु जलधिजातो नवशिशुः।
क माता मान्या नावहह! कमला धर्मविमला
करालोऽकाले हा! किमिव विदधे कालवधिकः॥

बालस्तु श्रवणमात्रप्रसन्नो नष्टप्रमीलः शुचिर्बभूव। परन्तु काश्मीरीया बीजयन्ती मधुरमधुरं स्फुटाक्षरं सुगम्यार्थं श्लोकमिमं श्रुत्वा किमपि स्मारितेव निशितच्छुरिकया हृदि विदारितेव सन्तापतप्तान्यश्रूणि मुमोच। तानि च तस्या विषादप्रमादेन नरेन्द्रहृदि विदारितेव सन्तापतप्तान्यश्रूजि मुमोच। तानि च तस्या विषादप्रमादेन नरेन्द्र-

मस्तके निपेतुः। अयोगोलकतापसन्तप्तैरिव भृशोष्णैरश्रुभिर्नष्टनिद्रोणोत्थितेन राज्ञा पृष्टम्—

"कथं रोदिषि? काश्मीरीये, विशदय, अहं ते दुःखकारणमचिरं जिज्ञासे"।

का०—देव! भवति शास्तरि कोऽत्र दुःखलवोऽपि। किं तमःस्तोमहन्तरि भगवति सवितरि समुदिते सम्भाव्यते तमोलेशोऽपि।

रा०—सत्यं कथय कथं रोदिषि? अभयं ते ददामि।

का०—महाराज ! किमाग्रहेण, किन्तु कथयामि, नितरां दुःखिन्यस्मि। नाहं सार्त्तिभिर्दुःखवार्त्ताभिः सदयं भवद्धृदयं चिखेदयिषामि। न चाशुचि[1] शान्ते स्वान्ते दुःखशल्यमारोपयितुमुत्सहे, अलमधुना कदुदन्तं श्रुत्वा। मा नाम प्रलीनमनलं सन्धुक्षयन्तु,स्वपन्तु।

उदितजिज्ञासस्तेनोत्तरेण बहुशः काश्मीरीयावृत्तं ज्ञातुं कृतसङ्कल्पश्च स उत्थाय पर्यट्य पानीयं निपीय बहिश्चत्वरे आसन्दीमाकृष्योपविष्टो वृत्तं श्रोतुं सज्जोऽभवत् सा च कथमप्यवरुद्धवाष्पा पृथिव्यां समुपविश्य प्रवक्तुं प्रारभत—

जनपाल ! यद्यत्यन्तं कुतूहलं यदि च मन्दभाग्याया दुर्वर्णं दुःखदं वृत्तं शुश्रूषते तदा शृणोतु—

वर्त्तते प्रततप्रतापपर्परीकः[2] सादितशत्रुशर्शरीकः,[3] घनपुष्ट्योधभर्भरीकः[4] श्रीविमलपुरेश्वरो रामपालो नाम, विलक्षणख्यातेर्यस्याहं मन्दभागा तनया...

राजा०—(साश्चर्यम्) तत्र भवतो विमलपुरेशस्य पुत्री... !

काश्मी०। आम्, देव !

राजा०—आम्, ततः, त्वरस्व।

का०—ततो देव, श्रीमन्नरेन्द्रव्रातभालायमानस्य नवेन्दुपालस्य पुत्रो विश्वश्रुतयशाः परिणीय प्रसूतपुत्रां श्वशुरालयमानयत्। जलमार्गे ममाभूदेकोऽपरः पुत्रः। आहारादिकं नासीत्। जीवनायावश्यकं वस्तुजातमानेतुं मत्पतिर्नावमारुरोह। तरिः बहोः कालात् समुद्रे स्थिता जीर्णाऽऽसीत्, अवतरणसमय एव विद्रुमपर्वताहता दुरवस्थामभजत्। किञ्चिद्दूरं गता समुद्रपर्वतेनाघट्टिता, मत्पतिश्च पर्वतोच्चतरङ्गे विलीनः। अहमसमर्थापि पक्षद्वारेण विलोकयन्ती आशङ्कितानिष्टा न्यपतं सर्वंसहायामसहाया।

रुदतो हर्षस्य वारिजस्य चाक्रोशेन कथङ्कथमपि नष्टमूर्च्छा हर्षं वाग्भिः वारिजं शिरःस्फोरणैः सान्त्वयन्ती "नानिष्टं शङ्कनीय"मिति मनसैव दीयमानधैर्याऽतलस्पर्शे पयोराशौ भोजनमानेतुं गतं पतिं प्रतीक्षमाणा सर्वं दिनं व्यत्ययापयम्।

अथाशेषदिननिरन्तरयात्रापरिश्रान्ते रक्तमिते विरिंसौ पश्चिमदिशमवलम्बिते भगवति

---

१ अशुचि—अशोके। २ सूर्यः। ३ हिंस्रः। ४ शरीरम् (औणादिकाः)।

सहस्रदीधितौ उत्कण्ठितं हर्षं शान्तयन्ती स्वयमपि बुभुक्षिता तृषिता जलमन्वेषयन्ती लेखानुसारं जलागारं प्राप्य पानीयं निपीयोत्सङ्गवारिजाऽद्राक्षम्।

चन्द्रिका विकसिताऽऽसीत्। पर्युद्यानं प्रोच्चा भित्तिः। एका जलनलिका पादपतर्पणाय भित्तेरधस्तात्समायाति। वृक्षाः सफलाः सपुष्पाश्चासन्। बुभुक्षितो हर्षस्तर्जनीमाकर्षयन् मामदुःखयत्। बालविलापमाकर्ण्य साश्रुनेत्रा परोद्यानप्रवेश-शङ्कितापि किमकरिष्यम्। पत्रपुष्पफलानामविशोधनेन जातं सङ्करं परिहरन्ती झटिति गत्वा रसालानि नारङ्गाणि दाडिमानि च त्रोटयित्वा धौतवस्त्रपुटे संस्थाप्य सभयं वीक्षमाणा तस्मै अददाम्। स च वन्यान्यपि फलानि सानन्दमुपभुज्य सुष्वाप।

मदीया दशा विलक्षणाऽऽसीत्। भर्त्रागमनं प्रतीक्षमाणा, नौकाविघट्टनेनानिष्ट-माशङ्कमाना प्रसववेदनाभिभूता बहुकालं निद्रां नालभे।

शान्तो निशीथसमयः, सर्वतः श्रान्तां तन्द्रापूर्विका निद्रा मां प्राप। प्रातजल-गर्जनवीतनिद्रा किमकरिष्यमहं रोदनादृते।

बुभुक्षाप्येका प्रबला पिशाची दुःखेऽपि दुःखिनं दुःखाकरोति। तयाक्रान्ता-ऽघसम्। प्रतिदिनचौर्याभ्यासः फलापहरणमुचितं मेने। पक्षो मास ऋतुरयनं व्यतीयाय। अहं परमात्मानं स्मरन्ती फलान्यदन्ती भवन एव समयं यापयन्ती अवर्त्तिषि।

एकदाहं बहिरलिन्दे केशजलं शोषयन्ती तरङ्गसुषमया बालौ ह्लादयन्ती वस्तु-पूर्णनावं विदेशव्यापारं वैश्यममुमद्राक्षम्। नावां मार्गो निकेतनस्य पार्श्वत एवासीत् कल्लोलास्तत्र शान्ता आसन्। अद्यैवाहं बहोः कालात् पुरुषं दृष्टवती। सहसा चलन्ती नौ रुद्धा, पार्श्वे एवाहमासम्, भीतिविह्वलो वणिगूचे 'देवि, कथय किमिच्छसि ? ब्रूहि किं करवाम, भगवति, प्रचालय नावम्"।

"महानुभाव, काहं रोधिका नावः, मन्येऽनुकूलेनेश्वरेण भवन्त इतः प्रापिताः। अहं मानुष्यस्मि। सत्यां भवद्दयायामनाशंसितं भूभागमाभ्यामेव लोचनाभ्यामहमपि पश्येयम्"—विशिथिलेन स्वरेणाहमुदतरम्।

"भगवति, त्वं मम धर्मभगिनी, आगच्छ त्वामहं परं पारं प्रापयिष्यामि।" इति वणिजोक्ता क्षणं विचार्य सपुत्रा नावमारूढा, नाविकयत्नेनाचलत्तरिः।

विचित्रोऽयं विधिर्मामनुगच्छन्नासीत्। महता वेगेन प्रारभत वातुं पृषदश्वः।

विवरमिव जिगमिषुरकूपारतलं दिदृक्षुश्चञ्चलाभवन्नौः। नावि भाराधिक्यमासीत् पापपुञ्जश्च। उभयतः कल्लोलाघातश्चासीदेव मुद्गरसमः। वायुना ग्लपितचेतसां शुभाशया सहैव भग्ना नौः। एकस्मिन् शकले हर्षवारिजौ परस्मिन् कुमना वणिक् अहञ्च। शेषं भृत्यभाण्डादिकं यादसां पत्या स्वाङ्के कृत्वा स्वाश्रितेभ्यो वितीर्णम्। मज्जतां जनानां भीषणं चीत्कारमाकर्ण्य जलधिर्जहास। जलतरङ्गैर्विदूरमपवाह्यमानौ विह्वलौ हर्षवारिजौ विलोक्य द्विहस्तमितकाष्ठफलकसहायाहं चिरसखीं मूर्च्छामालिङ्गितवती। अर्यस्यास्य विशिपे भग्नोऽभून्मे मूर्च्छासंवेशः। एष मां नगराद् बहिः वाटिकायामरक्षत्। उत्तमा प्रसाधनसामग्री, चतुराः प्रतिक्षणं मां कामवासनासु संलग्नां दिदृक्षवः सप्रयत्ना दास्यो ममाग्रे प्रस्तुता आसन्, अर्हत्तमं भोज्यञ्च।

एकदा रात्रौ चञ्चचन्द्रे चाकाशे प्रसाधितवेशः परिमलालकः स्वार्थपरः पापपुरेशः कलुषितदृक् विट् भगिनीं मत्वाऽऽनीतायां मयि पतिव्रतायां पांसुलललनासुलभां दृष्टिं प्रक्षेप्तुमैच्छत्। परं मया, "नीच! कदर्य! वितथप्रतिज्ञ! नाहं गणिका, अपि तु कुलीना क्षत्रियास्मि, तन्मूढ, यदि मामङ्गस्पर्शेन दूषयिष्यसि चेन्नियता ते मृतिर्मत्करात्"- इत्युक्तः परमभीरुर्बुभुक्षितायाः सिंह्या इव सक्रोधाया मम वचोभिर्भर्त्सितः स्वकर्त्तव्यं धिक्कुर्वन्, स्वभावचतुरः, भ्रष्टेनापि कार्येण भवतो धनमानेप्सुर्वार्त्ताविशदेन भवदभ्यर्णं प्रैषयत्।

पूर्वस्मिन् दिने भवद्व्यजनचालकयोर्बालकयोराकृतिं दृष्ट्वा विस्मिता व्यचारयम्, ममापीदृक्षौ बालावास्तां यदि जीवतः कुत्रचित् परन्तु शक्नुतोऽपरावपि समानाकृती भवितुमिति विचार्य मौनाऽवर्त्तिषि, परमधुना पद्यश्रवणनष्टसंशया क्षत्रियवीरपत्नी वीरपुत्री सविनयं सप्रणामं सानन्दं सोत्साहं सरोदनं सहासं सकरबन्धमहं प्रार्थये यद्दापनीयौ प्रलीनपतिकाया अनाथाया दुर्भगाया मे पुत्रौ। दीनसमाश्रय! कुरु मामपि साश्रयाम्। हन्त, दैवी विचित्रा गतिः। हिरण्मयसूत्रस्यूतमहाप्रशस्तविस्तृतपटपरिवृतां चन्दनदण्डां महार्होपबर्हां सुखनिलयामधःपातितदुःखारूढामिव शिबिकां 'चञ्चलेय' मित्यवामन्यत, किङ्किणीसहस्रं शिखरस्वर्णकुम्भविभासि सद्वाजियुजं रथमपि शब्दितगमनमिति, हेषाहर्षितजनं फेनभृतसृक्किणीयुगलमुच्चैःश्रवसं ततयशसं वाजिनमपि वल्गाकर्षणकष्टमिति, सकुथमञ्जनानुकारि द्विरदवृन्दं कृष्णरूपमित्यवामन्यत

यो राज्ञामङ्कादङ्कं भ्रमन्नावकाशमलभत यश्च भाविनश्चक्रवर्त्तिनं विदुर्वरणीयवाणयो वचक्रवस्तस्याद्यैषा दशा ? विचिकित्सते शास्त्रपु मामकं मनः। हन्त ! किमिदम् ?

राजा० हन्त··किन्नाम··भ··व··त्याः···

काश्मीरीया० देव ! कमला।

राजा तु सत्वरमुत्थाय विगलदश्रुः सर्वदाऽवगुण्ठननिलीनं धरादर्शि तस्या मुखं झटित्युद्घाट्य निपुणं निरीक्ष्य कराभ्यां दृढं बद्ध्वा भृशमरोदीत्। कमला तु महाराजस्यापूर्वालिङ्गनधृष्टतां विलोक्य निर्विण्णा विविक्षुरपि वक्तुमसमर्था सम्भ्रान्ता विस्फारिताभ्यां नेत्राभ्यां कमपि प्रचुरं दृष्टचरमिव पश्यन्ती कथमपि विपुलेन बलेन कराभ्यां मुक्ता विवेकविकला एकतः स्थिता।

राजा तु विह्वलः पादयोरानतः "प्रिये ! यं त्वं नष्टं मन्यसे, यश्च त्वामनाथां वारां राशावजहात्, यस्य कृते त्वं वराकीव सेवितभृतिका भ्रमसि, यश्च श्रीलश्रीनवेन्दु-नयनानन्दनोऽप्यनानन्दनः सोऽसावभाग्यो भाग्यशाली च भर्त्ता तव चन्द्रः।"

कमला तु पुनर्निपुणं निरीक्ष्य मुखचन्द्रं चन्द्रस्य "हा ! प्राणेश" इति कथनेन-सार्द्धं कश्मलमुपगता पतिता च मालती लतेव चन्द्राङ्के।

विलक्षणो मनोहारी परममधुरः सहृदयहृदयसंवेद्यामन्दानन्दश्चैष समागमः। नाटकीयवस्तुनो जवनिकापातो जातः। क्षणेनैव महदन्तरं जातम्, शतशो दास्यो विविधोपचारैर्मूर्च्छामपनिन्युः। घनीकृताकाशशोभास्तोभाः[1] कमलासम्मानाय विष्णुपदं विदलयामासुः।

* * *

'न्यून, ऊन, एहि एहि। रात्रौ लघवे श्रावितं पद्यं पुनः श्रावय, परममधुरमासीत्।'

न्यूनः—यथाऽऽज्ञापयति देवः। (श्रावयति)

राजा—कस्यात्मजौ युवाम् ?

न्यूनः—(त्रिः प्रणम्य) जगत्पालकस्य छत्रच्छायायां श्रीमत्तेजःप्रभावाज्ञातदुःखो गोधनजीवी कृष्णनामा गोपाल आसीत्। पुरा स श्रीमत्सामन्त "वीरचक्रधर" स्य नगरे वसन्नासीत्, परं दुष्कालमहामारीभिर्विपुलेन राजकरेण च भृशं पीडितो देवराज्यं

१ तोप (तुभ हिंसायाम्)

विविधमङ्गलं विज्ञाय सम मातामहसदनमायातो देवदयया सम्यक्कृताजीवनः सुखं न्यवसत्। स ऐषमः श्वसनकपीडितो देहं जहौ, तस्यैवावां तनयौ स्वः।

"हर्ष, किन्त्वं कृष्णस्य पुत्रोऽसि, अपि स्मरसि परिचिनोषि माम्? किं जलनिकेतनं विस्मृतवानसि?"—हर्षस्नेहदुःखविगलदश्रुस्नातानना कमलयोचे।

न्यूनः—(स्तब्ध इव आश्चर्यचकित इव कमलामुखं निर्निमेषनयनो विलोक्य तद्वचनरीतिञ्च परिचीय) "आः मातः?" इत्युक्त्वा साश्रु गलमालिलिङ्ग।

उत्तापतप्तमरौ पीयूषवर्षिणः प्रावृषेण्या वारिदा वसुधां स्वर्गयामासुः, ऊषर आरामतां भेजे। स्थली रसिकानां मनोमुदे क्रीडास्थली जाता।

कृष्णगोपालस्य पत्नी ससम्मानमाहूता पृष्टा चाब्रवीत्—

"एकदा मध्याह्ने वृद्धो मामुपेत्याह। 'प्रिये नावयोः सन्ततिः, वृद्धोऽहं त्वमपि च, वार्द्धके आवयोः सेवायै परमकारुणिकेन भगवता प्रेषिताविमौ विधिविपाकदारुणवेदना-विपन्नौ रोदनस्तब्धकण्ठौ जलसम्पर्कव्रणौ प्रवाहोह्यमानदारुशकलसहायौ यथाकथमपि सुकोमले तटे समानीतौ कम्बलान्तःकृत्वा घृतं विलिप्य त्वदन्तिकमानीतौ पालय चेमौ देवदत्तौ"—इति।

स्वभाववशाहमवोचम् "समाप्तसप्तमीक, बुद्धिस्ते भ्रष्टा, प्रतिदिनं कमपि समानयसि, अद्य मृताम्बो वत्सः, अद्य श्वाऽद्य गर्दभः, मन्ये त्वमेव धात्रा निराश्रितानामेकमात्रमाश्रयः सृष्टः। शृणु, एकदाहं युवतिरासं, त्वदाज्ञापालने कष्टानुभवो नासीत् परमधुनाहं वृद्धा स्वस्यैव जीवनाय आवश्यककृत्येऽपि सालस्यं वपुरेतेषां निराश्रितानां सेवायै नालम्। क्षमस्व अद्याहं तवान्तिमामाज्ञां पालयिष्यामि परं नान्यदाहमाज्ञाप्या"—इति।

"शृणु, वृद्धे! एतौ मानवजातीयौ देवदत्तौ बालकौ, एतादृशावद्यैवानीतवानस्मि। इमौप्रेम्णा परिपालय।"

गृहे देव, गवां महिषीणाञ्च समूह आसीत्। अध्याढकं घृतं प्रतिदिनं भवति स्म। दुग्धस्य दध्नश्च घटाः पूर्यन्ते स्म। श्वानोऽपि पयस्तृप्ता आसन्। गृहे केवलमावां दम्पती आस्व। अहमेतावेकस्यां कोमलायां शय्यायां शाययित्वा नवनीतं विलिप्य पर्यचरम्। स्वल्पसमयेनैव व्यपगतव्रणवेदनौ हृष्टपुष्टाङ्गौ सञ्जातौ। आवामेतयोर्नामान्यकुर्व न्यून ऊनश्चेति। प्रातर्धारोष्णपयःपानपीनौ, नवनीताहाररक्तसबलदेहौ सुन्दरकन्धरौ

सुपरिणाहौ सवेणीकौ अंभूतामेतौ। वृद्धे नैतयोर्विवाहादि कर्त्तुं पयो विक्रेतु मजैडकापालनञ्चारब्धम्। किन्तु देव, वृद्धोऽतृप्ताभिलाष एव मृतः। श्वसनकेन स आक्रान्तः। ग्रामे कश्चन वैद्यो नासीत्। परग्रामत एको डाक्तरः पञ्चाशन्मुद्रा आदायागतः परं सोऽल्पज्ञस्तस्य जीवनं रक्षितुं न शशाक। तस्यान्तिमेच्छा एतयो विवाहस्यासीत्।

अधुना देव, एतौ मम जीवनस्य स्तम्भौ भवता दयया भृत्यौ नियोजितौ। एतयोः कृते कन्ये मयावलोकिते, मुद्राश्च सञ्चिताः, शीतकाले एतयोर्विवाहं विधाय आनृण्यमापादयिष्यामि देवस्य कृपया। यद्यपि नैतौ विवाहयोग्यौ, परमहं वृद्धा न जाने कदा वृद्धवद्देहं त्यजेयम्, अतो विवाहं विधाय निश्चिन्ता बुभूषामि।"

"वृद्धे नितरां प्रसीदामि"—हस्ताभ्यामुत्थाप्य सिंहासनमारोहयता राज्ञोचे "त्वमद्य-प्रभृति आजीवनं हर्म्य एव स्थास्यसि राजमातेव सम्मानवती, एतौ च तव पुत्रौ अस्य राज्यस्य राजानौ" इति।

हर्षवारिजावुपनयनयोग्यावास्ताम्। सल्लग्ने सम्पन्नः संस्कारः। भविष्यद्भाषी ज्योतिर्विदपि ग्रामशतं प्रापत्। प्रत्यग्रसामग्र्या स्नपितौ भास्वद्वाससौ स्वर्णकोशासि-धेनुकाविलसन्मध्यौ सुरभिशरीरौ विविधशिक्षकैः शिक्ष्यमाणौ मनोयोगेनाध्येतुं प्रवृत्तौ तौ।

* * *

मासोऽयमाषाढः। दिनकरखरतरकरनिकरभर्ज्यमानतनुतनवः प्रक्षीणाः पक्षिणोऽनुद्गताभि-नवदलेषु द्रुमेषु सपरिवारं स्थिताः प्रचलत्पवमानपर्णमर्मरध्वनिशङ्किता ईक्षणमुन्मीलयन्तः सक्तुकृताभ्यवहारा आलस्यमभ्यस्यन्ति। पथिका न तथा पथि पाथेयं पाथः पथ्यं यथा मन्वते। मासेऽस्मिन्नास्ति पाथःपूरपूरितशम्बरधरच्छटाश्यामलं वियत्, न च तोभसहस्रध्वनिपरिभावको बालभीविस्तारको विस्फूर्जथुः, न च स्वचाकचक्यचमत्कृतिचयेन लोचननिचयचमत्कारिणी पीताम्बरस्य भगवतो नीलवपुषोऽनुकर्त्री, महान्धकारेऽपि ज्ञानशलाकेव प्रपदं प्रदर्शयित्री, जलधराङ्गसङ्गिनी चञ्चच्चला छटा। कविकामिनीव सा सर्वसामग्रीहीना दीना विभवभयावहे जगति स्वमुखं सुखं दर्शयितुं न शक्नोतीव। वर्षणोन्मुखजलधरदर्शनोन्मत्तमनसां मेघनादानुलासिनां नीरदपटलश्यामलगलनलिकानिःसृतं वाशितमपि शीतमेव। प्रफुल्लरसालमञ्जरीजरीगृहीतमानसानां पुंस्कोकिलानां श्रवणरमणं

रुतमपि विरतम्। वृष्टिजलभरिष्यमाणालवालानां बालानां शाखिनां मनोहारको नूतनच्छदनविकाशोऽपि निराशः।

सिकतिले, तिलोपमसुखे खे प्रोड्डीयमानरजसि प्रदेशेऽन्तराऽपः सुरूपान् विरूपयन्, पल्वलान् किमु ह्रदानपि विशोष्योत्पाटयन्, शाखिशाखा नाशयन्, स्वभावनीलं नभो धूल्यासारेण पीतयन्, अनभिभवनीयाभाभिभूतसकलकलानिधिं, सैत्येन निर्जितहिमालयमालयमिव गिरीशस्य, हास्यमिव प्रकृतेः, यश इव कवीनां, प्रभवस्थानमिव मुक्तानां, सुधालिप्तसर्वाङ्गं भवनमपि मलिनयन् प्रचलत्युत्पातवातः। मनुतनूजानां नास्येषु हास्यं, नच प्रभया विजितबिम्बफलचरेष्वधरेषु रागः। तेष्वद्याभ्रकश्वेता पर्पटी प्रसृता।

परश्चन्द्रस्तु चित्रपुराधीशः पुत्रपत्नीसमेतो नितरां सुखी मञ्चे शयानोऽस्ति।

विलक्षणचर्योऽयं भगवान् कालः। एकस्मिन् काल एव विविधभावना विभावयति। एकः समय आसीत्, चन्द्रस्य कमलायाः हर्षस्य वारिजस्य च का दशाऽऽसीत्, स्वार्थपरायणं जगत् काणेनाक्ष्णाऽपि तान्नेक्षते स्म। जगत् स्वसुखे व्यासक्तमासीत्, कस्यापेक्षा कः कीदृशोऽस्ति, जगद्गर्ते निपततु पातालं वा प्रयातु, किमितरेण प्रयोजनम्। परमद्य···

कमलाया न गतदिवससाधारणः कालः। साद्य पतिपुत्रसमेता स्फीता, महिषी-देवी-पट्टराज्ञीपदैर्भूष्यते। एकाह्वाने शतशो दास्यः सकरबन्धं पुरः समवतिष्ठन्ते। विलासेनापि भ्रूकुटिविलाससङ्कोचे सर्वमन्तःपुरं परमेजते। अहेतुकेऽपि तिर्यङ्नेत्रविन्यासे संन्यास[1]इव समागच्छति।

अद्य तु रूक्षैरलकैरलङ्कृतचरं शिरः प्रयत्नसिद्धेन पुष्पसुगन्धिना तैलेन स्नेह्यते। यस्याधो भ्रूमध्यलग्नं ललाटविभासि काश्मीरतिलकमनन्वयालङ्कारस्योदाहरणम्। यस्याः नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्ण[2]श्रृङ्गाच्च सौन्दर्यं प्रच्यवत इव। ग्रीवायां ग्रैवेयकस्तस्मिन्नेव वक्षोजविषमे, उरःक्षेत्रे यस्मिन्नासीत्सततास्रुपातदुर्दिनं सविभ्रमं भ्रमत्, नवा मृदुलकौशेयनिर्मिता रक्तवर्णा, स्वर्णसूत्राङ्कितपुष्पा कव्यां शाटी, शिरसि रसिकास्त्रं शिरोरत्नं सीमन्ते पारितथ्या, ललाटे पत्रपाश्या, गले ललन्तिका, करभे पारिहार्यः, सौवर्णं केयूरद्वयं मुक्ताजटिताः षट् मणिबन्धे वलय[3]बन्धाः, वैदूर्यखचितोर्मिका, पद्मरागचन्द्रकान्तमणि-

---

१ संन्यासो नाम रोगः। २ कर्णश्रृङ्गः=कर्णशिखरं यत्र स्त्रियः स्वर्णवलयका दधति।
३ भाषायां—"बन्द वंगड़ी"।

जटिता सप्तकी, नखेषु मुखरमञ्जीरः, स्वर्णकिङ्किणीशतालङ्कृतं गुल्फालङ्करणम्; शाव्य-घश्वाश्लिष्टजघनदण्डं चण्डातकं[1] करे वासितपटश्चैतेऽधिकां छविमेधयन्तेऽस्याः।

परमप्रेमपरा, सतीशृङ्गारभूता कमला वीजयति। प्रचुरानुकम्पा चम्पा च पादौ संवाहयति। एकस्यां शुभासन्द्यामुपविष्टया व्यजने व्याप्रियमाणया कमलया भवत्यालापश्चन्द्रस्य च।

कमला०—देव, तदपि कथनीयम्।

चन्द्रः—अये, किमिव कथयामि, महानसौवृत्तान्तः, शोकाकरश्च।

कमला०—आश्वेव जिज्ञासे श्रीमन्, यावन्न श्रोष्यामि तावच्छान्तिं नैष्यामि। चम्पापि भृशमुत्का—

चन्द्र०—श्रूयतां यदि कुतूहलम्, प्रवालपर्वतहर्म्याद् भवत्या वियुक्तोऽहं...

कमला०—(मध्य एव) नाथ! को नामायं प्रवालपर्वतः!

चन्द्र०—मुग्धे! जलजन्तवः प्रवालकीटाः स्वावासाय जालमयं गृहं विरचयन्ति, तदेव वर्द्धमानं कालान्तरेण पर्वतरूपतामुपैति, तत्रैव हर्म्यं निर्मितमासीत्। प्रवाल-पर्वतान्तःपातित्वेनैव तत्रत्यं जलं मधुरं निर्मलं तत्सान्निध्यादेव तरङ्गाणां स्तैमित्यञ्चासीत्, परन्तु प्रशंसकेन प्रभावो द्योतित आसीत्। अस्तु, भवत्या दत्ताज्ञः शीघ्रं निकटवर्तिनो नगराद्दशमूलीयौषधीः बलातैलं गव्यमाज्यं यवानीमोदकान् पूगपाकञ्चानेतुकामः प्राचलम्, परन्तु मम नौर्भग्ना। विभिन्नफलकेषु जीवनरक्षाव्याप्टतानां तत्प्रयोजको हेतुश्च विधिरेवासीत्। पयोधिपयःशैत्यशीतले कमलामलकणाचितनभस्वत्क्रियमाणव्यजने कोमलसदूर्वीमृदुले सिकतिले व्यपगतमूर्च्छोऽपि नितान्तं शिथिलः शीतवातवीजितस्तन्द्रा-पूर्विकां निद्रामलभे। परं तवोपालम्भप्रचुरैर्दुःस्वप्नैरपेतनिद्रस्त्वां हर्षञ्चाधिकृत्य व्यलपम्। हन्त, प्रचण्डचण्डकरकरनिकरैर्मरौ मालती पादमारं मारयिष्यते। हंहो, वेधः! एतदेव विघटयितुं त्वयैतदाचरितम्? विदूरवासिन्यामज्ञातायां प्रेम... मृत्युमुखेष्वात्मानं निपात्य यामानीतवान् हन्त, सैव वामामचर्चिका असहाया विपत्स्यते। मामपेक्षमाणा तर्जन्या हर्षं वहन्ती उत्सङ्गेन च वारिजं बहिर्गतागतं कुर्वती मामनागच्छन्तं वीक्ष्य वियोगविधुरा नूनं वार्धौ पतिता कस्यापि तिमेः कवलीभूता।

झञ्झावात! प्रपातय! समुद्रबन्धो! आत्मसात्कुरु मकराः कराभ्यां गृह्णीत।

---

१ "लहंगा" भाषायाम्।

मित्र ! प्रवात ! श्रूयते त्वं ग्रामानपि प्रचलन् सुसंवहसि, वनान्यपि समूलान्येव नयसि ! तदा [1]प्रवात ? अहमेव बहुभारः ?—(हसित्वा) पश्यत कीदृशी निष्ठुरा अस्याः करुणापि नोदेति...

कमला०—आम् आम् करुणाकूपार ! भवतामिव करुणा जनेषु कस्यापि मा नाम भूत्। धन्याः ! स्त्रियमपि न सस्मरुः । हन्त ! कारुण्यम् ?

चन्द्र०—अस्तु पुनरहमेवं व्यलापिषम् ।

सुखिनोर्वत ! केलिकामयोः परतन्वोरपि साम्यमीयुषोः ।
हरता महमावयोर्विधे ! निहताः हन्त ! वयं नु दुःखिनः ॥१॥

हे विधे ! केलिकामयोः क्रीडाभिलाषयोरत एव सुखिनोः तन्वोर्भेदेऽपि अभिन्न-जीवयोरावयोर्महम् = उत्सवं हरता नाशयता दुःखिनो वयं निहताः ॥१॥

रतिहास्यपदानि चिन्तयन् गमने विभ्रमचेष्टितानि च ।
विजितेन्दुमुखे कथं प्रिये ? कमले ! कश्चन हा ! जिजीविषेत् ॥२॥

विजित इन्दु येन तादृशं मुखं यस्याः सा—तत्सम्बुद्धौ प्रिये कमले रतौ ते हास्य-पदानि, गमने विभ्रमेण चेष्टितानि च चिन्तयन् कश्चन् कथं जिजीविषेत् ॥२॥

जघनेऽयि ! निधाय मच्छिरो रचयन्त्या रचनां कचे क्वचित्
मुखवासन एति शस्त्रतां कुसुमेषोरधुना स्म किं ! प्रिये ॥३॥

अयि प्रिये ! मच्छिरः स्वजघने निधाय क्वचित्=स्थाने समये वने उपवने वा कच रचनां रचयन्त्या भवत्या मुखवासनः कुसुमेषोः शस्त्रतामेति स्म । अधुना किम्, त्वयि मृतायां वार्त्ता एवावशिष्टा इति भावः ॥३॥

तपनीयललाटपट्टके ललितं वर्त्तुलबिन्दु ते सखि !
स्मरतोऽपि कुजीवनं प्रिये ! व्रजति स्मृत्यवशेषतां नहि ॥४॥

प्रिये ! ते=तव तपनीयं=स्वर्णं तद्वद्भास्वरे ललाटपट्टके ललितं वर्तुलबिन्दु हिङ्गुलस्य योगेन रचितं वर्त्तुलबिन्दुं स्त्रियो दधति । तत्स्मरतोऽपि ममैतत्कुजीवनं स्मृत्यवशेषतां = मृतिं न व्रजति ॥४॥

---

१ प्रवात = सामुद्रिक बवंण्डर (साईक्लोन)

प्रथिताभकपोलतल्लजात् ललितात् पक्वरसालवद् वरात् ।
व्यथते हृदयं ममाधुना हसितात् कन्दुकवत्समुज्ज्वलात् ॥५॥

प्रथिता = जगत्प्रसिद्धा आभा यस्य तस्मात् कपोलतल्लजात्=श्रेष्ठाद् गण्डयुगलात्, पक्वरसालेन = रसालफलेन तुल्यात् वरात्, हसिते=हासावसरे कन्दुकवत् समुज्ज्वलात्= समुन्नतात् कन्दुकवद्भासमानात् कपोलादधुना मम हृदयं व्यथते ॥५॥

कुसुमाचितहेमपट्टिकाललिताँस्तन्वि ! विचुम्ब्य तेऽलकान् ।
त्वदवाप्तसुगन्धसत्क्रियः सदयं शाययतीव मारुतः ॥६॥

कुसुमैः=पुष्पत्वेन न्यस्तैः, हीरकशकलैः आचिता = खचिता हेमपट्टिका=शिरो-भूषणभेदः, तेन ललितानलकान् विचुम्ब्य, त्वत्तोऽवाप्ता सुगन्धसत्क्रिया येन त्वत्केश-परिमलप्राप्त्या प्रसन्न इति भावः । मारुतः = वायुः, सम्प्रति मां = सत्कारकारिण्या-स्तव पतिं सदयं = तव ऋणित्वेन शाययतीव ॥६॥

विकचानन आकुलाङ्गनो रजनीनाथ उदेष्यति प्रिये !
हततुल्यगुणो महात्मनां सुखदो हन्त ! हता महात्मता ॥७॥

प्रिये ! अद्य रजनीनाथश्चन्द्रः, विकचं प्रफुल्लमाननं यस्य अत एव आकुला अङ्गना येन कामोद्दीपकत्वात् तथाभूत उदेष्यति । यतो हतस्तुल्यगुणः समानगुणो यत्रैवंम्भूतः । महात्मनां — महाशयानां सुखदः = हर्षप्रदः अद्यतना महाशयाः स्वसमाने नष्टे प्रसीदन्ति । हन्त ! खेदे, महात्मता पुरातनी महात्मपद्धतिर्हता = नष्टा । "सर्वे भद्राणि पश्यन्तु" इति—तेषां विचारोऽपि विदलितः ।

तव लोचनमित्रमम्बुजं समदुःखप्रमदं विकल्पये ।
द्युतिमन्तमुदीक्ष्य यद् विधुं समकोचीत् तव मृत्युशङ्कया ॥८॥

अहं अम्बुजं, तव लोचनमित्रं अतएव तव दुःखेन प्रमदेन च समौ = तुल्यौ दुःखं प्रमदो = हर्षश्च यस्य तथाभूतं विकल्पये = विचारयामि । यत्कमलं विधुं द्युतिमन्तं वीक्ष्य मृत्युमनुमाय, कमलायां सत्यान्तु कदाप्येवं प्रफुल्लाननो नोदगात्, यदद्योदेति, तन्मन्ये मृता कमलेति विचार्य, समकोचीत् = सङ्कुचितवान् ॥८॥

११

अधरे मधुरानने ! प्रिये सुरतामोदनवेऽधुना स्मृतम् !
न्यसनं तव कोमलाङ्गुलेर्विरतं मां विदधाति जीवनात् ॥६॥

अयि मधुरानने ! सुरतस्य य आमोदः मनोहारी परिमलस्तेन नवे ! सुरतोत्सवेषु अधरे कोमलाङ्गुलेर्न्यसनं = स्थापनं मां जीवनाद्विरतं विदधाति ॥९॥

समितो नहि विस्मृतेः सृतिं सुभगौ बिल्वसमौ कुचौ तव !
अयि मञ्जुलदेहवल्लरीसुषमान्यक्कृतकामकामिनि ! ॥१०॥

अयि ! मञ्जुलदेहवल्लर्याः सुषमया = परमया शोभया न्यक्कृता = दूरीकृता कामकामिनी = रतिर्यया सा तथाभूते ! ते सुभगौ बिल्वसमौ, कठिनौ वर्त्तुलत्वेन शालिनौ च कुचौ विस्मृतेः सृतिं = विस्मृतिमार्गं न समितः = न गच्छतः ।

कमला—(मन्दं हसन्ती, अपाङ्गेन चन्द्रं पश्यन्ती निःश्वसिति ।)

चन्द्रः०—(हसन्) किमर्थं मुधैव कृत्रिमनिःश्वासविधौ व्याप्रियसे ।

कमला—नहि देव ! अहं भवतो जीवन एव नौकाघट्टनात् शङ्किताऽऽसम्, परन्तु भवन्तो वृत्तास्वादमनाशयन्तोऽविच्छेदेन प्रकृतमनुसरन्तु । आं ततः ?

चन्द्र०—ततोऽहं पुनरपि "दैव ! किमनार्यं कृतवानसि, असिताक्ष ! विपन्नां मातरं दृष्ट्वाऽपेतहर्षो हर्षोऽपि नूनं कथावशेषतां यास्यति । हा ! नवजातः शिशुर्द्रुमे विदलिते लतेव पृथिवीतले प्रसरिष्यति । मामदृष्ट्वा रुदन्तं बालं हर्षं कमला सान्त्वयिष्यति "पुत्र ! हर्ष ! नवीननवीनानि वासांसि, स्वर्णसूत्रस्यूतं छत्रम्, आसक्तमुक्तामुष्णीषिकां, पटत्कारान्, फुल्लझरीः ज्योतिश्शलाका आनेष्यति मा रुदिहि रे हर्ष ! मा रुदिहि" परन्तु हन्त ! कियत्कालं सान्त्वयिष्यति, अन्ततः... । "हा ! हन्त ! प्रिये ! भग्नास्ते मनोरथाः" इति विपुलं विलप्य चेतनामजहाम् । सर्वां विभावरीञ्च प्रकृष्टाश्लिष्टमूर्च्छाय एव व्यत्यायम् । प्रातः प्रबुद्धो विलपन् जीवनं जिहासुरात्मानमुपजिहीर्षुर्ब्रह्मपुत्रं गत्वाऽऽत्मानं जलसात्कर्त्तुं सज्ज आसम्, परन्तु भव्यभावनो भगवान् यदिच्छति तदेव भवति, यतस्तस्मिन्नेव समये एयाय पिङ्गाभिर्गाम्भीर्यपूर्णाभिः कञ्चुकिभिरिव विततभिर्मण्डलाकाररचनाभिर्जटाभिर्भाभिश्रो-

द्भासितमुखमण्डलः प्रोन्नतायतललाटो भास्वरोन्नतघोणो भस्मत्रिपुण्ड्राङ्कितपरिणाहिल्लाट-मांसलवक्षःस्थलः, सव्येन दण्डमितरेण कमण्डलुं करेण कलयन्, लम्बमानरुद्राक्षमालः, कदलीदलकौपीनः, पीनश्चतुरगम्भीराकृतिः कृती, तेजसा शान्तेन पापपुञ्जानपि रञ्जयन् कृपाकुरिवाधर्मस्य दलनः, प्रभवो धर्मस्य, विहतपापपुञ्जोऽतमाः, शमदमनिर्मलमनाः, अस्पृहयालुर्दयालुर्मुनिः। स च गभीरया वाचा शब्दयन् शब्दगुणमुवाच—

पुष्कराक्ष ! नास्ति पापमात्महननतुल्यम्; यस्मै दुःखाय म्रियसे तत्तेऽचिरादेव सम्पत्स्यते सुखम्। मा स्म पातकं कार्षीः। आयाहि तपोवनं प्रविशावोऽतिवर्त्ततेऽर्चनवेला, इति। वनभूमिं विपूय ऋषिशिशुश्रमेण निर्मित आश्रमो लघीयानेवासीत्, परं घण्टाघोषेण पुष्पपरिमलेन धूपगन्धेन च मुखरित आसीत्। क्वचन निश्शङ्का हरिणा रोमन्थं वर्त्तयन्ति स्म। क्वचन धेनवो नवौधस्येन स्नपितधराः स्तनन्धयान् स्तन्यं पाययन्ति स्म। क्वचन पत्रपात्राश्छात्राः पुष्पाण्यवचिन्वन्ति स्म। असर्वभक्षिणोऽप्यक्षीणाः पक्षिणोऽभ्यास-प्राचुर्याच्छास्त्राण्यभ्यस्यन्ति स्म। कृतरक्षा वृक्षाश्च विपुलफलपरितोषितमुनयो नयोपपादिताः प्रजा इव फलं ददति स्म। पापिनामपि मनसि तपःप्रभावं जनयन्ती वनावनीयं विलक्षणा भव्यरमणीयाणीयसाप्येनसा रहिता हितासीत्। तत्राहं कञ्चित्कालमध्युष्याश्रमं सभ्रमोऽरण्या-नीष्वसंसक्तचेताः। परिपात्यमानवरवारणदृढकुम्भोत्पाटननिःसृतमुक्ताभास्वरनखमयूखाः दैवज्ञा इव ज्योतिषा भास्वन्तः, सम्प्रधावनप्रहृष्टकात्यायनीप्रदत्तधन्यवादहस्ता इव हर्ष-वर्षेण हरिणप्राणान् हरन्तो वारणमारणोपारूढगर्वा अमितपिशितादनमदभरमन्थराः, जृम्भणदरीदृश्यमानशोणितशोणरदनसदनाः, बालभास्करवर्णेन, मृगराजत्वख्यापक-ध्वजेनेव, मृदुललोमनिचिताग्रपुच्छप्रदेशेन शोभितपृष्ठप्रदेशाः वनवसतयः, केशरिणो रणायन्ते स्म। क्वचन केशरिकिशोरकाः भीरुभयङ्करं कैशोरशौर्यं रचयन्ति स्म। क्वचन करिणीकलभभूषितासितपार्श्वं, कालवज्जगदाशङ्कयत्, सायेऽह्नः स्नातुं सरो गच्छत्, शुण्डकुण्डेषु नीरमापूर्य पूरितालवालं, भज्यमानवृक्षव्रजं, स्रवन्मदं चलच्चञ्चरीकं कज्जलपर्वतमिवाञ्जनाभ्युक्षितं, बुभुक्षितं, प्रखरकरटं करटिकुलं कुल्या आकुलयति स्म। विहितबृंहिताः द्विपपोताश्च वराकहितं हिंसन्ति स्म। क्वचन[1] मरुकभल्लूक[2]वल्ककाक्रान्त-निशान्तायां निष्ठुरशूराजगरपूरपूरितायां काननभुवि, भुवि विपदां बालजलसिक्तपद्धतयः,

१ मृग। २ पक्षी।

शाणोल्लीढोग्रविषाणा घोरशोणघोणाः, घोणिनो द्रुमान् घर्षयन्ति स्म। क्वचन व्याधमुक्तशर-कौलेयकत्रासत्रस्तैः, त्यक्तार्धचर्वितरोमन्थैः, फेनिललपनैः, जडजानुभिः, जीवने हताशैरितरस्मिञ्जनुषि मेलिष्याम इत्याश्लिष्टमृगीकैः, मृगीभिः सप्रेम कण्डूयमानैः, मृगैर्विस्फार्यमाणनेत्राः सञ्जातनेत्रा इव, नरीनृत्यमानमयूराः क्वचन शृगालीलीलाललिताः, क्वचन विशालविडाललालिताः, क्वचन वन्यरासभीरवराभस्यनीरसाः, सततभक्तभेकशब्दितपल्वलाः, क्वचन शुकपिकक्रियमाणजयघोषाः, तरलभृङ्गजेगीयमानगुणैरभिनवाङ्कुरितपत्रपूरपूरितदुर्जटवटैः प्रकाण्डसरण्डमण्डितकाण्डैस्तालतमालरसालशालाश्वत्थनिम्बैर्विहितपिधानाः, अनीक्ष्यमाणतपनाः, क्वचित्करिरदनलोलुपकुणिन्दकुलाऽऽहिण्ड्यमानाः, भयङ्करदर्शनाः, शुन्ध्युनष्टभागाः, अविदिततत्त्वाः, वनभूमीर्भ्रमन्, क्वचन पर्वतं, क्वचन वृक्षमारोहन्, सिंहगजजन्यमवलोकयन्, रुदन्, हसन्, विलपन्, पतन्नुत्तिष्ठन् जीववृन्दमनेकमन्यपदार्थे वर्त्तमानं सतर्कमीक्षमाणो वञ्चितदृष्टिः, अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशो दुःखितो, दर्शं दर्शं जीवानामात्मनो वनस्य च दशां भ्रमन्नवर्त्तिषि।

लेखकललनेव [1]विचारमलिना सन्ध्या शय्यां भेजे। केशा इव तमोरश्मयस्तया विक्षेपिताः। प्रादुर्बभूव च कालाम्बरधारिणी विधवेव विभावरी। अहमेकस्या दीर्घिकाया राजहंसैर्हंसीभिर्गृह्यमाणमृणालायास्तटभवने वनेऽपि निश्शङ्कोऽशयिषि।

प्रत्यूषम्। अरुणितं वियत् पत्ररथसमुदयवातवीजितम्। सरस्सु उदम्भांसि कमलवनानि पुस्फुटुः। कौमुदी त्यक्ताभ्यासस्य विपश्चित इव तनिमानमधृत। पेचकाः शोकं, कोकाश्च शोकविमोकमापुः। प्राभातिको राग इव मनोहरन् बभौ सालसगमनः प्रभञ्जनः। तपोवनवासिनां श्रोत्रियाणां वेदध्वनिः सर्वतो व्याप।

अथाहं विचारवैपुल्यविनष्टविवेकः प्रातःकृत्यं विधाय वन्यफलानि प्राश्य, पाथेयञ्च पोट्टलिकायामाबध्य जनपदगामिनं पन्थानमाश्रितो यथाकथञ्चिद् राजदुर्गं नाम विद्वत्पुरुषकं श्रीमन्नरञ्च नगरं प्रापम्। विशालविपणौ शृङ्गाटकललाटे ऊर्ध्वपुण्ड्रायमाणं नादद्योतितसमयं घण्टागृहं जनान् बोधयति स्म।

मम दशा विशृङ्खला, वस्त्राणि नितरां मलिनानि अव्यवस्थितानि चासन्।

---

१ वीनां पक्षिणां चारेण = गमनेन।

नागरिका बालाः स्वभावचपला दुष्प्रकृतयश्च मां मूढं मन्वानाः कोलाहलेन बधिरयन्तो दृषद्भिः कण्टकमयीभिर्यष्टिकाभिश्च नितरां दुःखयामासुः। परमहं दुर्दैवदुर्वीक्षणवीक्षितः सर्वं सहमानः किमपि नावोचम्। दयाशीलानां कतीनाञ्चिन्नृणां भर्त्सनया बालेषु यातेषु तदनु प्रचलन्नेकं भवनमयासिषम्। भवनस्य प्रधानद्वारे बालमित्रायित-क्षरच्छोणितायितलोहितमलयजायितवसने भगवदम्बरायितवर्षाचञ्चलायितकाश्मीर-नीरायितकृत्तकर्णदाक्षरैः परमशोभनं—"टीकमानीवेदवेदाङ्गविद्यालय"—इत्यङ्कित-मासीन्नाम। अज्ञासिषं यत्ते पारायणिका आसन् येषामसौ निलयः। विशालमदो भवनम्। सम्मुखे विडौजसो दिशि पञ्चद्वारं सभाभवनम्। द्वौ त्रिद्वारौ तदभितः, उत्तरस्यां दक्षिणस्याञ्च द्वौ द्वौ त्रिद्वारौ, वरुणहरिति द्वारं, प्रपा, पथिकावासादयश्चासन्। मध्येविद्यालयञ्चैको हरितपत्रनिचयनिचितो निम्बः समुल्लसति स्म। अहह! कीदृङ्मनोरम आसीद् वृक्षराडसौ पिचुमन्दः। यो हि तस्मिन्नृतौ प्रकटितनवच्छदनविकासहासदृश्यमानपत्रगर्भमुखरक्तिमा, सर्वामयैकजायुः[1] सघनघनच्छायः कपोतैर्जेगीयमानानवद्यहृद्यगुणनिकुरम्बो व्यलसत्तमाम्। यस्य कुटिलकाण्डे च-ञ्चपुटाग्रेण पक्षतिं कण्डूयमानो नितरामाभाति स्म केकारवचेतनीकृतच्छात्रवृन्दः केकी। यस्याधस्ताच्चन्नमदन्तः पारस्परिकस्पर्द्धया उपर्युपरि पतन्तो विलक्षणामानन्दमादकतां प्रसारयन्ति स्म कपोतपुङ्गवाः। येषु च निपतन्तोऽवराकाः काका भस्मनिपतित-स्येङ्गालकस्य साम्यं दधति स्म। येषां निशितचञ्च्वप्रविक्षता क्षितिश्च णिनीवाभाति स्म। आमोदमुदितमनोनासिकः, परिमलप्रलीनसमामयः, विलक्षणोऽमन्दो गन्धः प्रसर्पति स्म पिचुमन्दात्। सर्वरुजां निवर्तने, विशिष्टमुदां प्रवर्त्तने चायमेव हेतुः। अत एव परिपुष्टवपुषोऽविज्ञातरोगाश्च सुखं शेरते स्म छात्रा यत्रत्याः। यस्य मूलतो मध्यदेशं यावदाश्रिता, नितान्तमृदुला, सपुष्पार्कवल्ली, लावण्यवती प्रिया वधूरिव प्रत्यङ्गमाश्लिष्टाऽपूर्वां सुषमामाह्लादञ्च जनयति स्म दर्शकस्य। या चारक्तैर्धवलैः पुष्पैः, हरितैर्दलैश्च, हरितकौशेयावृतशरीरा हीरकखण्डमण्डिता रमणीवाभाति स्म [2]अर्कवल्लरी। यया प्रेयस्या किसलयकरैः प्रदत्तधन्यवाद इव प्रफुल्लति स्म नितराम्।

---

१ औषधम्। २ विलायती आककी बेल।

ईशानकोणस्थत्रिद्वारे आलपतां महर्षिबालकल्पानां चन्दनभाग्भालानां छात्राणां परमात्मस्तवान् शुश्रूषुस्तत्रागमम्। प्रैक्षिषि च छात्रा भगवन्तमुपश्लोकयन्ति। केचनोपलचयरचितकुण्डिकाप्रतिष्ठापितस्य महामहिम्नः शिवस्य समर्हां विदधति। क्वचन ऋद्धिसिद्धियुतस्य भगवतः करिश्रोत्रस्यान्तरायनाशकाः स्तवाः पठ्यन्ते। इतरत्र काष्ठपीठ-विराजितपित्तलशुभासनस्य श्रीललनस्य पादोदकं जरीगृह्यते। अन्यत्र पार्श्वकुट्यन्तः प्रविश्य सिन्दूराङ्कितविदूरविभासिवर्णमालायाः, केशरिणो लावण्यधरायां कन्धरायां विराजमानायाः, त्रिशूलरूपाया भगवत्या जगदम्बिकायाः पादयोर्निपत्यते। सम्मुखे चास्य भवनस्य काष्ठपीठप्रतिष्ठितपुराणः, श्मश्रुनिचितमुखः प्रौढ जसराम इत्याख्य इमां भगवच्छङ्कराचार्यकृतां गीतिं गायन्नासीत्—

जय नारायण! जय पुरुषोत्तम! जय वामन! कंसारे!
उद्धर मामसुरेशविनाशिन्! पतितोऽहं संसारे ॥१॥

दीनोद्धरण! नरकरिपो! नर! केशव! कल्मषहारिन्!
मामनुकम्पय दीनमनाथं कुरु भवसागरपारम् ॥२॥

जय मुकुन्द! राधावर! सुन्दर! जय शिशुपालविनाशिन्!
जय करुणामय! जय गजरक्षक! जय वैकुण्ठनिवासिन् ॥३॥

त्वं जननी जनकः प्रभुरच्युत! त्वञ्च सुहृत् कुलमित्रम्।
त्वं शरणं शरणागतवत्सल! त्वं भवजलधिवहित्रम् ॥४॥

जय जय देव! गयासुरसूदन! जय मुरमधुहन् विष्णो!!
जय लक्ष्मीमुखकमलमधुव्रत! जय दशकन्धरजिष्णो! ॥५॥

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि गर्भनिवासम्।
सोढुं नालं पुनरपि माधव! उद्धर मां निजदासम् ॥६॥

यद्यप्यहं सकलं कलयामि किमपि हरे न हि तत्त्वम्।
तदपि न मुञ्चति मामिह माधव! पुत्रकलत्रममत्वम् ॥७॥

अपराधं मे मुरहर ! परिहर कुर्वे चरणश्रयणम् ।
संसारार्णवतरणे करुणावरुणालय ! भव शरणम् ॥८॥
जनकसुतापतिचरणपरायणशङ्करदृढपरिगीतम् ।
तारय नाथ ! परं पुरुषोत्तम ! मां भवजलधिनिपीतम् ॥९॥

तत्रत्याश्छात्रा यदा रात्रौ पठन्ति स्म, सूर्य उदेति स्म । तेषां शास्त्राभ्यासः शुद्धः सुदृढः, गुरुभक्तिः स्थिरा पूर्णा, निवसनं सरलं विनीतम्, वचनावली मधुरा ओजस्विनी, खाद्यं पानञ्च देश्यं साधारणञ्चासीत् । ईश्वरभक्तिस्तेषामीदृशी यत्ते घटैः शिवं स्नापयन्ति स्म, विविधनियमव्रतानि, पालयन्तिस्म । तेषां सद्व्यवहारोऽविनीतान्नमयतिस्म, तेषाञ्चेतो वैरविरोधेन शून्यमासीत् । ते परस्परं मात्सर्यं न कुर्वन्ति स्म । सहपाठिभिः पाठचर्यां चरितुं, प्रोच्चान् विनीतभावेन सत्कर्तुं, तैः शिक्षितपदार्थमादातुञ्च ते प्रवीणा आसन् । पारस्परिकं प्रेम तेषां जीवनकालस्य विशिष्ट आनन्द आसीत् ।

मध्याह्नसमये सद्भिश्छात्रैः सत्क्रियमाणोऽभुक्षि । पाकशाला स्वल्पीयसी धूमपूर्णा चासीत् । उद्धृतौदनाः स्थाल्य एकत्र निहिता आसन् । भोजनभाजनेषु एकैकं द्वौ द्वौ वापूपौ, सूपः, स्वल्पमोदनञ्च परिवेषितमासीत् । मह्यमप्येकं भोजनभाजनं दत्तम् । सत्यं वच्मि, यथा स्वादुत्वं तस्मिन् भोज्ये आसीत्तथा नाद्यावधि मयास्वादितम् । यतो भोजं भोजं भोज्यं घृतगन्धि, पायं पायं कौण्डं पयस्तृप्तिं नाध्यगमम् । तद्भोजनसम्पदि तव सर्वा भोजनरचना व्यर्थतामुपयन्ति ।

सायमभूत् । अहमुत्थाय दक्षिणदिशि अध्यापनभवने तूलिकोपविष्टान्, महोपबर्होप-बृंहितपृष्ठदेशान्, मुखरमुखान्, पवित्रधर्मकायान्, परिहृतलौकिकमायान्, अधर्मसायान्, स्वरूपक्षरसन्तुष्टीन् मलयजचर्चितप्रलम्बभास्वरमस्तकान्, विमलवसनविभूषितवपुषः, पुषः समस्तशास्त्रयाथातथ्यस्य, सर्वतन्त्रधीरधिषणान्, प्रसारितैकचरणान्, शान्तान्, दान्तान्, व्याकरण-सहकारफक्किकामञ्जरीमधुलिहः प्रकाण्डकर्मकाण्डसरोराजिराजहंसावतंसान्, अनाचारप्रचारधुरीणतृणधनञ्जयान्, धर्मध्वंसककरीषाशुशुक्षणीन्, जनार्त्तिकरविपज्जलद-घटापहरणमातरिश्वनः, सेवकजनवैभातिकवायून्, कासद्यशःकुमुदबान्धवान्, सहृदयश्रवण-पुटकपेपीयमानजेगीयमानानवद्यगुणगणान्, इन्द्रानिव बुधवरपूज्यमानपादपद्मान्, परमेष्ठिन

इव हृन्मध्यसावित्रीकान् , विष्णूनिव द्विजेन्द्राश्रयान्, शिवानिव लग्नविभूतीन्, भवभूतीन्, कालिदासान्, त्रिविक्रमान्, रामानिव शास्त्रार्थमवनिमुपागतान्, कृष्णानिवार्जुनसम्पृक्तान्, नारदान्, श्रीमन्नृपतिमुकुटायितवीरवलविपुलोरस्कांसलततरलोकश्रीगङ्गासिंहशासितबीकानेरराज्यान्तर्गतदृढप्राकारवेष्टितभास्वद्राजदुर्गराजदुर्गस्य, शिवाधिष्ठितेशानकोणविराजमानच्छात्रपूरपूरितान्तःकरणसद्धर्मनिधानधरणदंध्वस्यमानधर्मशरणप्रतिष्ठितचरणाधार्मिकमरणशास्त्रवर्मच्छात्रवारणसन्निलयटीकमानीवेदवेदाङ्गविद्यालयप्रधानाध्यापकानपश्यम् ।

त्रयः पारायणिकाः पुस्तिका उद्घाट्य स्थिता आसन् । मां तथा स्थितं वीक्ष्य तेषामेकतममाहाचार्यः—"ननु रामचन्द्र ! पृच्छ, कोऽयम् , कुतः समायातः, किमिच्छति ? आकृत्योच्चजातिरिव प्रतीयते" ।

दृढोरुवक्षाः, प्रभाविललाटचन्दनो, व्यायततनुः श्वेतवासाः, निःसरच्छ्मश्रुः, सतत, शास्त्राध्ययनाविलया वाण्या सप्रश्रयमाह सः—"पान्थ" ! कुतः समागमनं, का च जातिः" अहञ्च"विदूरादागमनं क्षत्रियोऽस्मि" इत्युदतरम् ।

स च तदेव वाक्यं विपश्चितामपश्चिमानां पुरः प्रापयत् । अहमपि विमूढ इवेतस्ततः पादौ विक्षिपन् तेषामन्तिकमुपगम्य प्रणम्योपविश्यागादिषम् , 'भगवन् ! कामपि हृदयान्तर्वर्त्तिनीं वार्त्तां चिकीर्षामि, यदि...

अथ ते मामजानन्तोऽपि स्वसौजन्यं प्रकटयन्त आवश्यकं कार्यं विहाय ग्रन्थपरिश्रमश्रान्तमपि ससत्त्वं गौरं तेषामेकतमं कथयामासुः—

"सोहंलाल ! व्रजत यूयं श्वः प्रातरेवागन्तास्थ"

अथ उन्मनस्के तस्मिन् रामचन्द्रेण, अपरेण चाज्ञाताभिख्येन सहपाठिना, पाठनभवनान्निःसृते स्निग्धया वाचा पीयूषमिव वर्षन्तः शुष्यन्तीं मद्धृदयहृदभूमिं वचनमेघजलैरापूरयन्तो मां जगदुः 'किम्भवानाह'

"भगवन् ! दुःखस्य परां काष्ठामनुभवामि" ।

"एवम् ? हस्तं दर्शय"

अहं तेषां पुरतो हस्तं प्रसार्य सूक्ष्मेक्षिकयाऽवालुलोकं यत्ते क्षणं विचार्य हृष्टा इव ।

पण्डिताः—क्षत्रियोत्तम ! इमां कां दशामनुभवसि । शास्त्राण्यथवाऽयथार्थानि !

अहम्०—कथं देव !

पण्डिताः—भवद्धस्तरेखासु त्रिलोकीराज्यसुखं पश्यामः। (क्षणं विरम्य) परमल्पीयसी बाधा, अर्द्धस्य सत्तां तु न निवारयति कोऽपि। तथ्यं वाच्यं कैषा व्यवहृतिः।

अहम्०—उदरपूर्त्यै अलब्धान्नानां नः क्व धरणीरमणीभ्रूभङ्गभूषि शरीरम्!

पण्डिताः—किमिव कथयामः।

अहम्०—देव! अहमपि अस्माद् दिनार्णवान्निःसरिष्यामि, ममाप्युद्धारो भविष्यति कदापि?

पण्डिताः—उद्धारः, (घटीयन्त्रं पुस्तकञ्चावलोक्य गणयित्वा) आमुद्धतिस्तु भगवती-प्रसादात् शीघ्रमेव, परमेष्वेव दिनेषु दुःखमपि लप्स्यते।

अहं०—देव! दैवेन दीयमानं सर्वं सहिष्ये।

सायं सम एव छात्रा प्रचुरश्रमपर्यध्ययनाः श्रममपनेतुं, शौचं निर्वर्त्तयितुञ्च गच्छन्ति स्म। अहमपि पण्डितवरान् शिरसा सादरं प्रणम्य सतीर्थ्यैः सहागमम्।

छात्रेषु बहुष्वपि त एव मुख्या आसन्, ये पण्डितानामन्तिके दृष्टाः। एते सुधामव-धीरयन्त्या वृन्दारकगिरा वनमपि नगरयन्तः, हास्येन, क्रीडया दिनश्रममपनयन्तो विचेरुः। व्यचारयं विलक्षणबुद्धयो विद्यार्थिनः।

शौचं निर्वर्त्य परावृत्तास्तेऽहमपि। विद्यालये उत्तरतः, उपभित्ति स्वल्पजला कूप्यासीत्। अमृतमधुरजलञ्च पल्वलम्—कुण्डम्। उपकूपि पुष्पविटपाः सुगन्धं विकिरन्ति स्म। सान्ध्ये विधौ व्यापृता अन्तेवासिनः। विद्यालयपूर्वदिशि मल्लालय आसीत्। वैश्वानरे पयःपूर्णानि पात्राणि सन्तानिकया राजन्ते स्म। तैलस्निग्धाश्छात्राः दण्डे यष्टिकायाञ्च लग्नाः। व्यायामो जीवनं प्राणिमात्रस्येति छात्रा व्यायच्छन्ते स्म।

पूर्वरात्रः। प्रथमतस्तु अमावस्यानिशा, द्वितीयतश्च मेघानां महासम्मेलनम्। प्रतमसम्। यथा विदूरयात्रिका मेघाः सङ्घीभूय कज्जलायन्ते।

अहं धूमशकटीपथिकावासे[1] भ्रमन्नासम्। स्थानं रमणीयं विरलजनमेवासीत्। शनैश्शनैर्यातार आगच्छन्ति स्म। प्रकाशस्तम्भेषु लग्नाः प्रदीपा उडुभिः सहयोगं विधाय तमसा युध्यन्ते स्म। घण्टाघोषोऽभूत्। इतो जनसमुद्रः प्रवर्द्धितः। एका

१ मुसाफिरखाना।

उद्गमविधमा प्रासरत्। क्षणेन धक-धकायितधरणी, पथिकशोकहरणी, दिक्करिणीव अभीष्टदेशप्रापणतटी शकटी समेता। अहं प्रथमश्रेण्या आवासेऽविशम्।

शतश उपनेत्रधारिण्यो रमण्यो वातायनेभ्यः प्रेक्षन्ते स्म। दैवाद्विद्यालये मया वस्त्राणि प्रक्षालितान्यासन् यतः कोऽपि पृच्छको मां चिटिकायै नाखेदयत्।

*　　　　*　　　　*

कान्तारम्। वहुशोऽवलोकिता सान्द्रा द्रुमावली। दूरत एव द्रुमदलमध्यतो दृश्यमानं रक्तध्वजं लक्ष्यं कृत्वाहमचलम्। गव्यूत्यन्तरे परमरमणीयं मन्दिरं प्रोच्चभूमौ शिलाशकलानि सौन्दर्येण न्यस्य विरचितमासीत्। अग्रे च प्रस्तरमयं कुट्टिमं यत्र सहस्रशो मनुष्याः स्थातुं शक्नुवन्ति, नवीनमिव प्रतीयते स्म। श्वेतमसृणपाषाणसम्पादिता द्वारशाखा, शिल्पिसम्पादितं कपाटयुगलमासीत्। मन्दिरमनावृतमेवासीत्, अहमन्तरविशम्। सुन्दरं विशालमजिरम्, भव्यानि भवनानि, चेतोविकर्षि च सभाभवनमासीत्। मन्दिरं भगवत्याः शाकम्भर्या आसीत्। पवित्रमूर्त्तिः पूजकश्च स्वकीयमनुष्ठेयं निर्वर्त्योपविष्ट आसीत्। परमातिथेयः स मदीयं वनोचितं सत्कारं विधाय मद्वृत्तमपृच्छत्। अहमपि सर्वं विशुद्धभावेन न्यवेदयम्। जगदम्बिकाचरणशरणो मद्दुःखहरणे सकरुणः स मह्यं मन्त्रमेकमुपादिशत्। सप्ताहं यावत्पूजकाज्ञया कृतार्चनजपध्यानोऽस्वार्थबन्धुं पूजकं प्रणम्य, लब्धाशीः, मातृमाल्यविभूषितकण्ठः प्रसन्नमनाः प्रातरेवैकं पन्थानमाश्रितोऽचलम्।

सायङ्कालः, प्रभाविभासी भास्करो विरहितां पश्चिमाशामालिङ्ग्यारुणिम्नाऽऽचक्रमे।

विदूरतः संसरणसम्मुखमेव करिकुम्भाघातसहाभ्यां जटिततीक्ष्णायसशूलाभ्यामायसाभ्यामावृताभ्यां कपाटाभ्यामुत्पाटितरिपुसाहसं, हसन्तमिव वीरगणं वीर्येण, प्राणापहारकं, नीलशिलं तोपकोपसङ्कोचकं गोपुरमपश्यम्।

वहिर्विस्तृते चतुष्कोणे क्षेत्रे नग्ननिस्त्रिंशानां रक्षकानां चन्द्रहासचमत्कारैरायसान्यप्यररराणि राजतानीव राजन्ते स्म। पन्थानमभितः शीतलच्छाया सान्द्रा द्रुमश्रेणिः। प्रतिद्रुमं मारकतप्रभया दूर्वया लालितानीव ललितालवालानि व्यद्योतिषत।

"रक्षकाः" मया पृष्टं 'कयाऽऽख्ययालङ्क्रियतेऽदो नगरम्! कस्य च वंशस्यावतंसो भूपः! कानि चाक्षराणि यमाप्य धन्यानि भवन्ति!

ते मामहमहमिकया व्याजह्रुः—"पान्थ ! चित्रपुरनाम्नोऽमुष्य नगरस्याधिपतिः द्युमणिवंश्यः श्रीमान् कल्याणसिंहः, वैशिष्ट्यं प्रवेशाज्ज्ञास्यते"—इति

रात्रिर्मुखं व्यादाय वियद्विपिने वेगेन धावन्ती समापतत। अहं नगराद् बहिः किन्तु द्वारस्यान्तरेकस्मिन्भग्नभवने शयनमुपाकल्पयम्।

अकस्मादेकस्या अट्टालिकायाः, गीतध्वनिमश्रौषम्। कापि वियोगिनी विमुक्तवाद्यं गायति स्म।

प्रियवर ! पातं नेत्रयोः
मम चेतोऽतिव्यथते (स्थायी)
अरे वधिक ! अयि निष्कृप ! मम वृद्धार्यकिशोर !
मच्चित्तं बलतो हरन् वै कुत्र गतोऽसि रे चौर ! (१)
मोहकमन्त्रवशीकृता प्रिय ! भवदीक्षणतः
विवशास्मि गतचेतना बद्धा प्रेम्णि पवित्र ! (२)
किङ्कुर्यामहमातुरा न प्रियमेलनमास
विरहाग्निस्तुदते तनुं निधनं यामि विभास ! (३)

विलक्षणं कारुण्यमासीदस्यां क्रन्दनगीतौ यतो मदीयं पाषाणमयं हृदयं दुःखाघात-सव्रणं शतधा भवितुमचेष्टिष्ट। चक्षुरश्रुस्रोतः सारयामास, वपुरवेपत सत्यम्! दुःख्येव दुःखिनो दुःखमनुमातुं शक्नोति।

धनिप्रासादचित्रशालाभिः सचित्रमासीच्चित्रपुरम्। वैयाकरणकाव्ये रसानुभूतिरिव क्वचन क्वचन प्रेक्ष्यते स्म जनावस्थितिः। भोजनप्रिये विप्र मनस्वितेव नेक्ष्यते स्माऽऽह्लादः। सुभिक्षे वणिगिव दुर्दृश्यदशमासीन्नगरम्। सरस्सु न मनोमोहिनी मञ्जुशोभाऽनधीयानेषु छात्रेष्विव। सुखं सुषमया सह सुरपुरमिव यातं प्रतीयते स्म दीव्यतां चरित्रमिव। रसिकानां सततावासचराः कुञ्जाः कपोतानां गुङ्कृतिगुञ्जिता आसन्। स्रोतांसि, येषु नभोबिम्बं दृश्यते स्म, मलिनान्यासन्। मधुमधुरारावाणां कलहंसानां वारिषु क्रीडा सव्रीडेवासीत्, न चासीदास्वादितमकरन्दानां पुंस्कोकिलानां रसालकलः, प्रायशः पन्थानः शष्पावृता न स्पष्टमीक्ष्यन्ते स्म। क्रीडागृहाणि यत्र पुरुषा अहमहमिकया आमोदविनोद-

प्रमोदिनः प्रतियुवकं योद्धुं युध्यमानांश्च द्रष्टुं समवयन्ति स्म नामपट्टिकया लक्ष्यन्ते स्म। गोपालिकानां प्रसन्नहृदयोद्गाररूपा गीतयो वीता आसन्।

पूर्वरात्रमतिवाह्य मध्यरात्र आयन्नासीत्। तीक्ष्णरयो वायुरशरायत। आश्लिष्टनीशाराः स सुखं सुप्ताः। पथिकानां किमु प्रहरिणामपि यातायातोऽवरुद्ध आसीत्। संसरणदीपाः मूकमुनय इव दण्डिता नरा इव च निश्चला आसन्। एका स्वप्नभग्ननिद्रा मुग्धा विधवा विदूरे व्यलपत्, परन्तु शान्तनिशायां निकटमिव प्रतीयते स्म।

निशे! हे आलि! नाथः क्वास्ते मे [1]

सुप्तासं सुखनिद्रया,

निद्रां स्वप्न! जहर्थ (स्थायी)

रे! स्वप्नाधम! वञ्चक! प्राणांस्ते वियुनज्मि।

स्वप्नारे! दुष्टासत्यं कथं दृष्टः ॥१॥

मन्दस्मितसुधया हरन्, मत्प्रासादसुधाम्।

[2] विहुतवर! नाकं यातोऽसि ॥२॥

स्पर्शेनाङ्गं विपुलयन्, यन्नवधीरितहंस!

हताशां मुक्त्वा यातोऽसि ॥३॥

मुकुरे वीक्ष्य मुखं मयाऽभूषि शरीरं हन्त!

वदनजितनीरज! यातोऽसि ॥४॥

भृशदुःखाहं चन्द्रिके! मयि दुःखं माऽऽधेहि

हितायासनीयं भगिनि! ॥५॥

नासि तमिस्रा यामिनि! रुचिरादा न श्रुतासि।

दयितवरमयि! दयिते देहि ॥६॥

---

१ राजस्थानी गीत "कुंजाए रानी पिया मिलादे··· ऐ।"

२ शहीद।

जलमग्ना अभवन्मम आशा ग्राफस्फीव [1]

मृत्यो ! चरणौ ते शरणम् ॥७॥

एतस्या ध्वनिवीचिः करुणामयी हृदयस्पर्शिनी चासीद् यत् पर्वता द्रवन्ते स्म, सिन्धवः सन्धुक्षन्ति स्म। ममापि संसारोद्विग्नस्य विरक्तस्य हृदयचत्वरे दुःखस्य दृश्यं चचार।

नगरं कदापि ज्ञानविज्ञानेन कलया विख्यातं भूतं भवेद्, परमद्य दुरवस्थम्। मन्दिराणि, विद्यालयाः, पुस्तकालयाः, प्रदर्शनालयाः, स्मृतिभवनानि च दृष्टिपथमागत्यापि न विभाव्यन्ते स्म। अफुल्लितमनसां मनुष्याणां मुखकमले शोककालिम्नः कला केलिं कलयति स्म।

रूक्षदर्शनास्खट्टालिकास्वजस्रबाष्पप्रवाहखिन्नक्लिन्नवक्षसः श्यामलवसना, अनलङ्करणाः, व्रताचरणकृशा, दग्धं मनसिजमपि जीवयन्त्यो विधवा विविधवियोगवृत्तेन जगदेव द्रावयन्ति स्म। संसरणेषु सङ्करसंहतिः, शून्यगृहपिशाचोत्पातश्रुतिः नगरस्य स्पष्टां दशामुद्घोषयन्ति स्म।

पारावतपुरीषभ्रष्टीकृतप्रान्तेषु निशान्तेषु दीर्घसूत्रनिबद्धानिन्यवलम्बन्ते स्म कन्दुकानि। शून्यापणेषु रासभा रासं रचयन्ति स्म। व्यावहारिका मक्षिकाभिर्युद्ध्यन्ते स्म। उलूकेषु गायत्सु, गुङ्कारमुखेषु रसिकेषु कपोतेषु तालनिपुणेषु, शिवाः धन्य-वादान्, श्येना उपहारान् वितरन्ति स्म। महान् महाकालोत्सवः, कथं व्यपेतासु इव प्रतीयते पुरमिति चिन्तयति मयि समश्रूयत प्रचुरकरुणं समधिकवेदनं हा ! पुत्र ! इति प्रचुरं रोदनम्।

दुःखी सर्वं विष्टपमेव दुःखि पश्यति। नष्टपुत्रकलत्रोऽहमपि स्वजीवनेन परेषामा-भीलमपजिहीर्षुरभिक्रन्दनं झटिति प्राटिषम्। परन्तु पथ्येव एकस्मात्पार्श्वगृहान्निर्गत एष विधवागीतध्वनिर्मां व्यलम्बयत्।

हा ! गतः क्वासौ प्रियो मे कृष्णकेशैः शोभितः (स्थायी)

यं विना सततं भजन्ती दुःखपूरं दुःखिता।

मामनाथां हा ! विहाय, सोऽव्रजद् भृशमर्थितः ॥१॥

---

१ एक विशालजलयान जो १९३९–४५ युद्धमें डूब गया था।

चन्द्रभासिललाटपट्टः, शुभ्रवारिजलोचनः ।
रम्यतैलसुगन्धिमूर्धा हन्त ! दव ! समापितः ॥२॥
मच्छिरः स्वाङ्के निधाय लालयन्तं सत्पतिम् ।
हा ! लभे काहं हताशा हन्त ! वत ! हा ! हा ! हतः ॥३॥
श्वेतपक्ष्मशिरोरुहा श्वश्रूर्मदीया त्वद्गतिम् ।
याता भवन्तं द्रष्टुकामा नाथ ! नाथय वागितः ॥४॥
तानि पूर्वदिनानि चित्ते, हा । विचार्य करोमि किम् ।
श्रीनिवाससुशान्तरूपं, संनमामीशं सतः ॥५॥

करुणया कण्टकितचेता अस्याक्रन्दं गच्छन्नेकं भव्यभावनं सज्जनमन इव विशालं स्वच्छञ्च गृहमपश्यम्। नूतना रसालपर्णस्रजोऽशुष्कानि सिन्दूरकुङ्कुमस्वस्तिक-चिह्नानि अर्द्धमूर्च्छिताः कदलीस्तम्भाः पूर्णा जलकुम्भास्तस्याभिनवां वास्तुप्रतिष्ठामसूचयन्। शतशः क्लिन्नचक्षुषो धैर्यधरा नरा विनता वनिताश्च गतागतेन देहलीमघर्षयन्। अस्मिन्नेव ग्रावद्रावं जनाः क्रन्दन्ति स्म ।

अथाहं विपुलविचारो विप्रप्रासादान्निर्यतः कस्माच्चिन्नुरज्ञासिषं यदिदं जनपदगुरो-र्वेदविदुषः कर्मशौण्डस्य विप्रस्य भवनम्। अस्य चैक एव पुत्रो युवा। एष एकदा लोकमञ्चे सर्वहितैषिसभायां स्वातन्त्र्यमुपदिदेश। अतोऽयं शङ्कितमनसा जनपदाध्यक्षेण निगडितुमाज्ञप्तोऽवश्यं मृत्युदण्डाय कल्पयिष्यते। निर्दोषोऽयम्। नवीनं हर्म्यमनेन निरमायि। वृद्धो वलीपलितो धवलमूर्धा चञ्चलग्रीवोऽरदनवदनो यष्टिधृताङ्गयष्टिर्भग-वत्सहायोऽस्य पिता। अपनेत्रा विलुप्तश्रवणशक्तिर्जरती जननी। सम्यगजात-यौवनवनविकासा हन्त ! हताशा नवोढा कुलीना सुन्दरी चास्याप्रजा धर्मपत्नी, सर्वेषा-मेषामाश्रय एष वेदविद्याविचक्षणोऽद्य विपत्स्यते विप्रयुवक इति दुःखितानां वाङ्-मात्रेण सहानुभूतिं प्रकटयति नागरिको जनः। किं न पश्यसि ! एताः सर्वा विपुलवैभवा अट्टालिका मलिनाम्बराभिर्विधवाभिरेवाध्यास्यन्ते। सहस्रशो युवानः स्वतन्त्रतासंग्रामे दृप्तकुनेत्रवीक्षिताः पाशेन यमावासं प्रेषिता इति ।

राजपथ एव विप्रप्रासादः पार्श्वे चासीत् सर्वहितषिसभाकार्यालयः। अहं तत्र

प्रविश्य जवनिकाच्छन्नद्वारस्य गृहस्याग्र कृष्णकाष्ठपट्टे 'प्रधानमन्त्री, इति पठित्वा "अन्तरागन्तुं शक्नोमि महाशय" इति पृष्ट्वा तेन 'आम् स्वैरम्' इति प्रत्युत्तरितः प्रविश्याद्राक्षं यदेको वृद्धः समाप्तसप्तमीक एकस्मिन् भग्नमलिने पीठे उपविष्टोऽस्ति। भित्तौ च लोकनेतणां त्रुटितभुग्नानि चित्राणि।

अहञ्च प्रणम्य भूतले उपविष्टः "भगवन्, कथं केयं दशा नगरस्यास्य"—"अप्यस्ति कश्चन शासकोऽस्य नगरस्य?" इत्यप्राक्षम्।

"अस्य नगरस्य शासको द्युमणिवंश्यः कल्याणसिंहो नाम प्रख्यातपौरुषो वीरेषु, शासनव्यवस्था चाद्यतनेषु दिनेषु नगरस्य प्रक्षीणा"—मन्दं स उदतरत्।

"यो नाम्नैव केवलं कल्याणसिंहः पालकम्मन्यः सूर्यवंश्यः सन्नपि दुरवस्थस्य राज्यस्य रक्षायै असमर्थो मुधैव क्षत्रिय उच्यते। तस्मिन् जीवति जाग्रति वैदेशिको राष्ट्रं विपदयति, तस्य कीर्त्तिं कलङ्कयति, क्षत्रियत्वं व्यपाकरोति, धिग् जीवनम्! धिक् चास्य "प्रजाहितव्रतिनो वयम्" इत्युद्घोषः। यथा हरिणप्राणहारी हरिर्मृगेन्द्रस्तथायमपि क्षीबः कल्याणसिंहः"।

प्रधानमन्त्री०—नैतत् सत्यम्। शासकस्त्वयं बलवान् कृतव्रत एवासीत्। परमधुना वृद्धः। केन्द्रञ्च गौराङ्गाधीनम्। किमयं कर्त्तुं शक्नुयाद्वराकः। शासनञ्चैतस्य न परम्पराप्राप्तं किन्तु बलाधिगतम्। तदाहं शिशुरेवासम्, मम पिता कथयति स्म यदस्य नगरस्य जनसंख्या लक्षत्रयमितासीत्। एको राक्षसोऽस्मिन्नगरे समायन्नासीत्। यावन्तो नरास्तस्य सम्मुखं समागमन् सर्वानभक्षयदमारयच्च। अत्रत्ये नागरिके पलाय्य नगरान्तरं गतेऽपि राक्षसोऽत्याचरत्, अतोऽत्रत्याः क्वापि स्थानं न लभन्ते स्म। एकदा एतत्प्रदेशाधिपेन राज्ञा "यदेवं कृते कतिपयैरेव दिवसैर्जग्धप्रजः शून्यराज्यो भविष्यामि" इति विचार्यैवं प्राबन्धि यत्, प्रत्येकं गृही प्रत्यवसरं राजाज्ञानुसारं निशीथे श्मशानशिलायामेकं तरुणं मांसलं महिषं सपादमणमितं मिष्टान्नमेकं नवीनधातुं युवानं (न तु स्त्रियं) प्रहेयाद् इति।

राजा प्रतिदिनं रक्षोभक्ष्यमानुषद्वारा प्रार्थयत च "मा नाम राष्ट्रं नाशय" इति।

राक्षसोऽपि ततः प्रभृति अप्रयासप्राप्तमश्नन् प्रासीदत्।

एकदा दुर्भाग्यकृष्णाहिदुर्दंष्ट्रादष्टस्यैकस्य ब्राह्मणस्यावसर आसीत्। वृद्धस्यैक एवासीत्

पुत्रो वृद्धाया मातुर्युवत्या स्त्रियश्च कमात्रं समाश्रयः। अयमस्माकमद्यतनो राजा तदा कस्यामपि सेनायां सैनिकोऽधिकारिणोऽसूचयित्वाऽऽगतो विश्रान्तश्चासीद् विप्रगृहे। अयञ्च युवा क्षात्रभावोपपन्नः करुणरोदनं श्रुत्वोद्विग्न उत्थायापश्यद् यदेकतोऽश्रुस्रोतः सारयन्, भित्ती रोदयन् निरुद्धगद्गदकण्ठो वक्तुमशक्तोऽपि वृद्धो "हा! पुत्र, तत्राहं यास्यामि रक्षोबुभुक्षाग्नौ स्वं होष्यामि त्वं मा गाः" इति विलपति। पुत्र! अपगतलोचनां सुलोचन! को नेष्यति नयज्ञ! सम्भाषिष्यति भाषणदक्ष! सुखं प्रक्ष्यति पटो! हा! हतास्मि बटो! अमुष्मै दिनायैव पालितो दुग्धघृतसेचनेन हा! सूनो! इति समस्तकताडनं रुदती तन्माताऽऽतुरास्ति। अन्यतः प्रिय! प्राणेश्वर! मन्नयनचन्द्र? अविदितजगदानन्दास्मि? हा! हन्त!! भवन्तमन्तरा कथं हिन्विष्यामि, अन्वेष्यामि स्वामिन्! भवन्तः स्वामिनोऽनुज्ञां पालयन्तः सानन्दं गच्छन्तु, हा! प्रिय! इति प्रचुरं चीत्कृत्य ससकृथ्युरःशिरस्ताडनं रोरुद्यमाना युवकाङ्गनाऽङ्गानि भुवि लोठयति। एकतश्च मुमूर्षवे विप्रबालकाय राक्षसतृप्त्यै चोलूखलप्रस्फोटितस्य [1]तितऊविशोधितस्यान्नस्य रसवत्यां[2] बल्लवैरन्तिकायां[3] मधुरं क्षरदाज्यं भक्ष्यं निर्मीयते। एकतोऽलिञ्जरेषु[4], पिठरेषु च [5]ऋजीषपक्वं घृताक्तं सोपस्करं सचुक्रवेल्लजाजाजीकं विश्वभेषजजलामिश्रं बाह्लीकगन्धि सनिशाह्वं[6] साक्षीवं राक्षससम्बन्धि मिष्टान्नं [7]निष्ठानञ्च परिवेष्यते।

विदलितभीरुधैर्यं दुःखिनां दृश्यमदो वीक्ष्य समुपजातदयो गृहाजिरे निश्शङ्कं भ्रमन्, सशङ्कं दृष्टो गम्भीरवाचा तान् सम्मुखयन् प्रावोचत्—"मा शोकं कार्ष्ट, यतो मृतसकलकुटुम्बोऽहं संसारे निवृत्तजीवितेच्छो मरणमेव श्रेयो मन्ये। अमुना नश्वरशरीरेण ईदृक्षः सदवसरः कदापि न लप्स्यते; अतोऽहमेवाद्य तस्य रक्षोराजस्य भक्ष्यीभूयोपैष्यामि। वृद्धौ! मा शोचतम्। भवदाशालताश्रयः पादपः सुदृढमूलः चिरं स्वैरं विलसतु। नवोढे! मा स्म तनुं शोकाग्निसात्कार्षीः, न वियोक्ष्यसे। पत्युर्जीवनोत्सवं विधेहि इति।

वृद्ध—कस्त्वं देव! एभिः सुधामधुरैः शब्दैः सिञ्चन्नागतोऽसि स्वर्गतः। परन्तु

१ चालनी। २ सूपकारः। ३ चुल्लिः। ४ महाकुम्भः। ५ तापवाहन "तवा" ६ सलवणम्। ७ तेमनम्।

महाशय! अहं भारतीयः स्वस्य सुखस्य कृते न कमपि दुःखयिष्यामि। भवानपि स्वर्णशरीरः कस्या अपि अङ्कभूषणं सौभाग्यसिन्दूरं नयनोत्सवश्च। अहं स्वनेत्रे शोषयित्वा परेषां नेत्रे नार्द्रयिष्यामि।"

"अहं कल्याणो नाम क्षत्रियकुमारो जगति न कमप्यात्मीयं पश्यामि। मां मृतं विज्ञाय न कश्चन नेत्रे आर्द्रयिष्यति। भारतीयक्षत्रियस्य कर्तव्यं मां विवशयति यन्मयि ज्ञातैतद्वृत्ते जीवति विप्रकुमारं हन्तुं न कश्चन समर्थः। अहमप्यार्यों भारतीयां संस्कृतिं न कलङ्कयिष्यामि।"

वृद्धः—(वृद्धां लक्षीकृत्य) अहो! धन्योऽसौ कल्याणः। यस्य नामसङ्कीर्त्तनेन तनुर्ज्वरति स्म, अतिसारश्चाप्रतिषिद्धो भवति स्म बृहद्गङ्गाधरेणापि, भीता भामिन्यो निपातयन्ति स्म गर्भानपि, राज्ञः सन्देशहरमेव दृष्ट्वा जिगमिषव इवासन्नसवस्तस्यैव नाशितवीरधैर्यस्य रक्षोराजस्य पुरः स्वेच्छया प्रयियासति, धन्योऽयं धन्यौ चास्य पितरौ यावीदृशं सुसाहसं पुत्रं जनितवन्तौ यः परार्थे प्रेम्णा देहं ददपि निरहङ्कारः

अथ ते श्रोत्रचषकैस्तदीयां सुधामधुरां वचस्ततिं पेपीयमानाः, कथङ्कथमपि जातनिश्चयाः कामपि शान्तिं लेभिरे।

सायमभूत्। सज्जितमभूद् भक्ष्यं परिपुष्टे मांसले महिषे। इतस्ततो मित्राणि अन्तिम-दर्शनायाऽऽगच्छन्। राजपुरुषो मनो मूर्च्छयता, प्राणान् हरता च वचसा राजशासनं सूचयाञ्चकार। वृद्धः क्रन्दनद्रावितधरः पुत्रं प्राह वृद्धाश्रय? प्राप्तस्तवानेहा हा! हा! पुत्र! त्राहि। याहि अहमप्यायामि इति।

अथ कल्याणस्तान् सान्त्वयित्वा शिलादर्शनाय विप्रविप्रियं विप्रप्रियं समादाय महिष-सिद्धान्नैः सह प्रस्थितो निर्भयो निश्शोकश्च। गैरिकाचितोज्ज्वलपद्मरागपूर्णेव, पिशाचक्रीडा-कुट्टिमम्, रक्तपां स्थितिभूः, स्थापितमुण्डचषका, दुःखददानववंशप्रेयसी, शोणितपङ्कपङ्किला, नैयायिकसरणिरिव समेतवैयाकरणा, कलुषिता, असिता शिला शल्यायते स्म। एकतो गोमायुकुक्कुरैश्चर्व्यमाणास्थ्यन्त्रो रक्षोराजस्य सिंहासनमिव मृतमनुष्याणां कीकसपर्वतः, क्वचन निष्पत्रा लता इव सिराः, क्वचन नूनं संज्ञपितनरगोर्दम्,[1] क्वचन भीतलुलाय-शमलम्, निर्मांसो नरकङ्कालः, कशेरुकाकुलम्, अर्द्धभुग्ना करोटिः परशुकृत्तेव पर्शुका,

१ मृतमानवमस्तिष्कम्।

अवङ्क्षण ऊरुः, प्राणिप्राणहारिणी भयङ्करा मनस्विमानोद्दीपनी भीषणा सामग्री। कल्याणश्च विसृज्य विप्रात्मजं कासरं धावयन्, कासारं गत्वा पयः पीत्वाऽधिगतशान्तिः पथि कस्मैचन वराकाय हालिकाय सैरिभं दत्त्वा, शिलामेत्य अपूपादीनुपबर्हीकृत्याशयिष्ट। अथ मौनमाकलयति पतत्रिपूरे, अन्धकारेणान्धीकृतास्वाशासु, किञ्चित्प्रकाशमानेषूडुषु, अञ्जनमिव वर्षति वियति, मृत इवेक्ष्यमाणे समस्मिञ्जगति, निशीथदीपेष्विव विद्योतमानेषु खद्योतेषु, निशीथप्रायायां निशीथिन्यां सहाहाकारं रुदत्सु गोमायुषु, सानलज्वालं क्रोशन्तीषु शिवासु, राक्षसागमनमपेक्षमाणे, विचारोर्मिसङ्कुले च कल्याणे प्राचलदुत्पातवातः। मन्दरयः समीरः क्षणेन सूक्ष्मदृषत्खण्डवत्तां दधत् प्राबल्यं भेजे। प्रकम्पनकम्पिताः पादपाः सहतोड्डीयमानैः पक्षिभिः सूचयामासू राक्षसागमनम्।

अथोन्निद्रः स दूरत एवापश्यत्—अशुभदर्शनं निष्केशेन भूर्जत्वक्कान्तिना विस्फोटकव्रणाङ्कितेन रजकस्य वस्त्रप्रक्षालनोपलेनेवाशिखेन शिरसा, निम्नमध्येन अभित उच्चेन धूम्ररोमराजिविभासिना भालेन, ग्रीष्मर्त्तौ कूलान्तःकृशां कालिन्दीमिव सिकतिले भस्मपङ्क्तिमिव च दधानम्, विरलवालां धूसरितां भ्रुकुटीम्, शुष्काभुग्नपादत्राणाविव श्रवणौ, क्रूरे गर्त्तगते बदरबीजोपमिते सिकतावर्णपक्ष्मणी वीक्षणे चोन्मीलयन्तं भेकाकारया पूतिगन्धिशिङ्घाणभृतया शैशवेऽधःपतनप्रसृतया शाखामृगैर्भक्षितयेव समुपजातमसूरिकाकिणया बभूव इव सुस्पष्टमज्ञायमानभस्त्रितया विपुलवालया नासिकयोपलक्षितम्, निशिताग्रैः शीघ्रं मांसजिघृक्षया चिकर्त्तिषया वा बहिर्निर्गतैरालोहितसितांशुनाशितोपहतविवेकैः रदनैः प्रपूर्णवदनं विस्तृतपुष्टोभयाधरं प्रलम्बमानजिह्वं हीनहनुं सरोवराविव निर्नीराबुद्यदङ्कुरौ गण्डौ दधानं पुण्यद्वेषिणा पापपुञ्जेनेव आलोहितेन बहिर्निर्गतेन विरलेन श्मश्रुजालेन व्याप्ताननम्, प्रत्यक्षमीक्ष्यमाणजत्रुव्यूहया मांसादनमांसलया ग्रीवयाऽधिष्ठितसंहननं पीनेन सर्पप्रतिमेन मर्दितानेकानेकपसज्जनेन रुधिरदिग्धेन नखविवरप्रविष्टमांसपूतिगन्धिना स्फुटनाडीकेन भयसन्त्रस्तपलायितपुरुषोपरोधकेनेव दीर्घेण प्रचण्डेन दोर्दण्डेनानुमितबलिष्ठशरीरं परिणाहिनिष्केशस्फुटकीकसोरस्कं मनुष्यमहिषमांसापूपादिनिधानमिव प्रलम्बमुदरमुद्वहन्तम्, अमितमांसभक्षणनिःसृतेन उपह्रियमाणमानवमारणभुशुण्डिकाग्रभागेनेव नाभिदेशेन प्रदेशं भीषयमाणं विस्तृतकटितटं करिचर्मावृतगोप्यप्रदेशं जानुपातं मारितपुरुषोषपुरुषाघातसहदृढोरुयुगलं खर्जूरमिव प्रांशुं मांस-

कुण्डप्रवेशलिप्तोभयजानुतया समन्ताद् भ्रमन्मक्षिकं शुष्कायतपादं श्वेतनखमपि रक्तनखं भक्षितभुवनमप्यनाप्तभुवनं सततं भुञ्जन्तमप्यलब्धान्नं प्रस्फुटविपादिकं समलकलेवरं भक्षितमानवं दानवम्।

यमभितः श्वान इव व्याधम्, कुमन्त्रिण इव कुनृपतिम्, असत्प्रतीहारा इवोत्कोचिनो न्यायाधीशान्,[1] मुनिमा इव धनिनं सहचराः केचिदेककर्णाः केचिद् भग्ननासिकाः कृत्तौष्ठाः लम्बोदरा अनेत्राः काणाः केकराः कुणयः शुष्कोदरास्तनुतनवोऽतनुतनवश्चोर्ध्वकेशंर्जात-शूला इवैक्ष्यन्त। परिषदियं सज्जनजलपानागस्त्यभूता, नियमयममेघोच्छेदमरुद्रूपा, वेदेन्ध-नाग्निसमा, योगिजनसमुद्धूलनवात्या देवार्चनप्रचारनौवरुणालयावर्त्तात्मिका कारुण्यप्रासाद-भूकम्पानुरूपा दयालुदावाग्निसमा, विद्यार्थिकुलकृतान्तरूपा, विपुलसुरा[2] अपि सनातनधर्मो-द्धारकमारकपुरःसरा आसीत्। अग्रे च कालायसव्युत्पन्नेन[3] आटङ्कनावरणेनेव चर्मणा संवृतशरीरः, परिपुष्टमांसलग्रीवः, रम्याभुग्नविषाणमण्डलो, ललिततिलकायमानसितरोमराजि-परिष्कृताऽऽयसपट्टायितललाटः, प्रलम्बपुच्छदण्डेन भ्रमता दूरयन् विश्वसद्भावान्, उपरि-विन्यस्तेन तैलपूर्णचतुर्वर्त्तिना स्वर्णदीपेन प्रकाशितशरीरः सभीकृतेभः सैरिभः सलीलं सानन्दं सजृम्भं सारावं विस्फारितनेत्रं सजिह्वाभ्रामणं पश्यन्नागच्छत्।

येषामाकृतिरेव जगदरुन्तुदा कथं न स्यात्तेषां मांसादत्वं प्रकृतिसिद्धम्। यतस्ते-षामागमनेन सुप्ता वियद्गतयोऽपि निद्रां जहुः। सहसा दीपो निर्वाणतां गतः। प्रगाढे तमसि सर्वे सहचरा इन्द्रियागोचरतां जग्मुः। सकलप्रवेशदुर्धर्षाकृतिरञ्जनाकृती राक्षसश्च शिलासमीपमेत्य जीवन्तं तं महिषानुचरभक्ष्यस्य सिद्धान्नस्य न्यूनतां महिषाभावञ्च विभाव्य नगरदाहिना क्रोधाग्निना भीषयमाणः "कस्त्वं रे?" इत्युच्चैरब्रवीत्।

मौनमवलम्बमाने च तस्मिन् पुनः स साभिमानमाह—"मुमूर्षो! मन्दभाग्यो वो भूपो द्वीपद्विषं मां विस्मृतवान् किम्? किं स न वेत्ति यत्तस्य नगरं मम प्रातराशायाप्यकल्पम्। सत्यं स कथं विजानीयात्, मयापि तन्नगरे एषु दिवसेषु नाभ्रमि। अस्तु, त्वामधुना

१ मुनीम, मुनीनपि मिमते=परिमान्ति शब्दायन्ते=भर्त्सयन्ति च। माङ् माने शब्दे च "आतोऽनुपसर्गे कः। २ विपुलाः सुरा अग्निवायुयमप्रभृतयो यस्यामेवं भूतापि। पक्षे—विपुला सुरा=मदिरा यस्यां सा। ३ टैङ्क।

दंष्ट्राभूषणं विधाय नगरं प्रवेक्ष्यामि, उत्तिष्ठ, स्मराभीष्टं यावदहं कुलिशक्रूराभ्यां कराभ्यां त्वां नामृशामि।"

विपुलोत्साहः स्मित्वा क्रोधोत्पन्नवेपथुरुत्थाय सम्भर्त्सयन् सोऽब्रूत—कोऽसि रे? सत्त्वाधम! किमर्थमुपशिलमागत्य निद्रां हापयसि? स्वपिमि, सपद्यपसर इतः, सिंहस्य सुखनिद्राभञ्जको मृगो मा भव! याहि याहि दर्शय पृष्ठम्, इति।

राक्षसे त्वश्रुतपूर्वैः परुषवचोभिरुद्दीपितमन्यौ कल्याणः प्रबलपराक्रमया तोभगोलक-भयङ्करया दृढया साङ्गुष्ठाङ्गुलिबद्धया सिद्धया मुष्टिकयोर आहत्य सप्रौढि अवदत् "राक्षसाधम! समेतस्ते मृत्युः। कदर्य! नाधुना ते विमुक्तिः। तावद्गर्ज शोच भ्रम उच्छल यावन्मम मुष्टिवृष्टिविनष्टतनुयष्टिर्मृतिमवाप्यापेतसमीरो विमुक्तमर्त्योऽन्यस्मिन्नुषि कस्यचिद्रक्षसोऽजिरं न पश्यसि। विपुलाघ! बहवस्त्वया धर्माश्रया देशभक्ताः मानिनो विपश्चितो नीच! भक्षिताः। विधवानेत्रनिःष्यन्देन महीयसी सरसी त्वया सम्पूरिता अधुना त्वधन्य! प्राप्तस्तव प्राणहर्त्ता कर्त्ता चित्रपुरवासिनागरिकनिकरस्य सुखम्। चिन्त्यान्त! चिन्तयान्तिमचिन्तनीयम्।" इति

अथ क्ष्वेडानुकारि घनघनाघनध्वानानुसारि दमितजनारि वच आभाष्य उत्प्लुत्याय-समिव तच्छिरो दृढेन करालकरतलेनामृदुलयत्। पुरुरोषयोः सत्वरपदन्यासमृदुलितधरयोर्मुष्टिकापतनसङ्कुचितावयवयोः खिन्नस्विन्नगात्रयोस्तयोः सध्वानं सकरतलपातं बभूव तुमुलं जन्यम्। ततः स शुण्डिशुण्डामिव प्रचण्डां शिलामिव नीलां शालग्रामस्य माहिषीमिव आयसीमिव तद्ग्रीवां दोर्दण्डेन भृशमाहत्योत्थाय गजमिव तं चलद्धस्तं श्रोण्योर्भूतलेऽपातयत्। तेन च दिगन्तव्यापिना कर्णकुहरभेदकेन ध्वानेन भीतः पक्षिपूर आख्यातुमिव वियद्विहारिणं विनतानन्दनं शब्दितसकलप्रदेशो दिशास्वगमद् ऋते केकाभीषितजनं केकिनम्।

अथासौ प्रस्रुतस्य तस्योरसि समुपविष्टस्तुदन् वचनसूचीभिः प्रारब्धमुष्टिवृष्टिरब्रवीत्।

"रक्षोऽपसद! जगतोविषाद! निषाद! क्षणस्थायिनस्ते प्राणाः, स्मराभीष्टम्" इति। परं परमगर्वः स क्रोधाश्रुपूर्णवीक्षणः पद्भ्यां दद्भ्यां नखाभ्यां तुदन्, नासिकया प्रबलं समुच्छ्वसन्, मुष्ट्याऽऽहतो मूर्ध्नि, फेनमुद्वमन् नसा रुधिरञ्च, मुखं व्यादाय शत्रुतो मानमर्द्दनमनुभूयानन्तविश्राममन्वभवत्। तस्य प्राणमरुत् नागरिकमित्रतेव सद्य एव

लब्धेव वीतः। तस्य पाटितमपि मुखं भीरुधैर्यं पर्यैक्षत। शून्यः स प्रदेशः प्रहार-कोलाहलेन गुञ्जितः। तस्य लोहचपेटा अमोघाः प्रहाराः सक्रोधे ज्वलती चक्षुषी निशिता दन्ताः स्फुरन्तावौष्ठौ निःश्वसन्ती नासिका तस्य वीरत्वपरीक्षायै अलमासन्। परं स उत्तीर्णः। तस्य च कर्णनासानिर्गतेन मेदस्विना नीलगाढेन पिच्छिलेन प्रालिप्यत वसुधा क्षतजेन, दधती अन्वर्थाख्यां मुमुद इव मेदस्विनी।

अथासौ जन्यजन्यश्रमश्रान्तो विस्तृतं माहिषं चर्मास्तीर्य रक्षोवक्षश्चोपधानी-कृत्य गाढमशयिष्ट। शशादनवायसारातिव्याघ्राटकर्करेटुकङ्करसक्तप्रजकाकोलातायि-दाक्षाय्यक्रौञ्चकुरराणां रावेण सार्द्धं वाद्यध्वानेन सविस्मयमुत्थितोऽपश्यत् स यत् तार-गम्भीरं मुरजमृदङ्गतालपरिवादिनीवादिनो वैपञ्चिकाश्च पञ्चजना समायान्ति। स्वर्ण-सूत्रितकुथस्थमणिजटितकार्त्तस्वरकल्पनायां[1] मदोन्मत्तसलीलगमनायां दन्तावलवनितायां चित्रपुरपतिः मन्त्रिप्रभृतयोऽसंख्याताः सुवासःसज्जितवाजिनः सादिनश्चायन्ति स्म। कल्याणस्तु सैनिक आसीद् व्यवहारानभिज्ञः, युयुत्सयाऽऽगच्छतस्तान् विशङ्कमानो विकोशासिर्व्यालीढमर्यादयोदतिष्ठत।

"देव! स्वागतं विनीतभावेन विधेयम्, पुनरयमस्मत्पुरत्राता सविशेषं सत्कार्यः, अतः पद्भ्यामेव चलनीयम्, अन्यथा को जानीते किमाचरेदेष युवा" इति मन्त्रिणा प्रतिबोधितो हस्तिनोऽवतीर्य करकलितपूजापात्रो मन्त्री राजा च तमभ्यर्हयामास समारोहेण पुरमानयच्च।

"वीरवर! देशस्य दुःखमपनयन् सपरिवारं राजानमेव न हि, सकलं देशमेव वशी-कृतवानसि। अस्मदर्थे प्रचुरं कष्टं विषह्य स्वकीर्त्तिलतां देशक्षेत्रेऽक्षयां कृतवानसि।"

कल्याणः—आर्य! अबहुकृतकार्यमात्मानं भवत्प्रशंसितं श्रुत्वा जिह्रेमि। क्षत्रिय-धर्म एषः। का नवीनता!

मन्त्री०—महतां महत्त्वमेतद्यद् देववर्ण्यं कर्म कृत्वापि न प्रमाद्यन्ति।

कल्याणः—केन सूचकेन राज्ञ एतत्कष्टं दत्तम्!

मन्त्री०—विपश्चितामपश्चिम! जगति जना जनानर्दितान् वीक्ष्य प्रहृष्यन्ति। ते चावसरापरदिने तत्र "कथं स ह्यो हतः"—इति दिदृक्षया यान्ति। तैश्च भीरुभिरद्य महता प्रयासेन राक्षसो मृतो मतः। ततश्चोपहारलिप्सवः क्षतजेन लिप्तदण्डाग्रा

[1] कटेड़ा = कूँची।

राज्ञ राक्षसमारणं सूचयाञ्चक्रुः। केचन दलमायोज्य वासांसि लिप्त्वा "अस्माभिः स देव! प्रसह्य हतः"—इत्यपि प्रोचुः परस्परं व्यवादिषुः। महाराजमुखगगने नवीनं ज्योतिरुदगात्। मानससमुद्रस्योपहारतरङ्गाः कराभ्यां निर्जग्मुः। ग्रामाणामधिकारपत्राणि लिखितानि। सर्वेषां मुष्टयो भारैर्भृताः।

अहं विचार्याबोचं "देव! किमर्थं निर्धनीक्रियते कोशः। अत्रत्या एवैते न कदापि व्यापादि राक्षसोऽत्रस्थैरेव। अद्य किमेषु दैवं बलमुपेतम्! देव! यदि राक्षसो मृतस्तर्हि अनन्यसाधारणो हन्ता तत्पृच्छतु कस्यावसरः कोऽगमत्"—इति।

तत्र च व्यतिकरे भवद्गमनं भवच्छयनञ्च विदितम्। अतः परं यज्जातं तज्ज्ञायत एव श्रीमद्भिः।

कल्याण—आम्।

मन्त्री०—कस्य वंशस्य विभूषणं देवः।

कल्याण—राजन्यकुलप्रभवोऽहम्।

संसरणे सद्वासोभूषणैर्नरैर्नारीभिश्च कुसुमस्रग्भिर्मधुरादरवाग्भिश्चाद्रियमाणः कल्याणो राज्ञा राजभवनमानीतः।

केवलमेतन्नगरनिवासिन एव न हि प्रान्तीया अपि समूहिताः। मानवमहोदधेस्तरङ्गास्तरङ्गिता आसन्। सर्वो जनः प्रान्तप्राणप्रदातुर्दर्शनाय आकुल आसीत्। कल्याणो महाराजेन सह राजभवनस्य गवाक्षे स्थितो जनसमूहं नन्दयामास। चित्रयतां विद्युत्प्रदीपा लोकचक्षूंषि चमदकुर्वन्। महाराजश्च लोकं सम्बोध्य[1] ध्वनिविस्तारकसाहाय्येन प्रावोचत्—

प्रियाः प्रजाः! अद्यतनं दिनमस्मज्जीवनस्य प्रदीप्ततमं दिनं वर्त्तते। केन शब्देन कया रीत्या केन कर्मणाऽस्य महाप्रभावस्य यून आभारं प्रदर्शयामो मनो न निश्चिनोति। अस्मत्सविधे नैतादृक् किमपि यत् प्रत्यर्प्य वयमानृण्यमासादयामः।

शास्त्रकारै राजनाद् राजा नॄन् पातीति नृपः—इत्येवं तेजोऽतिशायित्वात् पालनाच्च सामान्यो मानव एतद्गुणवैशिष्ट्येन राजाभिहितः। एतद् गुणद्वयमस्मिन् यूनि वर्त्तते। अतोऽयं राजा भवितुमर्हति। भगवता राज्ञः पदं योग्यतानिष्ठमेव

१ लाउड स्पीकर।

रचितम्। अस्माभिर्दौरात्म्येन तत्कुलपरम्परया स्वीकृतम्। अथैनं युवानं वीक्ष्य अनुतप्तो लज्जितश्चास्मि, अत इतः प्रभृति अयमेव प्रजानां शासकः। लोकस्य न्यासं योग्येऽधिकारिणि समर्प्य भाररहितोऽहं नितरां प्रसीदामि। नवीननरपालस्य शासने सर्वविधमानन्दमनुभवन्तो भवन्तः प्रेयः श्रेयश्चाप्नुवन्तु—इत्यस्तु मे शुभाशीर्वादः इति।

महाराजः स्वयं स्वमुकुटं तस्य शिरसि पर्यधापयत् करवालं करयोरादायार्पयत्, चामरञ्चादाय सर्वतः प्रथमं व्याजयत्।

महाशय, अधुनायं नितरां वृद्धः केवलं नाममात्रेण राजा। केन्द्रादेशानुसारिकार्यनिर्वहणे विवशः किं करोतु वराकः इति।

अथाहं प्रधानमन्त्रिणं सम्भाव्य ब्राह्मणबटुनाऽऽलपितुकामस्तस्यावासं गत्वा यमदूतोपमैश्चतुर्भी राजपुरुषैः कृतेक्षणं शृङ्खलाबद्धपदं सहयोगिभिर्भविष्यत्कार्यक्रमायाऽऽलपन्तमनितरसाधारणवैदुष्यमनालस्यं कर्म कर्त्तुमाम्रेडयन्तं विप्रयुवानं वीक्ष्य तद्भावमुग्धस्तस्योद्देश्यं विभाव्य तस्य जीवनं परमावश्यकं मन्वान उदघोषयम्:—

"मान्याः, शासनस्यान्याय्यं परां काष्ठां स्पृशति। परोऽपराध्यति दण्ड्यते चापरः। अस्मदीया एव भ्रान्त्याऽस्मान् हन्तुमग्रेसराः। कर एव गलमपजिहीर्षेच्चेत्कथं जीवनम्। अस्माकं भ्रातर एवास्मान् हन्तुस्तदा कथं जीविष्यामः। अस्माभिः प्रतिज्ञातव्यं वयं संघटिताः शासनमनुकूलयिष्यामः। एतदर्थमेका विचारपरिषत् स्वतन्त्रोपवने परेद्यवि पञ्चनदनसमये भविष्यति सर्वैः समेतव्यम्। एतदाह्वानञ्च सर्वेभ्यः श्रावयितव्यं येनाधिका जनाः समागच्छेयुरिति।"

वृद्धावुपगम्यावोचं "शोकं त्यजतम्, अहं भवत्पुत्रमन्यांश्च कारावासिन उन्मोचयिष्यामि नो चेत्स्वीकृतापराधो भवत्पुत्रस्थाने शूलमारोक्ष्यामि। अहं कथयिष्यामि यन्मम प्रबन्धो मदाज्ञया मयि रोगग्रस्तेऽनेन पठितः। पाठको निर्दोषः। भवत्पुत्रस्य रक्षणं देशस्य कृते परमावश्यकम्। धन्यौ भवन्तौ यौ स्वार्थं परित्यज्य देशस्य निर्माणाय स्वातन्त्र्याय च प्राणार्पकं सुतं प्रासुवाताम्। भवादृशामाश्रयेणैव स्थिता भूः"।

त्रयोदशपलन्यूने पञ्चनदनसमये स्वतन्त्रोपवने मनुष्याः स्त्रियश्चाजग्मुः। धरिणी मानवान् प्रसवमानेव प्रतीयते स्म। पञ्चनदनघण्टाघोषेण सममहमुत्थाय सभापतिपदाय जनपदगुरुं प्रस्तूय पार्श्वमञ्चे स्थापिताया भारतमातुः प्रतिमाया गले पुष्पहारं समर्प्यावोचम्।

समवेतसहयोगिनः ! सुहृदः !

सर्वतः प्रथमं स्वं सर्वथा निरीक्ष्यास्माभिः प्रतिज्ञातव्यम्, यदहं स्वेच्छया स्वं भारताय तस्य सेवायै स्वतन्त्रतायै उन्नत्यै च समर्पये। एतदर्थं कशाघातो वृश्चिकाः तोदः कारावासो मशकादनं परिजनैर्वियोगः क्षुधा द्रव्यदण्डो मृत्युश्च मन्निर्णयं प्रतीपयितुं न शक्ताः। स्वार्थं परित्यज्य देशहिताय वर्णवर्गधर्मनिरपेक्षः कार्यं करिष्यामीति।

यूयं सर्वे भारतस्याधिपतयः, स्वतन्त्रे भारते सर्वस्य समानमुत्तरदायित्वम्, इदमनुपयुक्तं भविष्यति यदहमाज्ञापयामि, परमहं भवद्भिर्नियोजितोऽनुशिष्टः सहयोगीव निवेदयामि।

अस्माभिर्यथाशक्ति संघट्य देशस्योत्थाने यतितव्यम्। वृद्धैर्नैतद् विचारणीयं यत् स्वाधीनं भारतं द्रष्टुं कः स्थास्यति— एष विचारः कर्मणि शैथिल्यमौदासीन्यञ्चापादयति। सर्वेषामस्माकं कर्तव्यं यद् वयमस्मज्जीवनसर्वस्वं स्वतन्त्रभारतस्याधारशिलाया अधस्तात् स्थापयिष्यामो यत्र कोऽपि नेक्षेत। अद्यतना भोगा अस्मद्बान्धवरक्तसिक्ता हातव्याः। अवधार्यताम्, परतन्त्रतायां घृतादनात् स्वतन्त्रतायां घासादनं गरीयः। मरुमणिः प्रतापो घासमेव जघास।

विश्वसन्तु, एष दासो विजये पराजये तेजसि तमसि सुखे दुःखे सहैव भविष्यति। अहं किं दातुं शक्नोमि, ऋते क्षुधां तृषां श्रमं खेदं क्लेशं मृत्युं वा। एतज्जीवनं भारतमातुश्चरणयोरर्पये।

सुहृदो मातरो भगिन्यश्च,

संघर्षं चालयितुं धनस्यावश्यकता वर्त्तते। निर्धनो ह्यसमर्थः स्थातुमद्यतने समये। एतदर्थयुगम्। अर्थस्याद्य महती प्रतिष्ठा। धनस्य प्रतिष्ठोन्मूलनमस्माकं ध्येयम्। परं नायं तस्य समयः। अतः कण्टकेन कण्टकमिवानेन परतन्त्रतोन्मूलनीया। अस्माकं कार्यं न सरलम्। सङ्घर्षो दीर्घकालः कठोरश्च सम्भाव्यते। शासकस्य हृदयं नवनीताभं न भवति अपि तु वज्राभम्। यत्र स्त्रीणां चीत्काराः शिशूनामार्त्तनादाः वृद्धानां श्वेतकेशाः अश्रुद्रुमं कर्त्तुं न शक्ताः। अतः सर्वसाधनानां संग्रहोऽस्माभिः कार्यः। अस्माकं भ्रातरो भगिन्यश्च करकरवाला भुशुण्डिकामादाय सर्वविधाः परिस्थितीः प्रतिरोद्धुं समर्था भवेयुः, यद्यपि नास्माकं शस्त्रेषु विश्वासः। परं क्षमाऽपि शक्तौ सत्यामेव वरीयसी। भारतस्य परिश्रमप्रियाभिः प्रजाभिर्नेदमाशंसितव्यं यत् परेषां

धनं छलेन व्यसनेन लुण्ठन्तो धनिनः, साम्राज्यवादिनः शासनस्य लुण्ठने साहाय्यमाचरन्तोऽस्मत्साहाय्यं करिष्यन्ति। यैर्धनिभिः स्वार्थं साधयितुं सलक्ष्यैः साम्राज्यलोलुपैः सह सम्मिल्य विश्वस्यान्नदाता कृषकोऽन्नाय परमुखापेक्षी, विश्वव्यापाराय तन्तून् वयन् तन्तुवायश्च तरुण्याः पुत्र्याः लज्जायै वासांसि याचमानो विहितः। कारुर्मयविश्वकर्मानुरूपं प्रासादं निर्मायापि शूकरवासं वसन् मर्त्तुं बाधितः, स एव समाजस्य कलङ्कः स्वार्थी जलौका इव शासनस्य घटकः स्वस्य साधारणमनोरञ्जनाय लक्षशो रूप्यकाणि प्रवाहयति। एषोऽन्यायो बहुदिनं यावन् न स्थास्यति। आधुनिको धनी ज्वालामुख्या क्रीडति चेदद्यापि सोऽनवहितो निश्चितं पतिष्यति। किं सम्भाव्यते सोऽस्माभिः सहायिष्यते ? सोऽस्माकं शवे हसिष्यति, स्वाधीनसंग्रामाग्नौ दत्तपत्याहुतीरवहेलयिष्यति, क्लीबोऽपि स विषयरतः प्रेमदष्ट्रा भ्रंशयितुमेषिष्यति। स्वार्थिनो देश्या वा स्युर्विदेश्या वा स्वार्थं लुण्ठतां रक्तं शोषयतां धनिनां वा नान्तरम्।

संगृहीतधनस्य कणाः स्वतन्त्रतामन्दिरस्य पथि विकरिष्यन्ते, भारतमातुश्चरणयोरर्पयिष्यन्ते इति।

सभास्थले विशेषतो विधवाः स्त्रिय आसन्निरलङ्करणा नराश्च, तथाप्याभूषणानां वृष्टिस्तत्राभूत्। क्षणेनैव भारतमातुरग्रभूः कर्णनासागलाभरणैरङ्गुलीयकैश्च व्याप्ता। परमनेन स्त्रीणां तृप्तिर्न जाता, ताभिर्न ज्ञातमासीद् यदद्य धनसंग्रहो भविष्यति, ता अपरदिने सभायै आजगृहुः। तासामाग्रहेण द्वितीयस्मिन् दिने तस्मिन्नेव समये स्थाने च सभाऽऽहूता।

नगरस्य सर्वाः स्त्रियोऽद्य आकुलिता इव कौशेयखण्डेषु चञ्चत्प्रभान्याभूषणान्यावध्य समयात्पूर्वमेवोपेताः। तासां मुखेष्वद्यैका विलक्षणा तेजोमयी च्छाया व्यापत्। आभूषणानां मुद्राणां बहुमूल्यानां राजतानां सौवर्णानां भाजनानाञ्च कूटं भारतमातु श्चरणयोर्जातम्। जीवने उपद्वादश वसन्तान् प्रेक्षितवत्यो बालिकाः पुलकिताः प्रणयलज्जारक्तमुख्यो वध्वो हिमकेश्यः स्वर्ग्यं वासमनुबुभूषव इव वृद्धाः स्वतन्त्रभारतवेदिकायां जीवनसञ्चितं निश्छलं न्यचैषुः।

एकां निश्शब्दं रुदतीं युवतिं समालम्ब्य सुब्वसुब्वायिता उपदशाः स्त्रियः समाजग्मुः। ता यथाकथञ्चिदवरुन्धता गलेन त्रुट्यता भज्यता स्वरेण प्राबोधयन् यदस्याः सरलः

सुशीलो युवा भर्त्ता राजद्रोहापराधे बद्धोऽद्य शूलमधिरोपित इति। "हन्त, हन्त," इति कोलाहलः सर्वतो गगनं व्यनादयत्। अश्रुपूर्णारक्तलोचना रमणी च स्वसौभाग्यसिन्दूरेण सह रत्नखचितं चञ्चत् शिरोरत्नमञ्जलौ कृत्वा भारतमातुश्चरणयोरार्प्पयत्।

सत्यम्, ईदृशदेव्याश्चरणरेणुं ग्रहीतुं देवास्तपोरता मुनयश्च लालायिताः।

एका वृद्धा स्खलन्ती एकेन हस्तेन वक्षसाश्लिष्टं चित्रं परेण च दण्डं दधती समेता। हिमश्वेता सा रुदत्यवोचत् "एतन्ममैकमात्रस्य पुत्रस्य चित्रमस्ति। अस्य पिता महापण्डितो विद्याव्यसनो मनस्वी निर्धनी युवावस्थायामेव देहमजहात्। तस्यान्तिमेच्छाऽऽसीद् यत्तस्य पुत्रो महान् विद्वान् भवेत्। भिक्षा पत्या निषिद्धाऽऽसीत् तद्वृत्या च पुत्रमानसे निम्ना दयनीया भावना न भवेच्चातोऽहं वनात् शुष्कं काष्ठं समानीय विक्रीणन्ती सुतं पाठयन्ती जीवन्त्यासम्। एकदा मम पञ्चदशवर्षो निर्भीकं भाषमाणो माणवकः शासनेनाबद्धः। एको गौराङ्ग आयुक्तः सह दशभिरन्यै राजपुरुषैर्मुग्धं शिशुमाहूयावदत्—"वन्दे मातरम्" न वक्तव्यम्। परं विकटसाहसोऽदम्योत्साहः स तस्याग्रे एव तारस्वरेण "वन्दे मातरम्" इत्यवदत्।

पाशवप्रवृत्तिरधिकारी कशयाऽऽहन्तुमादिदेश। विद्यालयस्य प्राङ्गण एव सड सडेति शब्दायमानाः कशास्तस्य कमलकोमले कलेवरे निपेतुः। एतदन्तरं माध्याह्नकालिकं भोजनमादायाहमप्युपेता। स वन्दे मातरमिति कथयन् भूमौ पतितः। तेन कदापि ताडनं नानुभूतमासीत्। तस्य त्वचो निर्झरवद् रक्तं च्यवते स्म। शनैश्शनैः "वन्दे मातरम्" वदन् स जीवनाञ्जलिं भारतमातुश्चरणयोरार्पयत्। गौराङ्गस्य सिंहायितः श्वा शिशोरुष्णं सद्योरक्तं लिहन् स्वामिनः प्रियतां बभार। अहं च जडीभूता पश्यन्ती सङ्क्षोभनष्टविवेका रुद्धगला उन्मत्तेव विस्फारितनेत्रा शिशोश्शरीरे निपत्य मूर्च्छिता। दिनत्रयानन्तरं ममोटजे मम मूर्च्छा भग्ना। गौरी सारमेयोत्पटितां त्वचं घृतमधुमधुयष्टिभिरुपनह्यन्ती आसीत्। समस्तं शरीरं सर्वाणि वस्त्राणि रक्तदिग्धान्यासन्, यानि दृष्ट्वाहं पुनर्मूर्च्छिता।

तस्य विवाहाय मया सुवर्णं क्रीतमासीत्, यदैष एनां गतिं प्रापितस्तदा मया सुवर्णस्य शिशोश्चित्रस्यैषा शाखा निर्मापिता। अद्यतनोऽवसरः पुरा न प्राप्तः, एतत्कर्मण्यर्पणान्मम शिशोरात्मा शान्तिमधिगमिष्यति—इति कथयन्ती वृद्धा चित्रं भूमौ

प्राक्षिपत्। वृद्धाविवरणेन सर्वो जनः स्फुटं रोदितुमारेभे। अश्रुस्रोतः नेत्रद्वारेऽस्मान् नासिकानाल्या बहिरुवाह, धैर्यस्य बन्धः कणशो भग्नः। काचो भग्नः। चित्रान् मनस्विता वर्षति स्म। मुग्धस्मितं तस्योष्ठयोः कपोले च प्रसृतमासीत्। वृद्धया चित्रं सौवर्णी शाखा च मातुश्चरणयोरारात् स्थापिते।

अहमुत्थायावोचम्, वयमवश्यं सफला भविष्यामो यत्रेदृश्यः शरणागतदीनार्त्तपरित्राण-परायणा देव्यो निवसन्ति, तद् भारतं कथं विषीदेत्? याभिः पतयः पुत्र भ्रातरः पितरः परिजनाश्च स्वाधीनतावेदिकायामारोपिता आहुताश्च, तासां भारतं कथमवसीदेत्? सभास्थले धावन्नेको युवको मह्यं पत्रमदात्। अहञ्चोद्घाट्य जनतामश्रावयम् :—

प्रत्यूषस्य प्रथमे किरणोद्गमेऽस्माकं भाग्यनिर्णयो भविष्यति। अस्मदवसानमनु हृदयस्पन्दनं समीपात् समीपतरमेति। अस्माकं जीवनप्रदीपः प्रातर्द्युमणौ विलेष्यते, उपाधिनाशे घटाकाशो महाकाश इव। परमस्मदीया विचारा विश्वस्मिन् विद्युल्लेखाव-च्चमत्कुर्वन्तो जागरणं सम्पादयिष्यन्ति। अस्माकं मुष्टिमेयं भस्म यदि विनश्येत, तेन किम्। शासनस्यात्याचारान् बधिरसमाजाय श्रावयितुमभियोगोऽवश्यं योज्यः। तेन जगतो जागरणसम्भावना। वयं सानुरोधं निवेदयितुमुद्युक्ता यदेष सङ्घर्षस्ताव-च्चलनीयो यावन् मुष्टिमेयानां शक्तिशालिनां श्रमिषु भारतीयेषु प्राकृतिकसाधनेषु च स्वार्थं साधयितुमधिकारस्तिष्ठेत्। श्लाघ्यानां वीराणां वधेनैव भवतां संघर्षो बलवान् भविष्यति। तेषामनुपमं साहसमुच्चैरादर्शो निर्भयतापूर्णो भावश्च विश्वं चमत्करिष्यति।

अन्ते, ज्ञानेऽज्ञाने वा भूतानां धृष्टतानां कृते क्षमामभ्यर्थमानः पत्रमदः समापयामि—

"अनेकेष्वेकः"

वन्दे मातरम्।

* * *

वयं राजधानीं गताः। शुल्कशालायामेवैको घटकः[1] कथमपि विदितोद्देश्योऽस्मासु दयामदर्शयत्। तस्य प्रेरणया चैकः कायस्थो वाकीलो घटकप्रकटितमहाप्रभावोऽ लब्धावकाशः सर्वेषां स्वतन्त्रतासंघर्षाभियुक्तानामुन्मोचनाय पञ्चसहस्रमुद्राभिः स्थिरीकृतः। सोऽस्मान् बहुविधं पृष्ट्वा सर्वाणि पत्राण्यस्माकं विचारांश्च विभाव्य परामृशद् यन् न्यायाधीशस्योपस्थाता[2] मुसलिमः सलीमनामा विद्यते, तेन मेलनमावश्यकम्।

१ दलाल। २ यः पत्राणि न्यायाधीशायोपस्थापयति (सिरस्तेदार, पेशकार)

समागमो यद्यपि सिद्धान्तविरुद्ध आसीत्, परमद्यतनजनपरिज्ञानाय, राष्ट्राय कारावासे म्रियमाणेभ्यो लोकभावनामधिकारिभावनाञ्च ज्ञातुं समागममपरिहार्यं मत्वा विहितसमयास्तस्यावासं गताः ।

ग्रामसीम्नि कस्यापि समानशीलस्य धनिनो विशालं भवनं तेन स्वायत्तीकृतमासीत्। तस्य विशाले सभास्थले कुसुमकुड्मलाकारेषु पुण्डरीकसितेषु सहस्रशः काचभाण्डेषु उत्प्रभाः प्रदीपाः प्रद्योतन्ते स्म। अभित उपविष्टाभिरुपदशश्यामाभिरप्सरोभिरधिष्ठितामिन्द्रपुरीमनुकुर्वति सभास्थले नगरस्यानर्जितधना धनिनः कृषकोपार्जितरायः सामन्ता उत्कोचिनो राज्याधिकारिणश्च कौशेयासनेषु बृहदुपबर्हपृष्ठाः मद्यं पिबन्तस्ताम्बूलं चर्वयन्तः पतद्ग्रहे निष्ठीवन्तो धूममाकर्षन्त आसन्। मध्ये च विलासलीनः सलीमः।

*　　　　*　　　　*

गृहीतमुद्रेण द्वारपालेन बहिरेवासूचि यदुपस्थाता महोदयो गानसमाप्तिसमकालमेवान्तःपुरं प्रवेक्ष्यति, आलापेच्छा चेत् प्रतीक्षितव्यमेव। वयं कोणे कथङ्कथमपि प्राप्तस्थाना हृदये शोकशल्येन विद्धा अपि गानमञ्चे उपविष्टाः।

अथैकाऽऽनखशिखान्तं रत्नखचिता नर्त्तकी निःसरदनन्तचन्द्रा पौर्णमासी निशेव भास्वरा अनन्तचञ्चत्तारासमायुक्तं पारावताम्बरं शिरसा वहन्ती स्यूतरत्नवनीतकौशेयचण्डातका विद्युल्लेखेव मञ्चमुपेता। सा जानुभ्यामवनिं गत्वा बृहत् कमलकुड्मलं हनुस्पर्शेण विकाश्य अञ्जलावादाय स्मितेन सितयन्ती सभास्थलं जनसाधुवादेन सार्द्धमुपस्थातुश्चरणयोरार्पयत्। पार्श्ववर्त्तिनो ज्ञातं यदुपस्थाता महान् कलाकारोऽस्या गुरुश्चेति गुरुवन्दना।

अथ सा प्रतिस्पर्द्धिभिरनैकैर्वैणविकैर्मार्दङ्गिकैरनुस्वरं प्रक्वणद्भिरनुगता हस्तौ भ्रमयन्ती थिरकितपदन्यासा हन्वधः शिरसि मध्ये च हस्तं न्यस्यन्ती अङ्गुष्ठतर्जन्यौ परस्परं योजयन्ती मण्डलितचञ्चच्चण्डातका अलक्तकचित्रितहस्ततला विद्युदिव चञ्चाञ्चल्या झङ्कृतनूपुरा कदाचन चूर्णकुन्तलान् स्पृशन्ती कदाचन झणझणायमानां रसनां प्रक्वणयन्ती कदाचन मुद्रया हस्तौ संयोज्य विभजन्ती उत्तरीयं हस्तयोरादाय वातवेगेन रतिध्वजमिव प्रसारयन्ती 'पादतलेनापि तालं रचयन्ती चक्षुर्मुद्रया विश्वं विमोहयन्ती पक्ष्मविलासविभासिसौन्दर्या मुद्राभिरेव गानस्यार्थमुद्बोधयन्ती सप्रभमुखी ओष्ठमुद्रया

मनोजभावं मानवमानसे उन्निद्रयन्ती ग्रीवां मध्यञ्च वलयन्ती कमलकुड्मलायितावुरोजौ कम्पयन्ती कज्जलाक्षी प्रलम्बकृष्णकुन्तला दीपशिखातिलका साङ्गविक्षेपं नृत्यन्ती गातुमारभत :—

मम मनो व्याकुलम्
रात्रिन्दिवमलि ! मिलनं चिन्तत् । (स्थायी)
शीतः सान्द्रो वायुर्वाति
विद्युत् पत्या सह चाभाति
प्रोषितपतिका मुग्धा तरुणी
घनघोरघटां पश्यन्ती
भृशमेतद् ! उद्विजते ।
मम मनो व्याकुलम् (१)

उद्दीप्याशादीपं हृष्टा
अङ्गनमध्यमहो उपविष्टा
सज्जा भूषावेषाद्यै रलि !
द्रष्टुं श्याममुखं भृशमुत्का
सुविलम्बो मां तुदते ।
मम मनो व्याकुलम् (२)

तिर्यग्वीक्षणमधुरालापन-
हस्तस्पर्शैः प्रेमोत्पाद्य
चक्षुर्मेलं निद्रां हृत्वा
वशय न ताराः गणितुम्
प्रियतम ! त्वरमेहि ।
मम मनो व्याकुलम् (३)

उभयतो हस्ताभ्यां नवनीतचण्डातकमुत्थाप्य छनच्छननच्छनन्नूपुरा भ्रकुटिकोट्या कामकोटिं वशयन्ती विद्युल्लेखेव क्षणस्थिरा आपततो भ्रमरकान् कोमलप्रलम्बाभिरङ्गुलिभिर्मध्ये मध्येऽपसारयन्ती अङ्गुल्यङ्गुष्ठसाहाय्येन शिरसि मकुटमुद्रां रचयन्ती अपाङ्गे कर्णमूले नेत्रयोश्च हस्तं विन्यस्य विविधभावं प्रकाशयन्ती मध्ये मध्ये स्कन्धावुन्नमयन्ती मोहिनीव रराज ।

मध्ये भावोद्बोधनाय द्रुतविलम्बितां गतिमाश्रित्य आरात्तिकमुद्रां वा प्रकल्प्यागासीत्तदा भित्तिरिष्टिकाश्चापि धन्यवादान् व्यतरन् ।

मदोन्मत्त उपस्थाता सर्वेषां समक्षमेव प्रदर्शितानुरागस्तस्याः कम्बुकमनीये उन्नतवन्धुरे कन्धरे सप्तावलिहारं स्वहस्तेनाबध्य हस्तमायोज्यान्तःपुराभिमुखं गन्तुमना अभवत्। एतत्सङ्केतेन सर्व एवोत्थाय अपसस्रुः। अहञ्च कथमपि जनव्यूहं प्रतीर्य तमुपेत्य अनभ्यस्तदैन्योऽपि तं प्रसादयन्नवोचम् "स्वामिना समयो दत्तः" इति। परं मैरेयमत्तः कक्षीकृतकामिनीसमुपारूढगर्वो विगलितदन्तश्च्यवदोष्ठोऽस्फुटवाक् भर्त्सयन्नाह—"अपेहि नायमनेहा"।

अथाहं बहिरुपेत्य सहयोगिनः सूचयित्वाऽचलम्, द्वाःस्थः पुनरुपहाराय हस्तं प्रासारयत्।

"एतादृशस्य धनिनो द्वाःस्थस्त्वं किमु अस्मान् खेदयसि? समुद्रे क्व बिन्दोः स्थानम्"? अहमवोचम्।

"क्वात्र धनम्। स्वामी प्रतिमासं पञ्चविंशतिमुद्राः प्राप्नोति शासनतः, व्ययश्च प्रतिदिनं पञ्चशतम्। वर्षद्वयं व्यतीतम्, मासिकं मुद्रात्रयमेव न लभ्यते। शिशूनां पालनं भवादृशानां दययैव सम्पाद्यते" स उदतरत्।

* * * *

वयं समयात् पूर्वमेव न्यायालयमुपेताः। वाक्कीलस्यान्वेषणमारब्धम्। तत्र जनसमुद्रेऽन्वेषणमेव दुष्करं नवीनेन। परं तस्य लेखक उपलब्धः। सोऽब्रूत यदद्य गानवाद्यरसिको वाक्कील उपवनभोजने कस्या अपि गायिकायाः सम्मानभोजने सम्मिलित इति। पञ्चसहस्रमुद्राः गृहीत्वापि देशसेवकानां प्राणैः क्रीडां विचार्य मनो घृणया पूर्णम्।

न्यायालयो जनसमुदयेन परिपूर्णः। अप्राप्तस्थाना बहिरजिरे वृक्षाणामालवालेषु

दूर्वास्थले उपाविशन्। समये आरक्तवपुर्न्यायेशः शासनस्य विशेषाज्ञया नियुक्तैर्विधि-विशेषज्ञैः सह न्यायासनमलञ्चकार। अभियुक्तानामनुपस्थितावेव तेषां भाग्यनिर्णयः प्रारब्धः। बलये सज्जा अजा किं परामृश्यते? पौरजनैरप्येका समितिरभियोग-प्रतिरोधाय संग्रथिताऽऽसीत्। तया नियोजितो वाकीलः प्रार्थयत यदपराधिनां समक्षमेवाभियोगकार्यवहनं भवेदिति। शासकीयप्राड्विवाको विभिन्नच्छलैरमुं प्रस्तावं कार्यवहनबाधकं जनोत्तेजकं निर्णये प्रतिषेधकञ्चाब्रूत। परमस्मदीयप्राड्विवाकस्या-प्रत्याख्येयाभियुक्तिभिरन्ततः स्वीकुर्वता प्रधानन्यायाधीशेनोदघोषि यदपराधिनामुपस्थिता-वेवाभियोगः श्रोष्यते इति। परदिनाय श्रवणं स्थगितम्।

विधेरध्ययनं तु मया कृतमासीदेव, अधुना प्रकृतेः प्रवृत्तेश्च हेतोः प्रतिदिनमधिकः समयो विधिपुस्तकालय एव व्यत्येति स्म। कुशाग्रबुद्धिरुद्योगशीलः सद्यः साफल्यमश्नुते। श्लाघारहितो वच्मि यदहमधुना विधिज्ञो भूतः।

विषयस्य सङ्क्षेपणे, इतरशासननिर्णीतानामुद्धरणेऽहं सर्वदा संलग्न आसम्। एकदा विधिपुस्तकालये विधिविदुषा त्रिविक्रमपण्डितेन सह मम सम्पर्कोऽभूत्। एतस्य नाम मया श्रुतमासीत्। अयं यदा कदा न्यायालयमुपैति स्म। एषोऽधुनैतत्कार्यं "असद्"इति परित्यज्य गोसेवायामेव लग्नः। मया साधारणपरिचयेनापि सर्वोऽभियोगस्तस्मै श्रावितः। सत्स्वभावः श्रुत्वा प्रभावितो निःशुल्कमेवास्मानुपकर्त्तुं सज्जोऽभूत्। अयं महात्मा वाकीलः सर्वेषु महाप्रभाव आसीत्। परीक्षणप्रतिपरीक्षणरूपेण साक्षिणो जनाश्च तस्माद् बिभ्यति स्म। न्यायाधीशेषु वाक्कीलेषु वादिप्रतिवादिषु च तस्य समानः प्रभाव आसीत्। न्यायाधीशः स्वयं तस्य तर्काद् बिभेति स्म।

तस्य श्यामोज्ज्वला प्रलम्बा स्कन्धप्रसर्पिणी जटा शिखोन्नतं चञ्चल्ललाटं दीप्यमाने चक्षुषी उदग्रा नासा मन्द्रगम्भीरा तर्ककुशला वाक् च सर्वेषां शिरो नमयति स्म। तीक्ष्णया एकतानया दृष्ट्या अभिवादिप्रतिवादि पश्यन् मनोनिविष्टं भावजालं रहस्यं वा प्रसह्याहरिष्यन् प्रतीयते स्म सः। असत्यसाक्षिणस्तस्याकृतिं दृष्ट्वा पलायन्ते स्म।

परदिने गृहीतपञ्चसहस्रमुद्रोऽस्माकं वाकीलोऽप्युच्छूननयन आयातः। मद्यगन्धि तन्मुखं तस्य चरित्रं सडिण्डिमघोषमघोषयत्।

अद्य समस्मिन् नगरे सर्वेषु कर्मसु हरितालं[1] प्रसृतम्। नगरस्योद्बुद्धयो न्यायालय-मुपेताः। कारावासिनः सैनिकसुरक्षिताः समये समागताः। कारावासिनां सङ्ख्या अधिकाऽऽसीद्तो दशैवागन्तुमाज्ञप्ताः। आगतमात्रा एव ते "वन्दे मातरम्" "जयतु स्वतन्त्रं भारतम्" "उत्क्रान्तिर्जीवतात्"—इत्युद्घोषैर्विष्णुपदमेव व्याकुलयामासुः। असङ्ख्येयजनगलनादिना ध्वानेन न्यायसमितेरासनमेव दोलायितमभूत्।

कारावासिनः पुष्पमालाभिराच्छन्ना आयसं गृहमानीताः। भृतभुशुण्डीकानां सैनिकानां पङ्क्तिरभितः सज्जाऽऽसीदेव।

शासकीयप्राड्विवाकोऽभियुक्तानामपराधं पुनः श्रावयामास।

(१) अभियुक्तैर्मुग्धा जनता महाप्रतापं राजानं द्रुह्यन्ती कारिता। राजद्रोहः।

(२) सभायां वहवो वधा जाताः। नरहत्या।

(३) दुर्बलमनसां मनस्सु दुर्भावनां सङ्घर्षभावनाञ्चोत्पाद्य तेषां दुर्गतिकरणेन प्रजानां दौःस्थ्यम्। आदिरादिः।

प्रतिदिनं होराष्टकमेतत्कार्यं प्रचलदासीत्। शतशः साक्षिणो भारतीया अपि स्वतन्त्रतासङ्घर्षिणां विरुद्धं मुद्रालोभेनानृतं वक्तुं सज्जाः स्थिरीकृता आसन्। अभि-योगोऽयमादशभ्यो वर्षेभ्यश्चलन्नासीत्। अपराधिषु वहवो राजपुरुषैः परुषं ताडिता देहमत्यजन्, केचन रुग्णाश्चिकित्सालयेषु न्यवसन्। शासनस्य त्रिंशल्लक्षमुद्रा अस्मिन् व्ययिता आसन्। परं कार्यं निर्णयाभिमुखं नासीत्। अतः शासनेनैका विशेषा समिति-र्घटिताऽऽसीत्। अतः सर्वं बलं सर्वः समयोऽस्मिन् कार्ये लग्न आसीत्। पण्डितपुत्र-प्राप्त्याभियोगे जीवनं समेतम्। अन्ततोऽन्तिमं प्रतिपरीक्षणदिनमभ्युपेतम्। न्यायाधी-शानां मण्डलं चर्चरायिताभिरुपानद्भिर्मसृणकृष्णपरिधानैः प्रलम्बेन भ्राजमानं ग्रीवाबन्धनेन[2] चञ्चद्दण्डेनोपनेत्रेण मणिबन्धघटीं पश्यत् सम्मानिते उच्चैर्भव्ये कक्षे यथास्वमासने-षूपविष्टम्। सम्मुख एव वाकीलानामासन्यः सज्जा आसन्। पुस्तकेषु उद्धरणसौविध्याय दत्तपत्रखण्डाः सहयोगिभिस्तर्कसंग्रहकुशलरुपेताः परपक्षखण्डनपण्डिताः वाकील्य

---

१ संस्कृताध्येतारोऽशुद्धपदेषु हरितालमायोज्य सूचयन्ति स्म "इदमव्यवहार्यम्" एवमेवाद्यतने कर्मावरोधे। नायं हट्टतालस्यापभ्रंशः। तालकवाचकस्य तालस्य संस्कृतवाङ्मयेऽभावात्। २ न्यकूटाई।

अभ्युपेताः। अस्माकमात्तपञ्चसहस्रमुद्रोऽपि कथमपि लब्धावकाशः? स्खलदुपनेत्रः खेदस्वेदस्नातः पुस्तकीकृतचक्षुरागतः। होराचतुष्टयं यावदन्तिमं प्रतिपरीक्षणं जातम्। केशनिर्मोकमोचिनस्तर्का न्यायालयाजिरं मोहयामासुः। शेषेऽस्माकं त्रिविक्रमपण्डित आसीत्। जनकरतलध्वनिना वर्द्धितवाणीप्रवाहः प्रचुरोत्साहः कृतसंनाहः स न्यायाधीश-मण्डलाभिमुखीभूत्वावदत्। सर्वे श्रोतारश्चित्रलिखिता इवाभवन्। यदा कदा जनकरतल-ध्वनिस्तानवाधापयात्। तस्य भाषणस्य सारमिदमस्ति।

यदि कश्चन स्वभ्रातरं शिक्षयितुमुन्नेतुं स्वावलम्बनाय स्वोन्नत्यै वा प्रयतते स किं सापराधः? देशं स्वतन्त्रयितुं सेवकसंघटनं तेषां कर्मक्षमतोत्पादनञ्च तेषां नैतिकमुत्थानं न राजद्रोहः। शासनस्य प्रणालीं समालोचयन् स्वस्थचेताः किं द्रोग्धा? उत्कोचिनां स्वार्थसाधनाय परान् पीडयमानानामधिकारिणां समालोचने किं राजद्रोहः?

असंख्याता नरा नार्यश्च कारासु निगडिताः, बहवो वसन्ता वीतास्तेऽश्रुताभियोगा एव कारासु सीदन्ति, राष्ट्रं तेषामायत्यै चिन्तितम्। भारतं स्वतन्त्रयितुं कष्टं सहमानेभ्यो यदि दण्डं दास्यते, यद्यपि तेऽधुना दण्डमेव भुञ्जन्ति बहुभिर्वर्षैः कारासु कष्टं सहन्ते, तेनात्यधिका विरोधिनी भावना भारतीयेषु जागरिष्यति, येन शासनस्य महती हानिः सम्भाव्यते।

स्वोन्नतिः स्वातन्त्र्यं सर्वतः प्रथमो धर्मः। देशभक्तो देशेतरस्वार्थं यदि भनक्ति तदा न कोऽप्यपराधः। अयं नागरिकाचारोऽतः सदाचारो गण्यते। अत एते निर्दोषाः। अवरङ्गजीवकारातश्छलमाश्रित्य निःसृतोऽपि शिवराजो राजनीतौ न क्वापि सापराधो गणितः। स्वोन्नत्यै कदाचन स्वधर्मसिद्धान्तप्रतिकूलमपि समाश्रयन् न हेयो गण्यते।

स्वातन्त्र्यं सर्वेषां जन्मसिद्ध ईश्वरप्रदत्तोऽधिकारः। स नरहत्यापराधी यः स्वेच्छया परान् लक्षीकृत्य मारकरूपेण प्रहरन् सफलो भवति। आश्चर्यम्! शासनविहिता हिंसा लोकशिक्षकेष्वारोप्यते! सर्वा हिंसाः शासनीयराजपुरुषैः कृताः। अतो नास्त्ये-षामणीयानपि दोषः। न्यायस्य मर्यादायामेते सर्वथाऽदोषाः। न्यायस्य परिपाटयाः पालनं न्यायालयस्य प्रधानं कर्म इति।

न्यायाधीशानां कृते सङ्कटमुपस्थितमासीत्। परीक्षणप्रतिपरीक्षणेन तेऽभियोगतथ्यं सर्वथाऽवागच्छन्। तेन कारावासिनामपराधः प्रमाणितो नाभूत्। परं कथङ्कथमपि ते दण्डव्यवस्थां ददुरेव। द्विशती तेषां निरपराधोद्घोष्य मुक्ता। त्रिशती दशवर्षकारा-

वासेन पञ्चशती पञ्चवर्षकारावासेन दण्डिता। कारासु निवसतां दण्डः समाप्तप्राय आसीत्, अतः सर्वे तत्क्षणमेव मोचिताः पौरप्रतिष्ठानस्य विशालं भवनमुपेताः जनसमूहेन सोल्लासं सत्कृता रात्रावेव चित्रपुरमायाताः।

कार्त्तिककृष्णपक्षः। दीपावलीमहोत्सवो बहुभिर्वर्षै रुद्ध आसीत्। मृत्युमुखं विशतां कोऽवसर उत्सवस्य? सर्वे दीनवदना अल्पिताशा हतोत्साहा हीनहासा दृश्यन्ते स्म, तेषु महोत्सववार्त्तैवार्त्तिकरी। सर्वेषु कारावासिषु मुक्तेषु राजाज्ञयोत्सवश्चक्रे। सुधाकारिणां कारूणां महर्घता सम्पन्ना। तैरहोरात्रं गृहाणि धवलयद्भिर्भोजनवेलैव न लब्धा। इतः पटरागिणां काष्ठरागिणामप्यभावः। सर्वेषां मुखे मनसि चानन्दः। सर्वेषां करौ पादौ च परिमार्जने लग्नौ। गृहा अवकरनिकरव्याप्ता विपणयश्चाद्य सङ्करकूटमुदगिरन्। पौरप्रतिष्ठानस्य भृत्याः सरणिसङ्करपरिमार्जनायां प्राचुर्येण व्यग्रा अनवरतं महिषैर्गर्दभैर्वहन्तो व्याकुला आसन्। नगरे नवीनं जीवनं समेतम्। सुधालिप्तैर्गृहैः, रागरक्तैश्चित्रचित्रितैस्तैलस्निग्धैः कवाटैश्च नगरं विचकास। मलिनं मालिन्यं ह्रिया गर्त्तगतमभूत्। संसरणानि जननिरीक्ष्यतां भेजुः।

महालक्ष्मीरात्रौ प्रदोष एव गृहेषु विचक्रुर्दीपावल्यः। विविधं न्यस्ता दीपपङ्क्तयो संसरणं दीपयामासुः। विलक्षणरागः प्रकाशः प्रकाशते स्म। कान्दविकाश्चेतः प्रसादयद्भिर्लालामाश्चयोतयद्भिः स्वर्णरजतपत्रलिप्तैः सवैचित्र्यं न्यस्तैः काचमञ्जूषां जुषमाणैर्मिष्टान्नैर्विपणिं पूर्णयामासुः सौन्दर्येण। इतः फलविक्रेतारोऽपि दाडिमजम्बीराङ्गूरैस्तरङ्गितपिठराः पुरुषानाकर्षयामासुः। वस्त्रापणिकानां विपणयोऽद्य प्रोज्ज्वलाभासैर्वासोभिर्दीप्यन्ते स्म, येषु पटप्रभां द्विगुणयन्तः प्रकाशा अवलम्बन्ते स्म। मनोहरमञ्जूषासु विधृतस्वर्णरजतभूषणा भूषणविक्रेतारश्च चक्षुर्वशयन्ति स्म। ताम्बूलिकानां विपणिष्वद्य मेलापक इव लक्ष्यते स्म। तेषां वार्त्तावकाश एव दुर्लभः। परिणामे परिदेविनो द्यूतदेविनश्चाद्य राजाज्ञयाऽदीव्यन्। युगपद्वचनोद्भवस्तेषां कोलाहल आकाशमपि व्याकुलयति स्म। तेषु केचनाहसन्, परे उदासत।

अभितो वेदध्वनयः श्रूयन्ते स्म। विभविनां भवनेषु गायका गायन्ति स्म। रमणीभूषणशिञ्जितानि विजयन्ते स्म। पटवासवासितवसनाः परस्परालापप्रकटितप्रेमाणः पुरुषाः प्रेक्ष्यन्ते स्म। यथारीति सम्पन्नोऽभूदुत्सवः।

अपरदिने सभाभवने समासीनेष्वखिलेषु सामन्तेषु, प्रतिष्ठितेषु नागरिकेषु च, वाग्विस्तारकयन्त्रेषु च लग्नेषु एकस्मिन् स्वर्णासने स्थिते मयि सज्जायां च समज्यायां राजा राजसिंहासनादुत्थाय सभ्यान् सम्बोध्याब्रूत :—

प्रियाः ! सभ्याः ! विदितमेवैतद् यन्नगरजनमनःसरसिजविकासकस्य वीरवरविरोचनस्य श्रीचन्द्रकुमारस्य स्वागतचिकीर्षया आभारप्रदर्शनमिषेणैतस्य महत उपकारस्य कृते किमपि देयमसमीक्षमाणाः केवलान् साधुवादान् दित्सामहे, इत्येव महोत्सवस्य विषयः । महत आनन्दस्यावसरो यत् श्रीचन्द्रकुमारो वीर्यविजितेन्द्रस्य श्रीनवेन्दुपालस्य पुत्रो विमलपुरनन्दननरेशयोश्च जामाता विद्यते ।

प्राणप्रदात्रे प्राणदानमपि स्वल्पदानम्, परन्तु 'अदानान्मन्ददानं श्रेय, इति कृत्वा कामपि तुच्छां सत्कृतिं कुमारचरणरेणोराशदाधास्ये । श्रीमन्तो जानन्ति यदस्माकं पूर्वो महाराजो मह्यं तेजोऽतिशायित्वेन पालकत्वाच्च राज्यं दत्तवान्, ते गुणा अद्य मयि हीनाः, उपनवतिवया अहं प्रजाः पालयितुं सर्वथाऽसमर्थः । अतोऽहं राज्यं लोकस्य न्यासं योग्ये सर्वधुरीणे समर्पयन्ममैकमात्रसन्तत्या राजकुमार्याश्चम्पायाः पाणिपल्लवमप्युपहरामि । अनेन कर्मणास्माकं पूर्वस्य राज्ञः प्रणाली पालिता भवति या नितरामुपयुक्ता इति ।

प्रशंसतां जनानां साधुवादेन सहैव मच्छिरसि छत्रं चामरयुगले च संलग्ने । ततः सल्लग्ने व्यूढा चेयं चन्द्रिकाचयाचितेव, नवनीतनिर्मितेव, मृणालमृदुला, सघनवटच्छायेव नवकिशलयकलितद्रुमावलीव शीतला, मन्दमुग्धस्मिता, शस्यश्यामला वसुधेव सञ्जीवनी, लावण्यलीलाविस्तारिणी, वीणावाद्यप्रवीणा, मुकुरविमलकपोला, हिमशुभ्रवदना, रुक्मिणी, सत्यभामाऽनुराधा त्वमिवापरा चम्पा । ततश्चैतद्दुर्गं प्राचीनं, जीर्णोद्धारेण नवनिर्माणेनाभिनवतां नीतम् । दैवात्त्वमपि लब्धचराप्यद्य लब्धा, पुत्रावपि ।

सम्प्रति सुखी समृद्ध्या यशसा राज्येन स्त्रीपुत्राभ्याञ्चेत्येव ममोदन्तः ।

श्रीविद्वद्रुचिरं नितान्तमधुरं वागीशवन्द्यं लस-
शास्त्रं तन्त्रकृतस्त्रि विद्रसिकपाणावाहितोऽगाद्भुवि ।
रम्यं मानिमनश्चिरं रमयतां तस्याष्टमोऽयं वचन्
द्रष्टैतस्य भवेन् मयूखमहितोऽहीनो गुणैः सत्कृपः ॥१॥

इतिश्री—

समस्तशास्त्रशास्त्रव्रततिततिपुष्करधरस्य पुराणमकरन्दमधुकरस्य
महामान्यविपश्चित्तल्लजस्य श्रीनवरङ्गरायशास्त्रिणः पुत्रस्य
विश्वविश्रुतविपश्चिन्मण्डलाखण्डलानल्पदर्पदलनदक्षस्य
तस्यैव गुरोः परमानुकम्पाऽव्रणपात्रस्य काव्यालङ्कारस्य
श्रीनिवासशास्त्रिणः

चन्द्रमहीपतौ निरगादयमष्टमो निःश्वासः ।

अखिलवैदुष्यरूपया श्रिया युक्ता ये विद्वांसस्तेभ्यो रुचिरम्, साधारणजनायापि नितान्तमधुरम्, लसशास्त्रम्, अतएव वागीशैर्वन्द्यं किमपि वचन्—ब्रुवन् विदां रसिकानां पाणौ आहितश्चन्द्रमहीपतिनामको ग्रन्थः भुवि ज्ञानिमनः चिरं रमयताम्। एतस्य द्रष्टा च ज्ञानपूर्वकं चक्षुषा पर्यवेक्षकोऽध्ययनशीलः, मयूखैरिव विविधैर्विषयैः महितः युक्तः अतएव गुणैः अहीनः=पूर्णः सतां कृपा यस्मिन् एवंभूतो भवेत्। तस्यायमष्टमो निःश्वासोऽगात्। पद्येऽस्मिन् श्रीनिवासशास्त्रिणा विरचितश्चन्द्रमहीपः—इतिवाक्यं निःसरति।

———

नवमो निःश्वासः

विद्वज्जनसम्पर्को नष्टेष्टज्ञातिदर्शनाभ्युदयः ।
कस्य न सुखाय भवने भवति महारत्नलाभश्च ॥

मीनवती नयनाभ्यां चरणाभ्यामपि प्रफुल्लकमलवती ।
शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुन्दरी सरसी ॥

अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीं
फुल्लारविन्दनयनां तनुरोमराजिम् ।
सुप्तोत्थितां मदनविह्वलसालसाङ्गीं
विद्यां प्रमादगलितामिव चिन्तयामि ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

रचना विरच्यमानाऽनुपदं क्लेशयति नव्यवामेव ।
कालेन परिचिता सा सुकरा गलभूषणीकर्त्तुम् । अत उपसंहराम्येनाम् ।

शक्तिधरो मनोमोदिन्या कुमुदिन्या प्रचितपलया चपलया साहसन्यक्कृतराजन्यया सरोजिन्या च सहितः समायातो राजनगरम्, स्वकीयं चन्द्रस्य च वृत्तं राज्ञः पुरो न्यवेदयत् । सरोजिनी बालारुणं विना प्रभातमिव मन्दमलयसमीरं विना कुसुमितवसन्त इव प्रेयांसं विना नाधिकमराजत, किन्तु किङ्कुर्यादन्तत एकाकिन्येव श्वश्रूपादौ स्पृष्ट्वा प्रासादं प्रविष्टा । चन्द्रविलम्बे शक्तिधरस्य सरोजिन्याश्च विशेषतः शङ्कितमभूच्चेतः, परं परमविनोदिनोऽस्य सम्भाव्यते विनोदविलम्ब इति विचार्य किञ्चिदात्तधैर्यं बभूव मनः । मास ऋतुरयनम्, ऊनवर्षो वर्षः, प्रतीक्षायामेव व्यतीयुः । शतशः सूर्या उदिता निमग्नाः, सुदीर्घाणि अहान्याययुः श्यामानि बभूवुश्च । विशाला निशा राज्यं तेनुर्नेशुश्च, विटपा विचकसुः काण्डमात्रयावतस्थिरे च । परं चन्द्रो न समायातः । महाराजो विचित्रप्रश्नैश्शक्तिधरं प्रतिदिनं खेदयति ।

पुनः पटवः प्रेरिताः, पुनर्वियोगवारां निधेः शोकसागरस्य च प्रवाहोद्गाराः प्राबल्यं प्रापुः। मालिन्यं पुनर्मनुजसुखमण्डलान्यभजत। महाराजे मन्त्रिणा मन्त्रयति द्वाःस्थो गुप्तविभागाध्यक्षागमनमसूचयत्। इङ्गिताज्ञतः स तं प्रैषयत्। स च त्रिः प्रणम्यासूचयत्—

'देव, महत्या सेनया राजनगरमधिगन्तुकामश्चित्रपुरेशः समेति। शतं शिबिकानाम्, प्रतिशिबिकं निष्कोषनिस्त्रिंशानां बलवद्वपुषां पदातीनां शतम्, भौशुण्डिकानां सादिनाञ्च त्रिशती, मदमत्तमातङ्गस्थायिनां द्विशती, भल्लकराणां नराणां चतुःशती। विज्ञानबला असंख्यातयन्त्रा परा सेना, तस्या रक्षायै चाश्वारोहिणां पदातीनाञ्च दशसाहस्री। परा च मरुत्तरारूढा वस्तुजातरक्षायै पञ्चसाहस्री। सहस्रशश्च कर्मकराः सेवकाः पाचका निवेशकाः। प्रतिदिनं गव्यूतिपञ्चकं प्रचलन् वनाद्वनं कृतनिवेशः समायाति।'

राजा०—दुर्दैवेऽविचारितागमना विपदः स्फीता भवन्ति। मन्त्रिन्, को विचारः?

मन्त्री—युवराजे गते सर्वत्र शिथिलता विद्यते विभागेषु, अस्यां स्थितौ सन्धिरेव गरीयान्।

राजा०—नहि नहि, एतन्न भवितुं शक्नोति।

महाराजो नवेन्दुर्वीर आसीत्। शक्तिधरप्रबलावपि गणनीयगुणावास्ताम्। एतेषां साहसगिरा निर्जीवानां मानसेऽपि साहसविक्रमाभ्यां समचारि। राजनगरसेना जगद्विदितपौरुषासीत्, चन्द्रे गते शिथिलता तामजूगुहत्, तथापि समुद्रः शुष्कोऽपि मानसं सरस्तिरस्कर्त्तुं प्रभवत्येव।

विभागास्त्वासन्नेव, विद्युत्स्पर्शेनेव तेष्वेका नवीना स्फूर्त्तिः समाजगाम। जलसेना जले वियद्वाहिनी च वियति, मरुत्तरचमूश्च स्थले सज्जिता। [१]छत्रधारिसैनिकाः स्वाभ्यासं वर्द्धयामासुः। नगरमन्धतमसेन[२] परिचितं कारितम्। समुद्रे प्रकाश[३]-स्तम्भानां प्रबन्धका नियुक्ताः। जलनिमज्जिन्यो[४] विरङ्गीकृतरणपोताः सुरङ्गाश्च[५] समुद्रे प्रसारिताः। परं परप्रपीडकास्तारपीडकाः[६] परपीडायै प्रेरिताः। आटङ्कना[७] लोहस्य चञ्चला दुर्भेद्यदुर्गा भीषणशक्त्या जगदुट्टङ्कयामासुः। सहस्रध्न्यो दलमर्दनतोपा अद्य

---

१ पैराशूट २ अन्धेरा (Black out) ३ (Light-house) ४ पनडुब्बियां ५ सुरङ्गें ६ तारपीडो (Torpeedo) ७ टैङ्क (Tank)।

तैलस्निग्धा बभूवुः। जगतीं सन्देहसिन्धौ जुघुक्षितुं विषोद्गामका वमाः विस्फोटकवमा[1] नगरभस्मकर्मणोऽग्निवमा[2] शीघ्रविस्फुटनशीलाः,[3] समयापेक्षिण[4]श्च वमाः प्रचुरमात्रया निर्मिताः। गोलिकोद्गामिनीनां[5] शक्तिः परीक्षिता। नरसंहरणा विषाक्ता[6] अश्रुसारिणः[7] क्षाविणः[8] तोदोत्पादिनो[9] विसर्पसम्पादिनश्च गेषाः,[10] प्रभाव-प्रचारेणैव भुवं भीषयाञ्चक्रिरे। परप्रयुक्तान् गेषान् व्यर्थयितुं दुष्टवातोपरोधिका[11]-सङ्ग्रहः समारब्धः। परमसुन्दर्यो गानवाद्यप्रणयलीलाप्रवीणा वीणाकण्ठ्यश्चरतामाचेरुः। [12]वासोयन्त्राणि सैनिकवाससां कृते नियन्त्रितानि। तारविभागे,[13] दूरालापयन्त्रविभागे,[14] [15]अतारवृत्तोद्घोषकविभागे च राजनियन्त्रणानि स्थानचक्रुः। राजभवनानां धनिभवनानामुपरि पार्श्वतश्च सिकतासंग्रहः समजनि। चिकित्सालयेषु विशेषचिह्नान्यङ्कितानि। शिशूनां स्त्रीणाञ्च कृते पृथग्व्यवस्था प्रारभ्यत। भूरक्षागृहाणि[16] प्रचुरमात्रया सत्वरसत्वरं निर्मितानि। वायुयानविध्वंसकतोपाः[17] भविष्यन्निर्देशकयन्त्रेण[18] उच्चतानिर्देशकयन्त्रेण[19] च संयुक्ता आश्चर्यकरं कृत्यं चक्रुः। वायुयानदर्शनाय प्रशक्तीनि प्रकाशयन्त्राणि[20] आविष्कृतानि। समस्मिन् राजनगरे यानान्तनजालाः[21] प्रसारिताः। गुप्तभाषाप्रयोगाः

---

१ वमतीति वमः "टुवम् उद्गिरणे" 'पचाद्यच्'। विस्फोटयतीति विस्फोटकस्तस्य पदार्थस्य वमा इत्यर्थः। (High explosive bombs) २ दाहकवम (Incandiary bombs.) ३ पृथ्वीपर गिरते ही फूटनेवाले Immediate bombs. ४ टाइम पर फूटनेवाले वम (Delayed Action Bombs)। ५ मशीनगन Machineguns, ६ जहरीली गैस (Poisonous gases)। ७ रुलाने वाली गैस Tear gas। ८ छिंकाने वाली गैस Nose irritant gas। ९ चुनचुनाहटपैदाकरने वाली गैस Lung trritant gas। १० फफोले उत्पन्न करनेवाली गैस Blister gas। अत्र सर्वत्र गेषृ अन्विच्छायामित्यस्मात् घञि 'गेष, शब्दः। अन्विच्छा = अन्वेषण-माविष्करणमितियावत्। ११ गैस के असर को न होने देने वाली टोपी Gasmasks। १२ काटनमिल्स। १३ तार। १४ टेलीफोन। १५ रेडियो। १६ जमींदोज रक्षागृह। १७ हवाईजहाज को नष्ट करनेवाली तोपें Anti Aircraft Gun. १८ जिससे यह मालूम होता है कि गोला जब वहां पहुँचेगा, वहीं जहाज भी होगा। १९ जहाज की लम्बाई मील, फीट, इञ्चोंमें मालूम करने का यन्त्र। २० अधिक पावरवाली लाइट। २१ वैलून वैरेज (Baloon Barrage) एकतरह का जाल, जिससे रगड़ लगते ही जहाज में आग लग जाती है।

सङ्केतलिपयश्चार्थप्रापणे नवां रीतिमनुसस्रुः। पक्षिणोऽपि श्वानोऽपि शिक्षामासेदुः। सूक्ष्मबुद्धय इन्द्रियज्ञाननिपुणा विविधभाषाप्रवीणाः, लिपिजालालंबुधा तत्त्वबोधविभागे[1] नियुक्ताः।

लघवो युद्धपोताः[2] रक्षकपोताः[3] सहायकपोताः[4] औपचारिकपोताश्च[5] विविध-सम्भारैः सम्भृताः।

अद्य राजनगरस्य चत्वरान् चतुष्पथसमुद्रानभितोऽभिनव आहवकोलाहलस्तरङ्गायते। सोऽयं वारणार्थानामोप्सितः कालो वर्त्तते। अलङ्कर्मीणेषु नवयुवकेषु किमु प्रौढेष्वपि नवीन उत्साहो मुखरीभवति। सर्वेषां करौ श्मश्रुसाधने लग्नौ स्तश्चक्षुषोश्चारुणिमा प्रेक्ष्यते। परितो वीरतावरवचांस्युच्यन्ते श्रूयन्ते च। भटानां वीरभावो भेरीभाङ्कारेण दुन्दुभि-ध्वानेन चतुर्गुणितो भवति। युद्धवाद्येन योद्धृणां पादाः स्वयमग्रतश्चलन्ति। पूर्णौजसोऽत्यन्तीना अश्वा अपि रणकण्डूमपनेतुं सर्वप्रथमं जिगमिषया कृच्छ्रेण सादि-भिर्वार्यन्ते। मदमत्ताः करटिनो घण्टाघोषैर्विश्वं वाचालयन्तः प्रावृषेण्याः सविद्युतो वारिदा इव अभितो भ्रमन्ति। खड्गानां खणत्कारेण कुन्तानां प्रभया भुशुण्डिकानां तोभानां तुमुलेन शब्देन शङ्खानां ध्वनिना सर्वा दिशोऽद्य परस्परमालपन्त्य इव प्रतिभान्ति। सर्वोच्चदुर्गशिखरेऽभिमानलालिता जगन्मानिता कीर्त्तिलतेव विजयपताका फर्फरायते। मुकुरमनोहरे, निर्मलनिर्मले, प्रोच्चप्रोच्चे आकाशे हर्म्याणां कनककलशाः, विरोचनकिरण-कुलेन धौता इव विश्वं विहसन्ति। तत्र तत्र वातायनेषु स्थिताः सौभाग्यसुन्दर्यः कमनीयाः कन्याश्च पुष्पाणि पुष्पमालाश्च विकिरन्ति। यत्र तत्र वन्दिवृन्देन वीरवराणां वर्णना वर्ण्यन्ते। भगिनीभिर्भ्रातृभाला भूष्यन्ते। कश्चन संवर्मयति, इतरोऽनुलोमयति परोऽभिषेणयति।

मन्त्रणामन्दिरे मन्त्रिणो मन्त्रस्याषडक्षीणतामक्षीणयितुं सप्रयत्नाः प्रतीयन्ते। अभितः सतर्काः धृतद्विनलिकाः सैनिकप्रहरिणः सदर्पं भ्रमन्ति। एको दूतश्चित्रपुरनामा-ङ्कितपदकप्रतिष्ठ आगत्य प्रहरिणमसूचयद् यत् "स चित्रपुरेशस्य पत्रवाहकोऽस्ति

---

१ सैन्सर। २ छोटा जंगी जहाज Sloop। ३ Escort ship. ४ Auxilary Vessels. ५ Hospital Ship.

महाराजं दिदृक्षते" इति। प्रहरी च तं प्रहरिपञ्चकमध्ये न्यस्य, तद्वृत्तं सभास्थं राजानमसूचयत्। स च तस्यागमनं दूतागमनविधिनानुमुमुदे। क्षितिनिबद्धपट्टिकः स परित आसन्नसभ्यायां परिषदि समागत्य महाराजं ददर्श यत् कुङ्कुमेनाङ्कितोऽङ्कितोऽकुण्ठितः शास्त्रेषु गुम्फितो गुणरत्नैः, अनुस्वारस्य यथि परसवर्ण इव सोदाहरणो राजा राजते। तञ्च त्रिः प्रणम्य जननेत्रैर्विविधभावभङ्गया वीक्ष्यमाणः पत्रं प्रादात्। महाराजः पत्रं पृष्ठतोऽवलोक्य मन्त्रिणं पठनायादिशत्। अमात्यश्चोद्घाट्य प्रपठ्य हृष्टो राजानमप्यश्रावयत्।

श्रीमत्तेजःशान्तस्वान्तसमस्तसामन्तदेदीप्यमानागणितमणिखचितमौलिमुकुटघृष्टोज्ज्वलनखदीधितिततिनाशिताशेषभयतमस्सु, असन्त्रस्तप्रजासुखाट्टहासप्रकाशसमुत्पन्नयशःपुञ्जसितीकृतत्रिविष्टपेषु प्रत्यग्रभास्करायमाणेषु श्रीपितृचरणेषु सादरं सस्नेहं क्षमायाचनपुरस्सरं प्रणमति।

चित्रपुरम् } भवतां सुचिरवियुक्तः कुपुत्रः चन्द्रः।

अथ चन्द्रस्य पत्रमिदमिति मुखरितेष्वखिलेषु शोभनमापतितमिति विचारयत्सु वीरम्मन्येषु भ्रमव्यग्रे च राजनि पत्रवाहकेन सह मन्त्रिण एवमभूदालापः—

"कुशली कच्चिच्चन्द्रो महाराजः?"

"आं देव।"

"जाने क्षत्रियोऽसि।"

"आं देव।"

"शरीरेण साहसेन पुष्टश्चन्द्रः?"

[स्वकीये राज्ञि एकत्वप्रयोगेण खिन्न इव] "आं देव!"

"किं महत्या सेनया चित्रपुराधीशत्वेन समायातश्चन्द्र एव?"

"आं देव!"

"चित्रपुरत एव त्वां प्रेषितवान्?"

"आं देव!"

"तदा किमस्मत्सत्क्रियामपेक्षते सः ?"

"आं देव !"

"तर्हि सूचय वयमायास्यामः।"

"आं देव !"

"किं चन्द्रेण 'आं देव'—इत्येव कथयितुं नियुक्तः !"

"आं देव !"

वार्त्तैव परिवर्त्तिता। इक्षिवन्द्रायणयोराम्रनिम्बयोः, दीनारकपर्दयोः, सुभिक्षदुर्भिक्षयोः युद्धसन्ध्योरिव भेदो बभूव। शत्रोरभिमुखं प्रयात्री महती सेना चन्द्रस्वागत-चिकीर्षया प्रोज्ज्वलमानसा बभूव। कर्णाकर्णिकया क्षणेनैवैष समाचारः सर्वत्र प्रसृतः। मलिनमुखे नगरनरे विलक्षणा दीप्तिरागता। सर्वे सम्मिल्य पताकाभिः संसरणसेचनैः परिमलविटपन्यासैर्मालामालाभिर्द्वाररचनैश्च पुरं पुरन्दरपुरयामासुः।

*　　*　　*

हीरकपञ्जरस्थकीरगिरा विघूर्णिते प्रासादे रम्यासन्द्यामासीना राजमाता। भित्तिं भजमानानां भ्राजमानानां विटपानां पुष्पलतानां सौन्दर्य्यं भवनसौरभञ्चादाय धीरधीरः समीरो विश्वस्मिन् वितरितुमिव वाति। सरोजिनी च सत्यपि सखीशते दासीसहस्रे परमप्रेमप्रवृद्धप्रणया स्वयमेव लघुना व्यजनेन व्यजयति। करकलितकीरा कुमुदिनी च शिल्पिनो नैपुण्यवीक्षणे निमग्नचित्ता अधस्तादुपरिष्टात् पार्श्वतश्च हर्म्यस्य रचनां सौन्दर्यं दौर्बल्यं द्वाराणि अवस्थानञ्चेक्षते। सैव हर्म्यरक्षायै अधिकृता। शतशो दास्यस्तस्या आज्ञया परितो भ्रमन्ति। एका दासी तस्याः कर्णान्तिकं शनैरवोचत्। सा च सरोजिनीम्।

सरोजिनी०—सत्यं कथयसि वा व्यामोहः ?

कुमुदिनी०—व्यामोहः ? महाराजमुखाच् श्रुतम्।

सरोजिनी०—किं श्रुतम्।

कुमुदिनी०—यच्चित्रपुरेशत्वेन तव सौभाग्यसिन्दूरं समायाति।

सरोजिनी०—क्वास्ति द्वारि।

प्रतिहारिणी०—(प्रविश्य) आज्ञाप्यतां महाराज्ञि !

सरोजिनी०—ज्ञायतां राजसभासंवादः।

* * *

योजनदीर्घः समारोहोऽयं नगरसंसरणानि व्यापत्। हर्षवर्षप्रसन्ना भूमिरिवेय आकाशमपि विदितवृत्तं चकार। तोपानां निनदेन दिशोऽपि विज्ञपिता।

समये राजभवनं प्रविश्य अश्रुस्नपितपितृपादः पितरं मोहमुग्धमूर्खीं मातरञ्च प्रणनाम चन्द्रः। प्रणेमतुश्च हर्षभुवनेशौ।

अथ सरोजिनी कविकामिनीव कृशा प्रोच्चविचारा कमलां प्रणम्य प्रश्नशतेन कुशलमपृच्छत्। कमला च कमनीयाङ्गुल्या चम्पां निर्दिशन्ती सर्वमसूचयत्। करुणमानसा सरोजिनी च प्राणप्रियाणामेतां विपत्तिं संश्रुत्य नाशकद्रोद्धुं वाष्पाणि।

* * *

"देव, महतो दुःखस्य विषयः, महामात्यो विद्याधरः संन्यासाक्रान्तोऽकस्माज्जगजहौ" —कृष्णवस्त्रेण भृत्येन महाराजो नवेन्दुर्न्यवेदि।

"आः विद्याधरो दिवं गतः, अधुनैव मया सह बहुशो राष्ट्रिययोजनास्वालप्य गतो मृतश्च हन्त? कीदृक् क्षणभङ्गुरमिदं शरीरम्, कीदृशो व्यामोहः, अशीतिर्मामकीनं वयः, तिस्रः परमसुन्दर्योऽप्सरस इव स्नुषाः सोदर्या इवाकलहाः मृदुलस्वभावाश्च, प्रियतिसा जगद्भ्रमणविपुलप्रतिभश्चन्द्रः सुभगौ पौत्रौ, सुव्यवस्थप्रजञ्च राज्यम्, तथापि नाहं त्यक्तुमुत्सहे, अनन्तेयं मोहनिद्रा हन्त!

"भृत्य! यानमायोजय शीघ्रं मां गुरुसमीपं प्रापय—" नवेन्दुना प्रोक्तम्।

* * *

"गुरो! कीदृगयं संसारः कथमस्मादावर्त्ताद् बहिर्गन्तुं शक्यते"?

राजन्, अज्ञानमेव बन्धनम्। अजानन् यथा पुमान् नवनगरे भ्रममनुभवति तद्वत् दुःखञ्च तथा न जानन्। ज्ञानमेव मोक्षः, अज्ञानमेव बन्धनम्। सृष्टिरियं मायात्मिका। नात्र सुखम्। पुमानलीकसुखाशया भ्राम्यन् दुःखमेवाप्नोति। सुखं तु केवलं भगवत्तत्त्वानुसन्धानम्। त्वमत्रैवैकान्ते निवसन् मदुक्तविधिना व्याप्रियमाणो न चिरेण प्राप्तव्यमधिगमिष्यसीति मे विश्वासः

* * *

"वन्द्य पण्डित, किं नाम भवतः"?

"महाशय! मां जनाः के. के. शास्त्रीति भाषन्ते"।

"के. के. शास्त्रीत्यस्य कोऽर्थः"?

के. के.०—अर्थन्तु⋯भाषका एव जानन्ति, परं लोके भाष्यते मन्नामैतत् सैनिक!

सैनिकः०—(सहासम्) एतदेव पृच्छयतेऽनर्थकं सार्थकं चैतत्?

के. के.०—को जानीते।

सैनिकः०—कः = ब्रह्म व जानाति?

के. के.०—(अनपेक्ष इव) सम्भाव्यते।

सैनिकः०—(सादरम्) मर्षत्वार्यः। उत्कण्ठाकलितचेतसा पृष्टम्।

के. के.०—केचन कविताकामिनीकान्तः, परे च कमलाकान्त इति स्वरूपं प्रकाशयन्ति।

सैनिकः०—आ एवम्। आङ्ग्ललिप्यनुरूपम् (किञ्चिद्विरम्य) किं क्रियतेऽत्र महानुभावेन!

के. के.०—किं क्रियते, अस्मिन् काले किमपि कर्त्तुं शक्यते? कः पृच्छति पण्डितानद्य, कोऽद्य पिपठिषति संस्कृतां वाचम्। दोहासवैयारचयितृणामल्पज्ञानां केवलं कण्ठमधुरिम्णा मोहयितृणां तथाकथितानां नवीनानां कविम्मन्यानामद्य सम्मानः। साद्य जगद्भाषाजनन्यपि विश्वेनोच्यमानापि विभिन्नरूपेण, मृतभाषेति शब्द्यते म्लेच्छभाषाविद्भिर्नवीनैः। संस्कृतज्ञानां सुदुस्तरतरा दारिद्र्यापगा प्रतिदिनमेधते। यया प्रपीड्यमाना मानमहोदधिचराश्चक्रवर्त्तिभिरपि प्रत्यहमर्च्यमानचरणयुगलचराः सम्प्रति अविगणय्य अम्बरमण्यगणितगभस्तीन् खेदस्नाताः प्रतोलीतः प्रतोलीं पर्यटन्ति वचक्नवः। येऽञ्जलिजलमात्रतुष्टास्तपोधना राज्ञोऽपि वाहीकृत्य चेलुः, सक्रोधेषु येषु लोकपालानामपि त्यक्तस्थैर्यधैर्यं मनः, त एते प्रक्षीणतपोवैभवा अज्ञातजातीनां धनिनां गृहेष्वनाहूता यान्तो विना प्रणाममाशिषं वदन्त उद्गारे जृम्भणे च 'चिरञ्जीव' इत्यादि ब्रुवन्तो मिथ्याचाराः ध्वाङ्क्षायन्ते।

असत्योत्कोचद्यूताधिगतधनाश्चरित्राचारविरहिता धनिनश्च समुद्रफेनसुधासारकारण्डवाण्डपटलायितसितहितशीतवसनविभूषिताः कुन्तलतैलपरिमलेन भवनमामोदयन्तः पक्षद्वारलग्नोशीराः शीततापनियन्त्रकेण सेव्यमाना राजतपादपेषु मञ्चेषु स्थिता

वैधसमिव तजयन्तः स्वस्योत्पादकान् वर्द्धकांश्च ब्राह्मणान् भर्त्सयन्ति। धर्मरक्षकाः प्राधान्ये-नासन् क्षत्रियाः, परं तेऽधुना मांसे मद्ये च शौर्यं चिन्तयन्तो निरन्ना जठरज्वालानिर्वापाय पशून् घ्नन्तोऽनुपनीता व्रात्याः कन्याहननपातकिनः परस्परविरोधविनाशितधरा विशां लालाटिकतां कुर्वन्तस्तेषां पुत्रोत्सवे सम्मानं लभन्ते।

राजानश्च विलासाचारेणावकाशमेव न लभन्ते दुराचारा वेश्याभक्ताः।

सैनिक, विचित्रचरित्रोऽयं कालस्ततयशोराशीनकारणबन्धून् राज्ञोऽपि भिक्षुकान् करोति, धर्ममूर्त्तीन् हरिश्चन्द्रादीन् शकृच्छोधनजीविनः श्मशानसेविनो निष्व्यस्य भृत्यतामुपनयति सौदासादींश्च नरभोजित्वं प्रापयति।

दृश्यतामस्मिन्नेव नगरेऽस्माकं युवराजश्चन्द्रो विद्याबुद्धिविवेकवित्तोऽपि प्रेयसी-प्रणयपूजनप्रेमा विलासासक्तः समयमतिवाहयति। नितरां योग्यश्चायमासीत्, बह्वयः प्रतिज्ञा अनेन कृतचराः प्रजातन्त्रपद्धत्या शासनमनेन प्रतिज्ञातचरं परमधुना मधुना हतविवेकः कथं स्मरेत्, प्रेयसीनूपुरझङ्कृतौ कथं प्रजाकष्टं शृणुयात्।

सैनिकः०—सत्यं देव! एतदेव जातम्। परं चन्द्रो हृदयेन शुद्धः सद्विचारश्च, परिस्थितयस्तमेवम्भूतमकार्षुः। अहं चन्द्रस्य सन्निकटः स शीघ्रमेव स्वप्रतिज्ञानुसारं चिकीर्षति। परमेतन्निश्चितं यत्तस्योद्यानं मालतीपरिमलेन गणिकासुरभिणा बकुलगन्धेन शुकपिककलहंसकलरवैर्मकरन्दलुब्धानां षट्पदानामहर्निशजन्येन सुशोभित-मासीद् कुटिलकालकटाक्षकृष्णाहिनष्टं धूलिधूसरितं श्मशानायितं जातम्, परं चतुरो मालाकार इव स तं शीघ्रं पुनरुज्जीवयिष्यति। स न मद्यपो न च स्त्रीभक्तः। तस्य विवाहत्रयमपि परिस्थित्या जातम्। सरोजिन्या विवाहः कमलाऽऽग्रहेण। चम्पया च कमलां मृतां विज्ञाय राष्ट्रप्रत्यावर्त्तनानुत्सुकत्वेन। तस्य स्त्रियोऽपि पुरुषनिर्विशेषाः राज्यकर्मनिपुणास्तं प्रजातन्त्रपद्धतौ प्रेरयन्ति। श्रूयते स स्वाः स्त्रिय एव विभिन्न-प्रान्तेषु राजप्रतिनिधित्वेन प्रेषयितुमिच्छति। किन्त्वेतत् सर्वथा सत्यं यद्विपरीतायते कालः। प्रत्येकस्मिन् क्षेत्रे विपरीतामेव स्थितिं पश्यामः। श्मश्रुशालिनः पुरुषाः पुरा वरा गण्यन्ते स्म, अधुना च शिरसि विन्यस्तकेशा निर्घृष्टमुखाः स्त्रीनिर्विशेषा एव वैशिष्ट्यं लभन्ते। करवालो यथा प्राक्कालिकानां करं करवास एवाधुनिकानां तथा वसुधां वशयति।

पूर्वं पुरुषाणामाज्ञया स्त्रियोऽधुना च ता एव वामं दक्षिणयन्ति। प्राचीनानां वाग्मिता यथा तथैवाधुनिकानां धूर्त्तता।

नवीनाः सम्प्रदायाः प्रतिदिनं प्रेक्ष्यन्ते। जगति जागरूकदम्भारम्भा जना जठरपिठरपूरणाय अविवेकिजनवञ्चनाय सुतरां स्वपरिवारपूर्त्यैं मिथ्यायशःप्रचाराय च नवीनं सम्प्रदायं प्रचारयन्ति। नवीनत्वञ्च प्रचलितविपरीतत्वम्। जगत्प्रचलितस्य सम्प्रदायस्य व्यवस्थापका जटिला मुण्डिनो वा, अतो नवीनैः केशा लुञ्च्यन्ते, प्राचीनाः स्नान्ति जनतां परोपकाराय प्रेरयन्ति च, नवीनाश्चास्नान्तो मातापित्रोरपि सेवां कदर्थयन्ति। चन्द्रमुख्यः कमलिनीकमनीयतनुलताः कदलीकोमला बालिकाः परलोकतारिण्यादिपदैश्चाटुशतैः प्रवञ्चनवचोभिः प्रलोभ्य यौवने पदमर्पयन्त्यः प्रार्थिता अनेकैर्वरैः प्रथिताः पृथुगुणैः केशान् विलुच्य वासःपट्टिकां मुखे आबध्य स्नानज्ञानाचारसंस्कारान् सर्वथा परित्यज्य केवलं विषयनिरतैः (केवलिभिः) छद्मधर्मगर्त्तेषु पात्यन्ते।

के० के०—अक्षरशः सत्यं कथयसि।

सैनिकः—भगवन्, जगतः स्वाभाविक एष धर्मः। नद्याः प्रवाहोऽपि नैकत्र स्थापयितुं शक्यते, किं पुनर्मानवानां चञ्चला प्रवृत्तिः! विचाराः प्रतिक्षणं परिवर्त्तन्ते। अस्तु, अहं देवस्य परिचयं श्रोतुकामः।

के० के०—स्वल्पीयान् कविरहमस्मि, सोऽहमधुनाऽस्वस्थ इति गृहीतावकाशो गृहे निवसामि।

सैनिकः—तर्हि श्रीमन्तः कवितामपि तन्वन्ति !!

के० के०—आम्, कदाचित्कुतूहलपरवशः।

सैनिकः—किंविषयिणीं देव !

के० के०—को विषयः, यस्यावसरः समापतेत् , स एव विषयः।

सैनिकः—गुरो ! जगज्जालोद्विग्नं चेतः साहित्यचर्चाञ्चरितुञ्चेष्टते। यदि नास्ति भवतो वेलाविलम्बः, यदि चेमं साहित्यसुधयाऽनुजिघृक्षन्ति, तर्हि पूरयन्तु ममाभिलाषम्।

के० के०—क्षत्रिय ! कः संसारविहारी एतस्माज्जगज्जालादुन्मुक्तोऽस्ति। मादृशा अप्यस्मिन्पाशे सुदृशं बद्धाः, परं साहित्यचर्यां चरितुमीहास्ति चेद् ब्रूहि कं विषयमधिकृत्य त्वां प्रसादयामः। त्वमस्माकमद्याभिनवः साहित्यातिथिः।

सैनिकः—गुरो ! सायं समयमेवाधिकृत्य कापि सरसा मनोमोहिनी स्वान्तः-प्रसादनी रचना भवेत् ।

के० के०—यतिष्ये । गद्यं रोचते उत पद्यम् !

सैनिकः—भगवन् ! पद्यम् ।

के० के०—श्रोतव्यं तत् । अहमस्य समयस्य शब्दचित्रं भवतः पुर एवावतारयामि—

सुखदशारदपौर्णिमचन्द्रमःसुविशदप्रभभास्वरविग्रहाम् ।
अवहुदर्श्यनुरक्तकृतौ व्रतीं विपुलविघ्नमचिन्त्यगुणां नुमः (१) ।

सुखं ददातीति सुखदो यः शरदि भवः शारदः "ऋत्वण्" शारदः पौर्णिमचन्द्रस्तद्वत्सु-विशदप्रभः=उज्ज्वलकान्तिः, भास्वरश्च विग्रहो यस्याः सा ताम् अवहुदर्शि भक्तस्य कृतौ रचनायां विघ्नसमूहम् अपसारयन्तीं अनिर्वाच्यगुणां कामपि नुमः ।

जिगमिषुर्दिशि पाशभृतः पपीरपहरन् कमलश्रियमीक्षितः
परिचितैरिव लज्जितमानसः समभवत् परिरक्तसिताकृतिः (२) ।

पाशभृतः=वरुणस्य, दिशि=पश्चिमायां, जिगमिषुः=गन्तुमिच्छुः पपीः सूर्यः, परितो रक्ता चासौ, सिता आकृतिर्यस्य स समभवत् । कमलानां श्रियं=शोभां अपहरन्, परिचितैः=लोक-लोकैः ईक्षितः=दृष्टः, अतएव लज्जितमानस इव । अपहरणसमये दृष्टः सर्वोऽपि लज्जते । अयञ्च सहस्ररश्मिरमुष्मिन् क्षुद्रगर्ह्ये कर्मणि प्रवृत्त इति महल्लज्जास्पदम् । लज्जितस्य मुखं रक्तं सितं च भवतीत्यनुभूतम् ।

सकलवासरतिग्मरुगातपव्यथितकाय इवोज्ज्वलितोऽग्निना ।
जलनिधाविव मङ्क्तुमभीहते कमलजातविशोकिविभाकरः (३) ।

कमलजातविशोकी चासौ विभाकरः=कमलकुलशोककारी एष सूर्यः । अग्निना उज्ज्वलित इव वह्निदग्धः प्राकृतो नर इव, सकलवासरे=समग्रदिने, तिग्मरुचा आतपेन व्यथितकायः=दुःखितशरीर इव जलनिधौ समुद्रे मङ्क्तुं=स्नातुं अभीहत इव ।

भ्रमणवीक्षितपापकदम्बकं गमयितुं समयितुं मुनितामिनः ।
गिरिगुहामुपविश्य तितप्सति स्वकुलवर्द्धितवार्धिमुपेति वा (४)

इनः = सूर्यः । भ्रमणे वीक्षितं = दृष्टं, पापकदम्बकम् = अनाचारसमूहं, गमयितुं = नाशयितुं, मुनितां = मुनिभावं, मयितुं = प्राप्तुं, गिरिगुहाम् = अस्ताचलदरीम्, उपविश्य = आसनत्वेन परिकल्प्य तितप्सति = तप्तुमिच्छति ।

स्वस्मात् (जातं) कुलं = स्वकुलं=सूर्यवंशस्तेन वर्द्धितो यो वार्धिः = समुद्रः (षष्टिसहस्रसगरसुतरश्वं मृगयमाणैरेष खनितः—इति पौराणिकाः) तं वा उपेति ।

उपतटोद्गतपादपमञ्जुले किसलयारुणिते नववञ्जुले
विशदवारिणि वार्धितटे शुचावयि ! विधित्सति सान्ध्यविधिं रविः (५)

रविः, तटस्य समीपं उद्गतैः = उत्पन्नैः पादपैः मञ्जुले = सुन्दरे । किसलयैर्नवपत्रैररुणिते, नवाः = नूतनाः वञ्जुलाः = वेतसा यत्र, शुचौ = विशुद्धे जनदुर्गमत्वादितिभावः । विशदं वारि यत्र तथाभूते वार्धितटे = समुद्रकूले, सान्ध्यविधिं विधातुं = कर्त्तुमिच्छति इव ।

क्षितितले कमला भवतां प्रिया युवकराजकवाञ्छितसुस्मिता ।
इति निवेदयितुं जलशायिने त्वरितमस्तमगादिव भास्करः (६)

क्षितीति—"युवैव युवकः, राज्ञां समूहो राजकं "गोत्रोक्षे ति वुञ्" तेन वाञ्छितं अभिलषितं सुस्मितं यस्याः सा भवतां प्रिया = भवतां प्रियेव सुन्दरी कमला, क्षितितले मर्त्यलोकेऽस्ति—इति जलशायिने भगवते विष्णवे निवेदयितुं इव भास्करः = सूर्यः, त्वरितं यथा स्यात्तथा अस्तमगात् ।

सैनिक० । शास्त्रिन् ! केयं कमला ।

के० के० । कवयो हि नाम केवलकीर्त्तनपरा वस्तुनः सौन्दर्य्यमुद्गिरन्तो निर्दूषणा न दोषभाजोभवन्ति, अम्भोजनिरिवाम्भसः । क्वापि भवेत् कमला ।

सैनिकः० । तदैव निस्तारः । अस्तु, प्रकृतमनुसरन्तु ।

उपगतेऽपगतिं जगदक्षणि विपुलगर्वसदर्पविधूननात्
गगनसंसरणात्परिमार्जितं निपतितं पततीन्दुसमं रजः (७)

जगतोऽक्षणि = चराचरस्य नेत्रे भगवति सूर्ये, अपगतिं = अस्तं प्राप्ते, विपुलगर्व-श्वासी सदर्वा = श्रेष्ठाश्वस्तस्य विधूननात् = कम्पनात् निपतितम्, इन्दुसमं = कर्पूरतुल्यं रजः, गगनमेव संसरणं = राजपथस्तस्मात् परिमार्जितं सत् पतति। श्रान्तोऽश्वः शरीरं विधूनयति।

उदरदर्पविनाशकृतश्रमाः शुककपोतमयूरपिकादयः।
कथयितुं दिनदृष्टमिवाद्भुतं विविशुरेत्य कुलायचयाँस्तरून् ॥८॥

उदरस्य "नाहं केनापि पूरणीयं भवामि" इति यो महान् दर्पस्तस्य विनाशे = सक्तनाशे कृतः श्रमो यैस्ते शुकादयः पक्षिणः, तरून् = स्वाश्रयान् वृक्षान् एत्य दिनदृष्टमद्भुतम् = आश्चर्यं परस्परं बालेभ्यो वा कथयितुमिव कुलायचयान् विविशुः।

अगरुतः शिशवोऽशनयान्विताः सकणचञ्चुपुटानथ वीक्ष्य तान्।
विदधते विरुतम्, नवपत्रिताः शकुनिभिर्विटपाः सुषमामिव ॥९॥

न गरुत् येषां तेऽगरुतः = अपक्षाः, अतएव शिशवः = बालाः पक्षिशावकाः। अशनया = बुभुक्षया, अन्विताः = युक्ताः, सकणं = अन्नकणसहितं चञ्चुपुटं येषां ते, तान् पक्षिणः, वीक्ष्य दृष्ट्वा, विरुतं = कलरवं विदधते = कुर्वन्ति। अथ विटपाः शकुनिभिः = पक्षिभिः शुकादिभिः, नवपत्रिताः = सञ्जातनवपत्रा इव सुषमां = परमां शोभां धारयन्ति।

सैनिकः—साधु! पण्डित! साधु! वस्तुतः कविताकामिनीकान्तोऽप्यसि। कवीन्द्र! अनुभूतोऽस्येकस्मिन् विषये, पुनरिमां पूरयित्वा अनुगृहाण विलक्षणार्थां समस्यां "दिनकरे रजनीकरतां गते।"

के० के०—(क्षणं नभो विलोक्य) शृणु—

प्रचलितेऽह्नि, तमोलिहि भास्करे कमलिनीवलनादिव संस्थिते।
मुखरितं विहितं विभिरावनं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१०॥

अह्नि = दिने प्रचलिते, तमोलिहि = तमोहन्तरि भास्करे = सूर्ये च, कमलिनीवलनात् = पद्मिनीसङ्कोचात् 'वल' संवरणे ल्युट् संस्थिते इव = मृते इव लक्ष्यमाणे, अत एव दिनकरे सूर्ये, रजनीकरतां गते प्राप्ते, विभिः = पक्षिभिः, आ = समन्ताद्वनमावनं मुखरितं =

वाचालितम्। निशाकरणे सूर्यस्यापि अस्तमयनेन साहाय्यम्, अतो दिनकरस्यापि रजनीकरत्वं युक्तम्।

लघुषु पुष्यरथेषु कृतस्थिति भ्रमति वृन्दमिदं रमणीजुषाम्।
विमलमाल्ययुजां सुहृदामितो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥११॥

दिनकरे रजनीकरतां गते लघुषु = स्वल्पेषु, पुष्यरथेषु = सुखभ्रमणार्थेषु रथेषु "तांगा" "वग्घी" इत्याख्यातेषु "असौ पुष्यरथश्चक्रयानं न समराय तत्" इत्यमरः। कृता स्थितिर्येन तत्, रमणीजुषां = स्त्रीपरिग्रहशालिनां वृन्दं = समूहो भ्रमति। इतश्च विमलमाल्ययुजां = निर्मलस्रजां सुहृदां = मित्राणां वृन्दं भ्रमति।

अरुणिते सुरवर्त्मनि तारकाः बृहतिकाङ्कितशुभ्रकुशेशयाः।
बभुरिवातनुभास इनद्विषो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१२॥

दिनकरे = सूर्ये, रजनीकरतां = अस्ततामिति यावत्, गते प्राप्ते, इनद्विषः = सूर्यविरोधिन्यस्तारकाः, सूर्ये उदिते एता निष्प्रभा भवन्ति अत एताः सूर्यं द्विषन्तीतिभावः। अत एवातनुभासः = प्रोज्ज्वलाः। अरुणिते = लोहिते, सुरवर्त्मनि = वियति, बृहतिकायां = उपर्याच्छादनवस्त्रे, अङ्किताः रजतस्वर्णसूत्रैश्चिह्निताः, शुभ्रकुशेशयाः = सितकमलानीव बभुः।

वियति मौक्तिकवृन्दमिवाततं रवितुरङ्गमकण्ठतलाच्च्युतम्।
विपुलभं भमलं प्रतिभात्यदो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१३॥

सूर्येऽस्ते विशिष्टप्रभं नक्षत्रवृन्दं रवितुरङ्गमाणां = सूर्याश्वानां कण्ठतलाच्च्युतं वियति = आकाशे, आततं = विस्तृतं मुक्तावृन्दमिव अलं प्रतिभाति।

कमलिनी मलिनी समभूदरं कुमुदिनी मुदिनी भ्रमरैः समम्।
सरसिका रसिकाचितभूमयो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१४॥

दिनकरेऽस्ते कमलिनी = नलिनी, अरम् = शीघ्रं मलिनी समभूत्। सरसिकाः = सरस्यः रसिकैः = भावुकैः, आचिता = व्याप्ता भूमयो यासां ता अभूवन्।

अहनि कार्यकदम्बभृशाकुलं जनकुलं शयनीयगृहं गतम्।
नभस आविरभूत्सुमहत्तमो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१५॥

सूर्येऽस्ते, अहनि = दिने, कार्यकदम्बेन = कर्मसमूहेन, भृशमाकुलम्, नरकुलम् शयनीय-गृहम् = स्वावासं गतः। नभसः सकाशात् सुमहत्तमश्चाविरभूत्।

क्षणदया विततं स्वशिरोंऽशुकं रजतपुष्पयुतं कृमिकोशजम्।
गगनमृक्षगणेन विभात्यदो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१६॥

सूर्येऽस्ते, अदो गगनम् = आकाशम्, ऋक्षगणेन तारकासमूहेन क्षणदया = रात्र्या, रजतपुष्पयुतं कृमिकोशजं = कौशेयं स्वशिरोंऽशुकम् = उपरिवस्त्रं विततमितीव विभाति। धन्वदेशे स्त्रियः कौशेयं रजतपुष्पाङ्कितं "ओढना" पदवाच्यं उपरिवासो दधति इति।

कनकदामहिमांशुसुचन्दनैर्विहितकल्पन एष महेश्वरम्।
अभयदं भजते क्षितिनिर्जरो दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१७॥

दिनकरे रजनीकरतां गते = प्रदोषे, एषः क्षितिनिर्जरः = भूदेवः, कनकदाम = धत्तूरस्रक् हिमांशुः = कर्पूरः सुचन्दनः काश्मीरागुरुयुक्तस्तैः विहिता = कृता कल्पना पूजनसामग्री येन सः, अभयदं महेश्वरम् = शिवं भजते।

यमदमैर्विमलं गतवासनं नियतशान्तिजुषो विदुषो मनः।
झटिति संश्रयते विभुमव्ययं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१८॥

नियतशान्तिजुषः = निर्बाधां शान्तिं दधानस्य विदुषः = ज्ञानविज्ञानसम्पन्नस्य यमदमैर्विमलम्, यमदमाभ्यां मनसो विमलकराणि सर्वाणि साधनान्युपलक्ष्यन्ते। वासनारहितं मनः प्रदोषे झटिति अव्ययं विभुं श्रयते।

जपति मन्त्रपवित्रकुशासने वटुजने हरिणाजिनधारिणि।
समुदगात् कुमतेरपि सन्मतिर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥१९॥

सूर्यास्तसमये मन्त्रैः पवित्रे कुशासने हरिणानामजिनं = चर्म धारयति तच्छीले वटुजने = ब्रह्मचारिजने जपति सति = जपं कुर्वति सति, कुमतेरपि = नास्तिकस्यापि शोभना बुद्धिः समुदगात्।

स्मरति योगिजने विधुशेखरं मलिनकर्मजुषामपि मानसम्।
द्रुतमहो ! परमात्मनि सङ्गतं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२०॥

सूर्येऽस्ते योगिजने विधुशेखरम् = शिवं स्मरति सति, मलिनकर्मजुषां = निन्दितकार्य-सेविनां मानसमपि अहो ! आश्चर्यम्, द्रुतम् = शीघ्रं परमात्मनि सङ्गतम्।

नदति वाद्यवरं सुरमन्दिरे कनककुम्भविभूषितसानुनि ।
प्रविदधत् किल दुष्टजनव्यथां दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२१॥

कनकस्य = सुवर्णस्य, कुम्भैः = कलशैर्भूषितं सानु यस्य तस्मिन् सुरमन्दिरे, दुष्टजनानां व्यथां प्रविदधत् = प्रकुर्वत्, वाद्यवरं नदति ।

पिपठिपुर्निजपाठ्यसुपुस्तिका ज्वलयितुं किल दीपमयोमयम् ।
विशति सत्वरमग्निगृहं बटुर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२२॥

सूर्येऽस्ते निजपाठ्यसुपुस्तिकाः = पठनीयपुस्तकानि पिपठिषुः, अयोमयं दीपं ज्वलयितुं बटुः = ब्रह्मचारी सत्वरमग्निगृहं विशति ।

किरणकर्मकरैः परिशोधिते क्षणदया वितते तिमिरे घने ।
विपुलभं प्रतिभाति वियद्वपुर्दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२३॥

दिनकरे = सूर्ये रजनीकरतां = चन्द्रतां प्राप्ते सति, प्रकाशकत्वेन चन्द्राय तेजोदानाच्च । क्षणदया = रात्र्या वितते = विस्तारिते, घनतिमिरे किरणकर्मकरैः किरणकर्मचारिभिः शोधिते वियतः = आकाशस्य वपुः विपुला भा यस्य तथाभूतं प्रतिभाति ।

विरहिणां प्रचुरार्त्तिकरः शरः विहितसालसचौरजनाकरः ।
वितनुतेऽतनुतेजसि सत्वरं दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२४॥

अतनुतेजसि = विपुलतेजसि दिनकरे गते सति, विरहिणां = स्त्रीवियुक्तानां प्रचुरार्त्तिकरः = विपुलव्यथाप्रदः शर इव । विहितः = कृतः सालसः चौरजनाकरो येन, चौराश्चन्द्रिकायां सालसा भवन्ति, तथाभूत एष चन्द्रो रजनीकरतां सत्वरं यथा स्यात्तथा वितनुते विस्तारयति । दिनकरभयादिति भावः ।

मदनमोदकरो वनितावतां धवलरश्मिभिरन्धमधो नयन् ।
द्रढयतेऽतुलकान्तिविधुर्निजां दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२५॥

दिनकरे गते = सूर्येऽस्ते, अतुलाकान्तिर्यस्य तादृशो विधुः, वनितावतां = स्त्रीमतां,

मदनमोदकरः = स्मरकरः, हर्षकरश्च, धवलरश्मिभिः = शुभ्रकिरणः, अन्धं = तमः, अधो नयन् निजां रजनीकरतां = निशापतितां द्रढयते ।

अलकमञ्जुनिकुञ्जतिरोहितद्विजपतिः प्रथिताभसुविग्रहा ।
झटिति सज्जति विश्वजिगीषया दिनकरे रजनीकरतां गते ॥२६॥

दिनकरे रजनीकरतां गते = सूर्येऽस्ते अलकानां मञ्जुनिकुञ्जे तिरोहितो द्विजपतिर्यया सा, प्रथिता आभाऽत एव सु शोभनो विग्रहो यस्याः सा कापि झटिति = क्षणमपि नातिवाह्य विश्वं जेतुमिव सज्जति ।

सैनिकः०—अलिपतधिषणधिषण ! गुरुवर ! साधु,

भवति यच्छविमत्कमलाकरे नयति यत्कमलापतिरर्चने ।
ग्रहपतेर्विरहे मलिनं हि तत् कमलजं कमलं कमलाकरे ॥२७॥

कम् = जलम् अलयति = भूषयति तत् कमलम्, कमलजं = पयोजं, कमलाकरे=लक्ष्मी-हस्ते, छविमद् भवति । यत्कमलं कमलापतिरर्चने = पूजने नयति, तदेव कमलं ग्रहपतेः = सूर्यस्य विरहे मलिनं कमलाकरे = ह्रदे वर्त्तते । नापरं स्थानं बिधित्सति ।

अथ वियोगजनिर्वत ! कोकयोः प्रियवियोगमहोत्कटशोकयोः ।
असुखमेति सुखात्परतः सदा नियतिसिद्धमिदं जगति ध्रुवम् ॥२८॥

प्रियवियोगेन महोत्कटशोकयोः कोकयोः = चक्रवाकयोः, वियोगजनिः = वियोगोऽभूत् । सुखात्परं सदा दुःखमुपेतीति नियतिनियमः ।

गणिकया गणिका सुषमान्विता गृहगवाक्षनिधापितकूर्परा ।
पथिचरान्नयनेन विकुर्वती धवलिते विबुधायन इन्दुना ॥२९॥

विबुधायने = आकाशे, इन्दुना धवलिते = प्रकाशिते, गृहगवाक्षे निधापितः = कूर्परो यया सा, गणिकया = "जूही" पदवाच्यपुष्पेण सुषमा = परमाशोभा तयाऽन्विता गणिका, पथिचरान् पथिकान्, नयनेन विकुर्वती = विकृतिं नयन्ती विद्यते ।

सुललनामणिनूपुरशिञ्जितं वलयभङ्कृतयोऽद्भुसुखोद्गताः ।
कुमुदबान्धवशोभितदिग्व्रजे न पुरुषस्य हि कस्य हरन्ति हृत् ॥३०॥

कुमुदबान्धवेन = चन्द्रेण शोभितश्चासौ दिग्व्रजस्तस्मिन्, सुललनानां मणिखचितनूपुराणां शिञ्जितम्, अट्टानां = शिरोगृहाणां, मुखेन = द्वारेण, उद्गताः = निःसृताः, वलयझङ्कृतयश्च कस्य पुरुषस्य हृद् = मानसं न हरन्ति ? अवश्यमेव हरन्तीतिभावः।

सैनिकः—साहित्यामलसरोराजराजहंस ! कवीन्द्र ! धन्या भवन्तो य एवमहर्निशं मकरन्दमोहिभिः पीयूषमयैः काव्यालापविनोदयन्ति मनः। नानायास भवादृशां साहित्यावताराणां समागमाः सागमानां सम्पद्यन्ते।

के० के०—सेनापते ! वहवो जगति काव्यकलाकलापकलापिनः किल। येषां काव्यमूर्त्तीनां मादृशास्तु छात्रत्वेऽपि न मताः। परन्तु सरणिरियं प्रत्यहं प्रक्षीयमाणा।

सैनिकः—गुरो ! चित्रालङ्कारपूर्णां कवितामपि तन्वन्ति भवन्तः ?

के० के०—तस्याः काव्ये गड्डुभूतत्वं मतमाचार्यैः।

सैनिकः—भगवन्, तेषां रचने वैदुष्यं तु परीक्ष्यते एव भवेन्नाम गड्डुभूतत्वम्। सोऽपि रस आस्वाद्यः।

के० के०—आकर्णय—

सैनिकः—आमवहितोऽस्मि। देव ! सान्ध्यविध्युचितोऽयं कालः। तथा यतनीयं यथा देवानां स्तुतिरपि सहैव भवेत्।

के०के०—अस्तु, एवमेव यतिष्ये। अयं सर्वतोभद्रः शिवस्तवः—

देवं कुशं शङ्कु वन्दे रंहतां ककतां हरम्।
कुनाम्बरं रम्वनाङ्कुशं सरं व्यव्यरं सशम् ॥३१॥

कुत्सितान् = दुष्टान्, श्यति = तनूकरोति यस्तादृशं देवं = भगवन्तमुमापतिं, शङ्कु = दण्डवद् वन्दे। किम्भूतं–रंहतां = वेगवताम्, अविचार्य कुर्वतामितियावद्, ककतां गर्वं कुर्वतां "कक लौल्ये" लौल्यं गर्वश्चापल्यञ्च। अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं चक्षिङो ङित्करणात्। हरम् = नाशकम्। सशम् = कल्याणसहितम्। कुत्सितं न अम्बरं यस्य तम्, रमन्ते = क्रीडन्ति ते रमः = विलासिनः "रमतेर्विच्" तेषां वनस्य = समूहस्य अङ्कुशमिव। सरम् = संसारं प्रति, अरम् = शीघ्रं भक्तस्य विपत्समकालमेव व्यवी = विशिष्टोऽवी, रक्षकः।

अम्बां नुमो भासमानां बान्धवादशुभादिमा ।
नुवाममा नाल्पभासमोदमानाननाऽऽशुभा ॥३२॥
रसासाररसामन्दकासारां तमसामताम् ।
तां मसामसुसाहित्यां शंमरांररसाहिताम् ॥३३॥

युग्मकम् । पूर्वमर्द्धभ्रमकम्, द्वितीयो मुरजबन्धः । तां भासमानां = तेजसा ज्वलन्तीम्, अम्बां = देवीं नुमः । बन्धो बन्धनं तत्सम्बन्धी बान्धः स एव वादः गृहस्था-श्रमरूपो वादः तस्मै शुभा = श्रेष्ठा, आदिमा :च । नुवां = प्रणमतां अमा = सहवर्त्तिनी, नाल्पभासं = विपुलतेजस्कं मोदमानश्चाननं यस्याः सा आशुभा आशु = सद्यः-प्रसरणशीला भा यस्याः सा ।

रसानां = शृङ्गारादीनां य आसारः = धारासम्पातः स एव रसो जलम् , तस्य अमन्द-कासारां = महाजलाशयरूपाम् , तमसा = अज्ञानेन, अमताम् = अस्वीकृतां । मा लक्ष्मी रस्यास्तीति मम् = शोभासम्पन्नम् "अर्श आद्यच्" तथाभूतं यत्साम तदेव सु = शोभनं, साहित्यं यस्याः सा ताम्, शं = सुखं म्रियते एभिरिति शम्मराः = राक्षसाः, "ऋदोरप्" तानामयतीति "अम रोगे, क्विप्" शम्मरान् = विष्णुः, तं रान्ति = आददते, इति शंमरांराः = साधवस्तेषां रसेन = प्रेम्णाऽऽहितां = व्याप्ताम् ।

मारतो विषमा चारुरुचामादत्तकालिमा ।
मालिका देव्युमा गेया यागेऽमाजगतो रमा ॥३४॥
महेशवामनयनां नमामो जगदम्बिकाम् ।
ग्रहेशबाधनयनां समाप्यां जगदर्भिकाम् ॥३५॥

युग्मकम् । पूर्वत्र पद्मबन्धः, उत्तरत्र गोमूत्रिकाबन्धः । वयं महेशस्य वामे = सुन्दरे नयने यस्याः = सा तां नमामः । जगद् अम्बयति = प्रेरयति तथाभूताम्, ग्रहेशं = सूर्यं, बाधेते नयने यस्याः सा ताम्, समाभिः = वर्षैः, आप्यां = प्राप्याम्, "हायनोऽस्त्री शरत्समाः" इत्यमरः । जगदेव अर्भकः = शिशुर्यस्यास्ताम् = जगज्जननीम् । या मारतो विषमा = विपरीता । चारुरुचां सुन्दरीणां मध्ये आदत्ता = गृहीता कानां = सूर्यादीनां आलिः पङ्क्तिर्यया सा, चासौ मा । को ब्रह्मणि समीरात्मयमदक्षेषु भास्करे—

इति मेदिनीकोशः। मालिका = जगद्धारिणी "मलधारणे" देवी = देवनशीला जगतः = संसारस्य, अमा = सहवर्त्तिनी शक्तिरूपेण, यागे = पूजायां गेया = 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' प्रथमं गणनीया, रमा = उत्कृष्टरूपा एवं भूता या उमा तां नमामः।

पालिका जीववृन्दस्य लये महति कालिका।
कापि माता सतां मान्या भवे जयति विश्वपा ॥३६॥
पाकशासनसम्मान्याऽनन्तदेवमहाधिपा।
पाशाबद्धपापिपूरा पाथोजाङ्घ्रिसुपादुका ॥३७॥

खड्गबन्धः। जीववृन्दस्य = प्राणिमात्रस्य पालिका = रक्षिका। महति लये = महाप्रलये कालिका = क्षयकर्त्री। पाकशासनस्य = इन्द्रस्य सम्मान्या, अनन्तदेवानां = असंख्यातानां सुराणां महाधिपा = अधीश्वरी, पाशेन आबद्धः पापिनां पूरः = समूहो यया सा। पाथोजं = कमलं तद्वदङ्घ्र्योः सु = शोभने पादुके यस्याः सा, विश्वं पाति रक्षति सा, सतां मान्या = पूज्या कापि = विलक्षणा माता भवे जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते।

श्रीर्या नित्यं कुञ्जवासं भेजे चन्द्रसमानना।
मनोरमकलाधारां तां नुमो वीतसंवितः ॥३८॥
सततभ्रान्तकमलो हस्तः शान्त्यै भवेद् ध्रुवम्।
दैत्यवृन्दशिरोहर्त्री स्त्रीवरा नो दिशेद्धितम् ॥३९॥

पर्वतबन्धः। युग्मकम्। या चन्द्रसममाननं यस्याः सा श्रीः = राधारूपिणी कुञ्जेषु वासो यस्य तं कृष्णं भेजे = सिषेवे। तां मनोरमानां = हृद्यानां चतुष्षष्टिकलानामाधाराम्, महासरस्वतीरूपां वीतसंवितो वयं नुमः। सततं भ्रान्तं कमलं येन तथाभूतो हस्तः ध्रुवं शान्त्यै भवेत्। महालक्ष्म्या इति भावः। स्त्रीषु वरा = श्रेष्ठा दैत्यवृन्दस्य शिरोहर्त्री महाकालीरूपा नोऽस्मभ्यं हितं दिशेत् = दद्यात्।

रमा या मादमायामा क्षमा श्यामा दमान्विता।
उमा प्रेमासमा वामा हे मातः! मानमाचर ॥४०॥

हारबन्धोऽयम्। हे मातः! या त्वं मादस्य = हर्षस्य, "मादो मदे" इत्यमरः।

मायायाश्च अमा = सहवर्त्तिनी। "अमा सह समीपे च"। रमा = लक्ष्मीरूपा। क्षमा = तद्रूपा, श्यामा = सदैव युवतिः। दमान्विता, प्रेम्णि = प्रेमविषये असमा वामा, नास्ति समस्तुल्यो यस्याः सा वामा उमा = पार्वतीरूपिणी त्वं मानमाचर = विधेहि।

मुक्तिवर्ये! मुरारिस्त्रि! मुक्तोपेतमुखाम्बुजे!
वामावर्येऽव कृष्णास्त्रिप्रिये! पूतपदाम्बुजे ॥४१॥

चक्रबन्धः। हे मुक्तिवर्ये! मुक्तिदाने श्रेष्ठे! मुरारेः स्त्रि! मुक्तैरुपेतं मुखाम्बुजं यस्याः सा तथाभूते! वामासु वर्ये! कृष्णश्चासौ अस्त्री = अस्त्रकुशलस्तस्य प्रिये! पूतं = पवित्रं पदाम्बुजं यस्यास्तथाभूते! मां = तव शरणागतं अव = रक्ष।

सततं नम्यते या श्रीरस्तु सा नितरं पवा।
वारेण योगिनीनां सहिता मा नितराममा ॥४२॥

धनुर्बन्धोऽयम्। या श्रीः सततं नम्यते, सा योगिनीनां वारेण = समूहेन सहिता, मा = माता, नितरां पवा = अत्यन्तं पावनी, नितराममा च = अत्यन्तं समीपवर्त्तिनी चास्तु।

सैनिकः०—एकदा देव! देशभ्रमणोत्कोऽहं विद्वन्मतल्लिकाक्रान्तकर्णां भगवतस्तारकतारयितुर्निःस्वार्थमुक्तिप्रदस्य विश्वनाथस्य पुरीं गतः पूर्णपुरीमन्नपूर्णां शिरसाभिनन्द्य, जगदघौघनाशनसङ्कल्पायां त्रिभुवनवन्द्यायां महेशोत्तमाङ्गसङ्गायां गङ्गायामखिलं मलं विशोध्य, भैरवदण्डं कालभैरवश्चानम्य, भवं विध्याय, वृन्दारकवाणीसुधासतृष्णः कवितोत्कः कस्यापि कवीन्द्रस्य भवनमगमम्। दृष्टवाँश्च पद्यमष्टदलाकारं यदभितोऽष्टदलाग्रेषु कर्त्तुर्नामापि न्यस्तमासीत्।

के० के०—आम्, आम्, भवन्ति तादृशा अपि बन्धाः। तानपि शृणु—

श्रीर्यस्य चञ्चन्मुखचन्द्रदैन्यशा नितान्तरम्या मुदभाजिनी स्त्री।
वामेतरः स्यान्मुरदैत्यघातुकः स श्रीपतिर्मे मुदमावहच्छविः ॥४३॥

पद्म कमलबन्धाः। यस्य विष्णोः चञ्चन् = विलसन् मुखचन्द्रस्तेन दैन्यम् = शोकं श्यति = तनूकरोति सा, अत एव नितान्तरम्या, मुदभाजिनी = हर्षप्रिया। रम्यापि यदि हर्षं नाधत्त तदा तया किम्? श्रीः = लक्ष्मीः, स्त्री = पत्नी। स मुदमावहन्ती छविर्यस्य स

तथाभूतः, एतेन सौन्दर्यं व्यज्यते, मुरदैत्यघातुकः = मुरहन्ता, एतेन वीरत्वं गम्यते। स श्रीपतिः = विष्णुर्मे = मम वामेतरः = दक्षिणः = अनुकूलः स्यात् = भूयात्।

श्रीशङ्करः कामरिपुः शुभस्पृशा नितान्तमव्यान्मखनाशकोऽस्त्री।
वामेतरः स्यान्मददां कदम्बकसमृद्ध ईड्यो मदमत्तशीर्विः ॥४४॥

कामरिपुः = श्रीशङ्करः, मखनाशकः = दक्षयज्ञविध्वंसकः, अस्त्री = अस्त्रचतुरः, शुभस्पृशा नेत्रेण मां नितान्तमव्यात्। मदं = हर्षं ददतां कदम्बके = समूहे समृद्धः, मदेन मत्तानां = दृप्तानां शीर्विः = हिंसक ईड्यश्च अस्माकं वामेतरः = दक्षिणः स्याच्च।

श्रीद्रोहिणामाशु विनाशकर्कशा निश्शेषदेशेऽशुभनाशिनी स्त्री।
वामाभिरामाऽऽशु निहन्ति दैत्यकसङ्घं नुमस्तां शुचिना हृतो रविः ॥४५॥

या वामासु = स्त्रीषु, अभिरामा = सुन्दरी, श्रीद्रोहिणां = समृद्धिद्वेषिणां आशु विनाशे कर्कशा, या च निश्शेषदेशे = सर्वत्र, आशु = शीघ्रमुपद्रवसमकालमेव, अशुभनाशिनी = अकल्याणहर्त्री, अथ च दैत्यकसङ्घं निहन्ति। यया च शुचिना = शृङ्गारेण "शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः" रविः = सूर्योऽपि हृतः = अपतेजाः कृतः। तां नुमः।

श्रीभास्करो दीप्ततनुः समस्पृशा निश्शङ्कमव्यात्ततकान्तिरस्त्री।
वारेण रश्मेस्तमसां व्यपोहकः समः समेषां तरुणारुणो रविः ॥४६॥

श्रीतुल्यां भासं करोति अतएव दीप्ततनुः तता = विस्तृता कान्तिर्यस्य तादृशः, अस्त्री, रश्मेः = किरणस्य, वारेण = समूहेन, तमसां व्यपोहकः = नाशकः तरुणारुणः, समेषां = सर्वेषां समः = तुल्यः, रविर्मां निश्शङ्कम् = असंशयम्, अव्यात् = रक्ष्यात्।

श्रीर्यस्य हस्तीशमुखस्य दुःखशा नित्यं गतास्ते शरणं शुभा स्त्री।
वामः खलानां शरणं नु मेचकसर्गो नुतोऽत्याशयविघ्नजागृविः ॥४७॥

यस्य हस्तीशमुखस्य = गजाननस्य, दुःखं श्यति, तादृशी जगद्दुःखहन्त्री, शुभा - पतिव्रता स्त्री, श्रीः = ऋद्धिसिद्धिरूपिणी, नित्यम् = सततं शरणं = सेविकात्वं गता = प्राप्ता आस्ते। स खलानां = दुष्टानां वामः, मेचकसर्गः = चित्रविचित्रावयवः अधस्तान्नरत्वात् उपरिष्टाद् गजत्वात्। अत्याशयाः ये विघ्नास्तत्र जागृविः = जागरूकः। मे शरणमस्तु।

चन्द्रमहीपतिः

लेखकः प्रकाशकः श्रीनिवास शास्त्री ११८, अमहर्ष्ट स्ट्रीट, कलकत्ता-९ भूमिकालेखकः श्रीनरहरि विष्णु गाडगील महोदयः, पञ्जाबराज्यपालः। समालोचकः—डा० शतकोटिमुखर्जी कलकत्ता-विश्वविद्यालयसंस्कृतविभागस्याध्यक्षचरः, तथा कविराज श्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री जामनगरस्थः। म० म० हरिदाससिद्धान्त-वागीशः, श्री डा० गौरीनाथशास्त्री प्रि० ग० सं० कालेज कलकत्ता; श्रीपट्टाभिरामशास्त्री (क० विश्वविद्यालयः,) मञ्जूषासम्पादकश्रीक्षितीशचन्द्रचट्टोपाध्यायप्रभृतिभिः सातिशयं सम्मतः। संस्कृतेऽयमपूर्वो विषयो भारतीयः समाजवादः सर्वाभ्युदयवादनाम्ना उपन्यासभाषया मनोहरकथानकेनोपनिबद्धः। भाषाया मनोरमा छटा विषयवस्तुप्रतिपादनं संस्कृतेऽपूर्वमेव। अधुनातने समये व्यवह्रियमाणानां भोजनानामस्त्राणां शस्त्राणां व्यवहाराणाञ्चानन्दकरः सन्निवेशः। कलेवरं कादम्बरी-समानम्। उत्तमपत्राक्षरसुदृढजिल्दस्य मूल्यं व्ययमात्रम् ६) मुद्राः। संस्कृतप्रेमिभिरवश्यमेव क्रेयः। नवीनरचनानां परीक्षासन्निवेशं विना संस्कृतोन्नतिरसम्भवाऽतः परीक्षानिवेशाय सर्वात्मना यतितव्यम्। अस्मिन् संस्कृतगद्येऽननुभूतपूर्व आनन्दो भवद्भिराप्स्यते। क्रयणे शीघ्रता विधेया, नो चेद् द्वितीयावृत्तिः प्रतीक्षणीया स्यात्।

श्रीमान् ______

______

______

______

पलशतम्" इत्यमरः। प्रकरणवशाच्चात्र भारः सुवर्णस्यैव ग्राह्यः, तेनैव स्त्रियामलङ्कार-

Tele : AROGYALAYA.

Phone : Hospital. 34-1030
Residence 34-2196.

नम्रनिवेदन

दिनाङ्क.....................

मान्यवर,

संस्कृत में आधुनिक शैली के उपन्यासों में चन्द्रमहीपति का स्थान सर्वप्रथम निर्विवाद है। साम्यवाद समाजवाद की तरह इसमें सर्वाभ्युदयवाद की स्थापना है। कलेवर में कादम्बरी के समान, मनोहर सरल संस्कृत में यह डा० सुनीतिकुमार चटर्जी एवं म० म० कालीपद तर्काचार्य के मत से अभूतपूर्व कृति है। पढ़ने से ही इसकी विशेषता मालूम होगी। इसी टाइप में १६ पेजी डबल क्राउन, ग्लेज कागज, पृष्ठ ३५०, दो चित्र, पक्की मनोहर जिल्द। मू० ६) पोष्टेज १=) है। एक साथ १० कापी लेने से फ्री डिलेवरी। विक्रेताओंको २०% कमीशन है।

संस्कृत उपन्यासों की रचना न होनेसे विक्री कम है। आप पुस्तक व्यसनी हैं, स्कूलों, कालेजों व पुस्तकालयों में चेष्टा करके १००-५० प्रति बिकवा देंगे तो संस्कृत साहित्य के प्रचार में आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहेगा। यह आपके लिए बहुत आसान है।

मैं पुस्तक व्यवसायी नहीं हूँ, अतः सम्भव नहीं कि उधार पुस्तकें भेजूं। अतः नम्रनिवेदन है कि पुस्तकें वी० पी० या बैंक से भेजी जायेगी। आशा है, परिस्थिति देखकर आप अवश्य आडर देंगे। सेम्पल कोपी के लिए ७) भेजें।

विशेष प्रार्थना :—आर्डर यदि न दे सकें तो कृपया अपने सूचीपत्र में चन्द्रमहीपति का नाम अवश्य लिखने की कृपा करें। पूर्ण विवरण पीठ पर।

श्री वि० स० मा० अस्पताल,
११८, अमहर्ष्ट स्ट्रीट,
कलकत्ता-९

श्रीनिवास शास्त्री

सैनिकः--आश्चर्यम्! शास्त्रिन्! यद्वदसि तस्य चित्रमेव पुरः स्थापयसि। विलक्षणो भवतोऽभ्यासः। देव! किमाख्यं वृत्तमिदम्!

के० के०—इयमुपजातिः। यद्यपीन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राप्रभृत्योः समानाक्षरयोरुपजातिः प्रयुक्ता प्रसिद्धा च, परं समलयेनेनोच्चार्यमाणानां वंशस्थादीनामियं नवीनोपजातिः। "एवं किलान्यास्वपि मिश्रितासु०—इत्यादिना तस्या विधानात्।

सैनिकः—आ एवम्। गुरो! हारबन्धे नाम समागच्छेन्नाम, तदा सुशोभनं स्यात्, यथा कस्याश्चन नायिकाया गलेऽर्पितमिव। यदि सम्भाव्यते तर्हि भवतैव गीतगुणायाः सुन्दर्याः कमलाया एव गलेऽर्प्यताम्।

के० के०--उक्ते हारबन्धे तु नाम न समेष्यति, परं परस्मिन् षड्गुच्छके हारबन्धे समेष्यति। शृणु, साधयामस्तावत्--

मिथ्यारम्येऽतिकान्तिप्रतिमसमसमष्टौ मुखे मुद्रमुद्रा,
लेद्राविद्रावहृद्ये! हृतहृदयदरे! दत्सु कर्त्ता कलौ कः।
मन्येऽमन्दं मलेनं विनशनकृतिकृत्ये कृतेशं प्रशन्धा।
शम्भावे! भारभासे! मणिमयमधुरे! धुर्यधुर्ये! रवीमि ॥४८॥

कविः कमलां विशिनष्टि हारबन्धेन। अयि! शम्भावे! विलासादिना आनन्ददायिनि! कमले! मिथ्यैव रम्यवद्भासमानेऽस्मिन् जगति, अतिकान्त्या = विपुलप्रभया, प्रतिमा = तुल्या, समा = सर्वा, समष्टिर्यस्य तत् तस्मिन् मुखे। एकतः सौन्दर्ये सर्वं जगत्, एकतस्त्वन्मुखमेकम्, उभयं समानमिति भावः। तादृशे ते मुखे दृष्टे मुदं = हर्षं गच्छति तादृशी मुद्रा भवति। अहं त्वन्मुखं वीक्ष्यैव हृष्या-मीतिभावः। अयि! लेद्राविद्रावहृद्ये! लिनाति = श्लेषयति संसारे स लेः = मोहः, "लिनातेर्विच्" तं द्राति = कुत्सितां गतिं गमयति सा लेद्रा = मुक्तिस्तत्सरणिर्वा। तस्या विद्रावेण हृद्ये! मनोरमे! हृतो = गमितः हृदयस्य दरो दुःखं यया तथाभूते! दत्सु विषये कलौ युगे को नाम कर्त्ता सम्भवति, भवत्या दन्ता अप्यतुलसुन्दरा इति भावः। अयि! भारेण भासे! उज्ज्वले! "भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः" "तुला स्त्रियां पलशतम्" इत्यमरः। प्रकरणवशाच्चात्र भारः सुवर्णस्यैव ग्राह्यः, तेनैव स्त्रियामलङ्कार-

निर्माणादिति भावः। तथा मणिमयैः = मणिखचितैराभूषणैर्मधुरे ! ते मुख ममन्दं = विपुलं मलेनं = तमोराजं प्रति, विनशनकृतिः = विनाशनम्, तत्र कृत्ये कर्मणि कृतेशम् = विहितेशं मन्ये = जाने। चन्द्रानाश्यं तमोऽपि त्वन्मुखं नाशयति। त्वं प्रकृष्टं शं = कल्याणं दधाति तादृशी। अयि ! धुर्याणां = सौन्दर्ये अग्रगण्यानां धुर्ये ! प्रथमगणनीये ! अहं त्वामेव स्त्रीमि।

सैनिकः—अहह ? पण्डितसार्वभौम ! कविचक्रवर्त्तिन् ! (स्वकीयां मुक्तामालां शास्त्रिणो गले पातयन्) धन्योऽसि ! शोभनं विरचितवानसि। नामातिरिक्तं तद्गुणानपि वर्णयन् वैचित्र्यमाश्चर्यञ्च कृतवानसि। (परितो वीक्ष्य) अनुमीयतेऽर्द्धो याम इव गतो यामिन्याः।

के०के०। आम्, इयानेव प्रतीयते। चन्द्रचन्द्रिकया पुनर्दिवाभूता रात्रिः।

सैनिकः—आम्। अन्यत्किमपि श्रावयिष्यते ?

के०के०—(वक्षसि दृष्टिं क्षिपन्) अये ! इयं कुतो ग्रथितह्रस्वचन्द्रा देदीप्यमानामल-वर्त्तुलमुक्ताऽमूल्या महार्हा माला।

सैनिकः—(गदितुमनीहमानोऽपि) गुरुवर ! एषा तुच्छोपहृतिः श्रीचरणाना मारादादरादाहिता श्रीमत्पादपद्मपरागप्लावितमनोवपुषा दासेन, कविताासक्तचेतोभिर्भवद्भिर्न ध्यानविषयीकृता।

के० के०—अस्तु, शुश्रूषा चेदन्यच्छ्रावयामः। त्वमस्माकमद्य वचोऽर्चनीयोऽतिथिः।

सैनिकः—आं दत्तावधानोऽस्मि देव ! महतीच्छा।

के०के०—शृणु,

नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणां मां नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणां माम्।
नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणां मां नुमः प्रदात्रीं गुणभूषणां माम् ॥४६॥

सर्वयमकम्। प्रदात्रीं = प्रकर्षेण दानशीलां, गुणा एव भूषणानि यस्याः सा तां मां = लक्ष्मीं नुमः। आसमन्तात् त्रायते यः स आत्रः = विष्णुः, तस्य स्त्री = आत्री तां विष्णुप्रियमित्यर्थः। या प्रदा = प्रकर्षेण द्यति = खण्डयति दारिद्र्यं सा तथाभूता विष्णुपत्नी लक्ष्मीः। गुणानाम् = औदार्यादीनां भूरुत्पत्तिर्यस्याः सा चासौ, उषणा, ओषति = दहति पापकर्त्तॄन् या सा गुणभूषणा तां मां नुमः। "उष दाहे।" गुणानां भुवो गुणभुवः =

कलाप्रेमिणश्छात्राः, तेभ्यः सन्वन्ति = ज्ञानं ददति ते गुणभूषणो विद्वांसः "सनोतेर्विच्" तेषां गुणभूषणां = विदुषां कृते प्रदात्रीं मां = मातरं नुमः। गुणभुवमूषन्ति ते गुणभूषाणः 'ऊष रुजायाम्' कनिन् तेषां गुणभूषणां = गुणस्थाननाशकानां प्रदात्रीं = प्रकर्षतयाऽवखण्डनशीलां मां देवीं नुमः।

चिन्तामणिव्रातचितप्रसादसमुज्ज्वलाङ्गां स्तुम ईशवामाम्।
चिन्तामणिव्रातचितप्रसादसमुज्ज्वलाङ्गां स्तुम ईशवामाम् ॥५०॥

समुद्गयमकम्। चिन्तामणिः = अभिलषितवस्तुदं रत्नम्। तस्य व्रातेन = समूहेन चितः = निर्मितो यः प्रसादः = प्रसन्नता तेन समुज्ज्वलान्यङ्गानि यस्याः सा ताम्, ईशवामाम् = शिवस्त्रियं स्तुमः। अण्यते—इत्यणः शब्दः, बाहुलकात्पचाद्यच्, स येषामस्ति तेऽणिनः = शाब्दिकाः, तेषां व्रातेन, व्रतं प्रतिज्ञा-शास्त्राध्ययनरूपा तदेव व्रातं, तेन चितः = उत्पन्नो यः प्रसादो नैर्मल्यं तेन समुज्ज्वलां, चिन्तां = स्मृतिरूपाम्, गां = वाणीम्, ईम् = लक्ष्मीं श्यन्ति ते ईशाः प्रधानत्वाद्दैत्यास्तेषां वामां = प्रतिकूलाम् स्तुमः।

सासिः सिसा सासिसासा सासुसूः सेः ससाससोः।
सासासी सासुसा साऽऽस ससेऽसासिः ससाससा ॥५१॥ (कुलकम्)

एकाक्षरः। ससन्ति = चिरनिद्रायां स्वपन्ति मानवा यस्मिन् तत् ससम् = युद्धं तस्मिन्, असिना सह वर्त्तते या सा सासिः = विधृतखड्गा। सिनोति = बध्नाति—पाशादिना स सिः = बन्धकः। 'षिञ् बन्धने' विच् "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति गुणाभावः। सिं = बन्धकं स्यति = नाशयति सा सिसा। "षोऽन्तकर्मणि कान्ताट्टाप्"। सासिसा असिना सह वर्त्तमानान् स्यति सा पूर्ववत्कान्ताट्टाप्। सासुसूः = असुभिः सह वर्तन्ते ते सासवः = प्राणिनः ओजस्विनः सैनिका वा, तान् सुवति = कर्मणि प्रेरयति या सा सासुसूः "सू प्रेरणे" क्विप्। सेः—अस्य स्त्री ई = लक्ष्मीः, तया सह वर्त्तते यासा सेः। लक्ष्म्या अभिन्नेति भावः। ससा = स्यन्ति ते साः = राक्षसाः "आतोऽनुपसर्गे कः" तान् स्यति सा, स्यतेर्विच्। अससोः = अस्यन्ति ते असाः = असुराः, अस्यतेः 'पचाद्यच्', तान् सुनोति पीडयति सा अससोः 'षञ् अभिषवे' पचाद्यच्। सासासी—ससनं सासः—स्वापः 'षस स्वप्ने, घञ्। तम्, असते = गमयति, "अस गतिदीप्त्यादानेषु" कर्मण्यण्, अण्णन्तान् ङीप्। जगज्जागरणकर्त्री।

सासुसा—असुभिः सह वर्त्तन्ते ते सासवः = विपुलौजसो दैत्याः, तान् स्यति सा। अंसे = स्कन्धे असिर्यस्याः सा। ससाससा—समानान्स्यन्ति ते ससाः = दैत्याः, एकपितृत्वाद्देवानां दैत्याः समानाः। "समानस्येति" सभावः। तान् अस्यति स्यति च सा, पचाद्यच्—उत्तरत्र कान्ताट्टाप्। सा = गौरी "सा च लक्ष्मीः बुधैः प्रोक्ता गौरी सा स च ईश्वरः"—इत्येकाक्षरकोशः। आस = असुरांश्चिक्षेप। तामुमां नमाम इति परेणान्वयः। कुलकम्।

रजोजर्जजजज्जूराऽजी जजज्ज्रेरजाऽजरा।
रराजौजोऽजिरे राजेर्जर्जराजे रुजोरुजा ॥५२॥

द्व्यक्षरः। रजसा = रजोगुणेन, जर्जन्ति = भर्त्सयन्ति "जर्ज भर्त्सनादौ, तुदादिः"। तथाभूता ये जजन्तो दैत्ययोद्धारः "जज हिंसादौ" भ्वादिः। तान् जूर्यति सा 'जूरी हिंसायाम्' अजन्ताट्टाप्। अजी, अजस्य = अजन्मनो भगवतः स्त्री। जजज्ज्रेः—जजतो = युध्यमानान् "जज युद्धे" ज्रिणाति = वयो हापयति सा "ज्रि वयोहानौ विच्"। उरुजा, उरुतो = महत्तो जातापि अजा। अजरा = नियतावस्था। राजेः = समूहस्य, दैत्यानामितिभावः रुजा = पीडा जर्जरस्य = क्षीणतां गतस्य, आजेर्युद्धस्य। ओजोऽजिरे = ओजस्विनि रणाङ्गने रराज = शुशुभे।

योयायियाययीयायाऽरीरं रो रेररेररम्।
ददाददा ददादुद्दे लालेला लोललीलला ॥५३॥

एकाक्षरपादः। यौति = मिश्रयति स्वजीवनेऽधर्मं स योः = नीचवृत्तो राक्षसादिः। "यु मिश्रणादौ, विच्" तं यातीति यायी = तादृग्विधो रक्षःसमूहः यातेर्णिनिः, युक् च, तं याति एवम्भूतो यो ययीः = मार्गस्तस्मिन् यानं यस्याः सा, तेषां विनाशायेतिभावः। या प्रापणे, घञ्। अरीरं रोः। अरिं = शत्रुमीरित्वा इति अरीरम्, ईर क्षेपे। शत्रुं प्रक्षिप्येत्यर्थः। रोः = शब्दायमाना। अट्टहासादिनेतिभावः। अरेः = शत्रोः समीपे अरं = शीघ्रं रेः = गमनशीला। "रि गतौ" विच्। ददाददा—ददते इति ददः, तमाददते सा ददाददा = दातॄणां दात्री। ददादुद्दा—ददान् = दातन् आदुनोति इति ददादुत् तं द्यति = खण्डयति सा ददादुद्दा। इलायाः = पृथिव्याः, लेला = दीप्तिः। लोलां लीलां लाति = आदत्ते सा तथाभूता।

लातातललला तालोन्नतां नीतोन्नतिं नुताम् ।
हंहो ! हंसासिसंहासां नमामो मामुमाममा ॥५४॥

द्व्यक्षरपादः । लातः = आदत्तो गृहीतो यः अस्य = विष्णोः तलः पादतलमिति भावः । तस्मिन् लला = ईप्सा यस्याः सा ताम् । तालवदुन्नताम् । नुताम् = नमस्कारिणां, नीता उन्नतिर्यया सा ताम् । हंसः असिश्च ताभ्यां समः संहासो यस्याः सा ताम् । अमा = निकटं वर्त्तमानाम् , उमां मां = भगवतीं नमामः ।

नमामहे हेममानभासितां जजतां सिभा ।
शिवावाररवावाशि राजिताजिर्जिताजिरा ॥५५॥

प्रतिलोमानुलोमपादः । हेम्ना = सुवर्णेन यो मानः = चित्तसमुन्नतिः, मत्समो नास्तीति विचारः, तेन भासिताम् = उज्ज्वलां नमामहे । किम्भूता सा --शिवानाम्=शृगालीनां वारस्य रवेण वाशते तस्मिन् = युद्धे, जजताम् = युध्यमानानां सिभा = मारयित्री । षिभु हिंसार्थः, पचाद्यचि टाप् । जितमजिरं = रणक्षेत्रं यया सा । राजिता आजिर्यया सा ।

याचते मनसा वाण्या भक्तायादभ्रदापिनी ।
नीपिदाऽभ्रदयाऽऽक्ताभण्यावासा नमतेऽचया ॥५६॥

गतप्रत्यागतम् । मनसा वाण्या वा याचते भक्ताय, अदभ्रं = प्रचुरं दापयति तच्छीला । नीपम् = कदम्बं तदस्यास्तीति नीपी = कदम्बप्रेमी भगवान् कृष्णः, तं ददाति सेव्यत्वेन सा । अभ्रदयाक्ता = अभ्रवन्मेघवद्दययाऽऽक्ता = आर्द्रा कोमलमानसा । भणिनो = विद्वांसस्तेषु आवासो यस्याः सा । अचया = नास्ति चयः = वृद्धिर्यस्याः सा । वृद्धिर्विकारमात्रस्योपलक्षणम् । तामसौ नमते ।

जलजातलसद्धस्तहृद्यायाः शरणं गतः ।
साशङ्कानां शरण्यायास्तस्याश्चरणनीरजे ॥५७॥

निरोष्ठ्यः । जलजातेन = कमलेन लसन् शोभमानो हस्तो यस्याः सा हृद्या च तस्याः । साशङ्कानां शरण्यायाः चरणनीरजे = पादपद्मे शरणं गतोऽस्मि ।

ततश्चाग्रे विवक्षति श्री के० के० शास्त्रिणि अश्रावि "शास्त्रिन् ! शास्त्रिन् ! एहि"—इति ध्वनिः ।

के० के०—आयामि भगवन्! (सैनिकाभिमुखम्) आं श्रृणु—

नुमो मां सद्बुधान् दृष्ट्वा मूढमानससूत्पलान्।
ददद्वागनुकम्पातो मोदमानां त्वरं सुतान् ॥५८॥

अतालव्यः। सद्बुधान्=श्रेष्ठकवीन्। मूढम्=विचारशून्यं मानससूत्पलं येषां तान् यथाभूतान् सुतान्=पुत्रनिर्विशेषान् कवीन्। दृष्ट्वा ददद्वागनुकम्पातः=दीयमान-विवेकपूर्णवाणीरूपया दयया, त्वरम्=शीघ्रं मोदमानाम्=हृष्यन्तीं मां नुमः।

पुनरश्रावि, "शास्त्रिन् शास्त्रिन्" इति ध्वनिः।

के० के०—एमि प्रियवर! लक्ष्मीचन्द्र! एमीत्युत्तीर्य यावद् विवक्षति तावदेव प्रत्युत्पन्नमहोत्कण्ठोऽपृच्छद् विचारचतुरः सैनिकः—देव! कियद्वयसा महीयं महिता देवेन!

के० के०—वीता शरदां विंशतिरागत! मोदेन वयसि सातोषम्।
अधुना धारासारैरविमलकेशां भजामो माम् ॥५९॥

असंयोगः। हे आगत! वयसि=अवस्थायां, सातोषं=सानन्दं, शरदां विंशतिः वीता=गता। अधुना मोदेन=परमप्रेम्णा धारासारैः, अविमलकेशां=कृष्णकचां मां=भगवतीं भजामः।

पुनः श्रुतः "शास्त्रिन् एहि सत्वरम्, व्यत्येति भोजनवेला, शीघ्रतायै प्रेरयन्ति विपश्चितः"—इति ध्वनिः।

के० के०—महोदय, अनुल्लङ्घनीया गुरुजनाज्ञा, भवादृशां समागमोऽप्यानन्ददः। परं समाह्वाननिबन्धो मां विवशयति। समयो लभ्येत चेत्पुनरपि साक्षात्कारेण सम्भाव्याः। मन्ये भवन्निवेशेऽप्यकारणविलम्बेन सोत्कण्ठा भविष्यन्ति भवदनुचराः। आम्, भवतां किं नाम?

सैनिकः—(प्रणमन्) देव, चन्द्र इति।

के० के०—कुशलम्, अस्तु यामः

प्रयाते कवौ तत्त्यागविधुरं प्रदेशं मूर्ध्ना सम्भाव्य चन्द्रोऽपि निजमर्वन्तमारुरोह।

* * *

आसप्ताहं निरन्तरं धारासम्पातः। गहने तमसि लुप्तौ सूर्याचन्द्रमसौ दृष्टिपथमेव नागच्छताम्। वर्षाः, अन्धतमसम्, दन्ताघट्टनं शीतम्, तीक्ष्णरयो वायुः, गृहेषु नाग्नि-प्रज्ज्वालः, काष्ठं क्लिन्नम्, आरण्यका आर्द्राः, दीपशलाका शीतला, पण्यवीथिकासु पण्य-मवरुद्धम्, गृहाणां निपतनध्वनियुक्तः कटुकर्कशमिश्रितो गगनव्यापी कोलाहलः।

सर्वत्र हाहाकारः प्रसृतः। समाचारपत्राणि शीर्षस्थाने [1]जलप्लावस्य दुर्भिक्षस्य च दुःश्राव्यं वृत्तं प्रतिदिनं प्रकाशयामासुः। जनपदेभ्यो नगरेभ्यो नगरप्रतिनिधिभ्यः पौर-प्रतिष्ठानेभ्य[2]स्तारवृत्तान्युपलब्धानि। [3]विदूरालापतः सर्वतः पीडितप्रदेशाद् वृत्तं शृण्वन् पश्यँश्चन्द्रो व्यग्रो बभूव।

स कुमुदिन्या आप्तैरुपदशभृत्यैश्च सह सरोजिनीं दुर्भिक्षपीडिते प्रान्ते प्रेषयन् निरदिशद् यत् सा सर्वां परिस्थितिं परिज्ञाय स्थानीयाधिकारिभिरावश्यकीं सहायताश्चादाय परिस्थितिं नियमयन्तो मां सूचयेत्। उपादिशच्च "सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" त्वञ्चास्मिन् क्षेत्रे नवीना, यज्ज्ञानमद्यावधि नाध्ययनेन ज्ञातं तदनुभवेन ज्ञातुं युवामस्मिन् संसारे प्रेषयामि, एष उत्कृष्टोऽवसरः, परमिदं सर्वदा ध्येयं यदस्य संसारस्य कल्लोलेषु युवयोः प्रवहणं न भवेत्, सफलीभूय समागतयोः स्वागते समुत्सुकोऽहम्। दृढप्रतिज्ञं साहसिनं नरं प्राकृतिक्यो बाधा निश्चितपथान्न निवारयितुं शक्ताः" इति।

राजनगरस्य विशालो दुर्गः प्रासादश्च पीडितानामावासाय दत्तः। चन्द्रेणोदघोषि यत् प्रजाधनेन निर्मितः प्रासादः प्रजाया एव सम्पत्तिः, प्रजाया दुरवस्थासु प्रासादोपभोगो राजानं निरयगामिनं करोति। चन्द्रः शिबिरमध्यवात्सीत्।

कमला समानीतानां दुरवस्थापीडितानां सेवायै [4]आरोग्याशालाप्रबन्धे नियुक्ता, चम्पा च गृहविहीनानामावासाय भोजनप्रबन्धे च। विषमपरिस्थितौ चौरलुण्टाकानाम-वरोधाय संरक्षणे व्यवस्थापने च शक्तिधरो नियोजितः। प्रबलो वायुयानेन जलप्लावनिमग्नं जनपदं द्रष्टुं प्रेषितः। एवं स सर्वानिष्टसुहृदः कर्मणि नियोज्यापि न प्रासीदत्। स स्वयं राष्ट्रं निरीक्षितुकामः [5]फक्कविमानमारुह्य प्रचलितः।

---

१ बाढ, २ तार से समाचार, ३ ट्रङ्क काल, ४ अस्पताल (Hospital)। ५ ग्लाइडर (Glider) चुपचाप चलनेवाला हवाई जहाज।

सर्वत्र पृथ्वी जलाप्लुताऽऽसीत्। उन्नतभूभागेष्वभितोजलाः पल्ल्यो ग्रामाः प्रेक्ष्यन्ते स्म, येषामुटजेषु कूजतां मानवानामार्त्तनादः सहृदयानां हृदयं व्यथयति। नराः नार्यः शिशवः जलजीर्णशरीरा नग्ना बुभुक्षिता अर्द्धमृता मृताश्च वृक्षेष्वारूढाः सन्ति। जलप्लावे महता वेगेन शुष्कतृणौघा खट्वा गावो महिष्योऽश्वा उष्ट्राश्चोह्यमाना अलुप्तचेतनाः करुणस्वरेण रक्षितुमाह्वयन्तः पतयः स्त्रियः, स्त्रियः पतीन्, मातरः शिशून् परित्यज्य काष्ठेषूपविष्टाः सहैव हिंस्रैः सर्पादिभिश्चोपेता अद्गुह्यमाणाः परिस्थित्या मित्रतामापन्नाः क्रन्दन्तः प्रवहन्ति। उल्लोलाः पार्श्वभूमिं भञ्जन्तो वृक्षाँश्चात्मसात्कुर्वन्तः शब्दायमाना बधिरयन्तो भीषयमाणाः व्रजन्ति। पुलिनेषु प्रजा एकत्रीभूयापि जलक्षतवपुषः साधनहीना दीना मृत्युमेवापेक्षन्ते। काश्चन पथिषु मुखं व्यादाय अक्षिणी विस्फार्य स्व विस्मृत्य च शून्यदृष्टयोऽविश्रान्तभावेनानुद्देश्यं व्रजन्त्योऽवलोक्यन्ते।

चन्द्रस्य मानसमदो विलोक्य नितरां दुःखितम्। स शीघ्रं प्रत्यावर्त्य वायुयानैः सिद्धं भोजनं वासांसि काष्ठं दीपशलाकाः शुष्कमन्नं पात्राणि निपातयितु प्रावध्नात्। जले सहस्रशो नाव उडुपाश्च मुक्ताः। [1]अस्वस्थपरिवहनानां सर्वत्र प्रबन्धो विहितः। सर्वतो [2]भारवाहिमरुत्तरै[3]र्बाष्पशकटीभिर्वायुयानैश्चार्त्ताः समायातु प्रारब्धाः। आरोग्यशालायाः[4] कृतयोग्याश्चिकित्सका मनोयोगेन तेषां सेवायै लग्नाः। आरोग्यशालायां केवलं शय्यासहस्रमासीत्। रुग्णानां सङ्ख्या चासङ्ख्येया। चन्द्रेण अन्तःपुरं रोगिणीनां कृते दत्तम्। कमला च रोगिसपर्यायै नियोजिताऽऽसीदेव। आरोग्यशालाया अन्तःपुरस्य च कोणं कोणं रुग्णैर्व्याप्तम्। [5]विरामदेषु शय्यानियोजिताः।

कमला आमध्याह्नमारोग्यशालायाम्, अपराह्णत आपूर्वरात्रञ्च महिलारोग्यशालायां व्यतियापयति स्म। निशीथे च [6]विमर्द्दप्रकाशिकामादाय पूर्णामारोग्यशालां पश्यन्ती अवर्त्तत। चिकित्सका धात्र्यः परिचारकाः सर्व एव स्वं स्वं कार्यं कौशल्येनाकुर्वन्। प्रतिदिनं सा व्रणिनां व्रणबन्धनं स्वयं चिकित्सकेन वोन्मुच्य व्रणं परिशोध्य निबध्य च तेषां स्वास्थ्याय भोजनाय विश्रमाय निद्रायै च पृच्छन्ती धैर्यमुपदिशन्ती रोरुद्यमानान्

१ अम्बुलेन्स, २ ट्रक, ३ रेलगाड़ी, ४ योग्या = शल्यकर्माभ्यास, ५ वरामदा = विरामो विश्रमोऽवसानं वा। गृहिभ्यो विश्रमं गृहाय अवसानं वा ददाति सः। ६ टार्च लाइट।

मृतलुप्तबान्धवान् नष्टधनान् गतगृहान् सान्त्वयन्ती मुग्धस्मितेन स्मयं सञ्चारयन्ती रोगिण आह्लादयत्।

स्त्रीविभागे कारुण्यपूर्णं दृश्यमासीत्। मृतमातृकाणां शिशूनामपरिसङ्ख्येयाः शय्या आसन्। प्रत्येकस्य कृते एका धात्री क्रीडासाधनानि चासन्। अन्तःपुरस्य सर्वा दास्यः शिशुसेवायां गृहीताः। कमला स्वयं मातृहृदयेन तान् लालयति स्म। यदा सा विभागे प्रविशन्त्यासीत्, सर्वे शिशवः "अम्बा आगता" इत्युच्चैर्ब्रुवन्तस्तां पर्यावृण्वन्ति स्म।

लुप्तमातापितृपतिपुत्राः स्त्रियोऽनारतमार्त्तं रुदत्यो जीवनं हातुं कृतसङ्कल्पा औषधं पथ्यं भोजनमनश्नत्य उच्छूननयनाः कमलां व्यथयन्त्य आसन्। सा तासां परिचय-मधिगत्य जनसेवाविभागतः[1] प्रतिक्षणं दूरालापतो लुप्तसम्बन्धिनां कृते जिज्ञासमाना सान्त्वयन्ती स्वहस्तेनौषधं पथ्यं भोजनं ददती धैर्यमुपदिशन्ती अवर्त्तत। स्वल्पै-रहोभिस्ता तां देवीत्याहुः। परं कमलया भगिनीनिर्विशेषं प्रेक्षणाय प्रेरिताः सौहार्देन भगिनीशब्देनोल्लासयामासुः। सर्व एव रोगिणो व्यथासमये तां समीपमेव ददृशुः।

उल्लाघानां पुरुषाणां महिलानां च कृते विविधाः कुटीरोद्योगाः स्थापिताः। शिक्षायै रुचिमन्वीक्ष्य शिक्षका नियुक्ताः। शिशवः शिशुशालायां प्रेषिताः। सर्वेषां नामानि चित्राणि परिचयेन सह वृत्तपत्रेषु प्रकाशितानि।

चन्द्रः प्रतिदिनं जलाप्लुत क्षेत्रं [2]फक्कविमानेन स्वयमपश्यत्। एकदा स जलप्लुतं प्रदेशमवेक्ष्य प्रत्यावर्त्तमान एकस्मिन् पुलिने शिबिरसन्निवेशमपश्यत्। स्थानमिदं राजनगरतो नातिविदूरमासीत्। सन्निवेशश्च सुभगः सुदक्षैः सैनिकैः कृतरक्षो व्यवस्थितो जलप्लावेनाप्रभावितः शान्तश्चासीत्।

एका हीरकमालेव भास्वरा स्वर्णरागा रमणी नद्यास्तटे सान्ध्यविधये अभिसूर्यमुप-विष्टाऽऽसीत्। शोणितशोणितौ तस्याः करौ बद्धाञ्जली आस्ताम्। सान्ध्यवेलोऽरुणिमा तस्या वर्त्तुलोन्नतकपोलयोर्निपत्य तां सेवयति तस्याश्छविं द्विगुणयति। मुग्धा यदा कदा कपोलयोरापततः केशान् मृदुलमृदुलाभिस्तनुतनुभिः कराङ्गुलीभिरपसारयति, स्वं मुखं चन्द्रमिव विशदयति।

यत्रेयं विनीता वनिता स्थिताऽऽसीत्तस्मादनतिदूरे एवापरं पुलिनमशोभत।

१ पुलिश। २ ग्लाइडर=चुपचाप चलनेवाला हवाई जहाज।

पुलिनं जलक्षालनप्रसन्नपत्रपुष्पैः क्षुपैः पूर्णमासीत्। उल्लासः, शान्तिः, सौन्दर्यम्, प्रकृतेः सुन्दरतमं रूपं तत्रासीत्। जगतश्चिन्ता, तृष्णा, मात्सर्यमभिशापः, आक्रोशः जनरवस्तत्र सर्वथा नासीत्। विविधरागाः पतङ्गिका अलिप्तपक्ष रनारक्ति घोषयन्त्यः क्रीडन्त्य आसन्।

अभितः क्षुद्रा नद्यो मध्यकृशा मुग्धा इव प्रवहन्त्य आसन्। प्रचण्डधारासम्पाताद्विरता प्रकृतिः सम्प्रति शान्ता भवन्ती नीरवतां शनैश्शनैः प्रसारयन्ती मलयानिलेन निर्जनशान्तिं लालयन्त्यासीत्। सर्वतो जलक्षालनविगतमला नयनहारिणी विपिनविभूतिर्मानसं हरति स्म।

सन्ध्यासमय आसीत्। प्रदेशशान्ततां विचार्य तत्रैव सन्ध्योपासनां विधित्सुश्चन्द्रः सन्निवेशपुलिने स्थानाल्पतया अवतरणासौकर्येण पार्श्वपुलिने फक्कविमानमवतरणायादिशत्, नदीशिलातले उपविश्य मुखं प्रक्षाल्याचम्य प्राणानायम्य सान्ध्यविधिप्रवणोऽभूच्च।

आकाशबिम्बं स्वच्छनदीजले दृश्यते स्म। चन्द्रो विचारयामास, महद्विशालं वर्त्तते एतदाकाशम्। अहह! हिमगिरिसदृशा दृशामनवधयोऽयुतशो वारिधराः सूर्यसदृशा ग्रहाश्चास्मिन् सावकाशं चकासति। विज्ञायते सूर्यः [1]सपादनवकोटिक्रोशमितं दूरमस्ति। अस्माकं पादाङ्गुल्यां कण्टकेन विद्धायां यावता शैघ्र्येण मस्तिष्के ज्ञानं भवति; तथैव कल्प्यतां यद्यस्माकमङ्गुली सूर्यसामीप्यमेत्य तत्तापाद्दहेत्, तदा तद्दहनं पञ्चदशवर्षैरस्माभिर्ज्ञातं भवेत्, इयान् सूर्योऽस्मत्तो विदूरोऽस्ति। अहह! एतादृशा अनन्तसंख्याः ग्रहा आकाशाजिरे चरन्ति, ये विदूरत्वादस्माभिर्लघुलघवः प्रतीयन्ते।

अकल्प्यमानकल्पना नीहारिकाश्चास्मिन्ननन्तब्रह्माण्डेऽनन्ता असङ्ख्येयाश्च सन्ति, विदूराश्चेयत्यो यत्—यः प्रकाशः प्रतिक्षणं[2] षडशीतिसहस्राधिकैकलक्षक्रोशमितमध्वानमतिक्रामति स प्रकाशस्तत्र त्रिंशल्लक्षवर्षैर्व्रजेत्। विज्ञायते एषा भूमिरपि यस्यां सचराचरं जगदिदं वसति कदापि सूर्यस्य भागो ज्वलदङ्गारप्रतिम आसीत्। परं प्रकृत्या बहिः शीतलीभूय क्वचन काले सूर्यगोलकान्निःसृता, अद्यापि तमभितो भ्रमति। एष चन्द्रोऽपि [3]एकाब्जवर्षपूर्वं पृथिव्याः सूच्याकृतिर्भाग आसीत्। सोऽयमेकदा पृथ्वीतो भिन्नः। तेन भूमौ [4]सप्तविंशतिक्रोशनिम्नः खातः समजनि। स एव समुद्र उच्यते।

---

१ सवा नो करोड़ मील। २ प्रकाश का वेग १ मिनट में १८६००० मील है। क्षण = मिनट। ३ एक अरब। ४, २७ मील गहरा। सभी जगह क्रोशसे मीलही ग्राह्य है।

एषा भूमिः—अष्टसहस्रक्रोशमिता महतो स्थली—आकाशे प्रचण्डगत्या सततमतन्ती वर्त्तते। पूर्वं यदा चन्द्रो पृथिव्या सहैवासीदेतस्या गतिस्तीव्राऽऽसीत्, तदाऽहोरात्रं लघ्वेव भवदासीत्, परन्तु अधुनाऽस्या गतिर्मन्दा जाता, प्रतिहोरं[1] केवलं षट्शतोत्तर-षट्षष्टिसहस्रक्रोशमात्रम्। अहह! यामिमां पृथ्वीं महतीं कलयामः, सैषा आकाशीयतारासु कणवत् प्रतीयते। ज्येष्ठा नाम नक्षत्रमहो! इयद्विशालं वर्त्तते, यत्तस्मिन् सप्त-[2]शङ्कुमिताः पृथ्व्यो मातुं शक्नुवन्ति। हन्त! एवं विधान्याश्चर्यवन्ति अनन्तानि नक्षत्राणि आकाशक्षेत्रे भ्राजन्ते। ध्रुवनक्षत्रमस्मत्तः पञ्चाशन्महापद्माधिकद्विशङ्कुक्रोशमितं[3] विदूरमस्ति। हन्त! कीदृशी विलक्षणाऽनन्तता महाकाशस्य!

चन्द्रे कलङ्का भवन्तीति शास्त्रं परिचाययति, परन्तु विज्ञायते तेऽमी नद्यो भूधराश्च सन्ति—इति सर्वो विजानाति, परन्तु हन्त! सूर्येऽपि—अनिर्वचनीयद्रव्यरूपे भगवति भास्वत्यपि इयन्तो महान्तोऽस्थिराः, कलङ्काः भवन्ति, येषु पृथ्वी सावकाशं समा-गच्छेत्। यदि सूर्यो जगद्विधाता सूर्यः संसारक्षेमसाधकः सूर्यः, निरपेक्षस्तपस्वी, अवाञ्छितार्थदः सूर्यो न भवेत्, नोदियात्, यद्यपि नेदं सम्भाव्यते, तदा दिनद्वयेन वायु-मण्डलस्य जलवाष्पं हिमीभूय समस्तं स्थावरजङ्गमात्मकं जगदेव नाशयेदिति।

सूर्यः पश्चिमाशाङ्के स्वमार्पयत्। शब्दान्तरेण पृथ्वी पश्चिमाशामुपसूर्यं प्रापयत्। क्षणं तमश्छन्नम्, परं सद्य एव पूर्वाशाङ्कं शशाङ्कोऽङ्कयामास। शशिसम्भवा विभा बभौ। भगवतः सुधाकरस्य ज्योत्स्ना [4]विद्युज्जनकस्याऽऽलोकेन सम्मिल्य रासक्रीडया क्रीडन्ति स्म।

प्रदोषोपस्थानविरता रतिप्रतीका रमणी पूर्णेन्दुं प्रणम्य नद्यै च पुष्पाञ्जलिं समर्प्य भूचन्द्रमिव चन्द्रं स्वाक्षिलक्ष्यं विधाय सन्देहविधौ सत्यसाक्षिणा निर्मलेन चेतसा क्षणं विचिन्त्य एकाकिन्येव नावमारूढाऽभिचन्द्रं प्रतस्थे।

पुलिनान्तरालं स्वल्पमेवासीत्, तरणितीर्णा रमणी पुलिनप्रदेशं प्राविशत्। विविध-रागाः कुसुमावल्यस्तस्या अङ्गान्याश्लिष्य धन्या अभवन्, यासां सत्कारे विलक्षणं [5]संगीत-

---

१ हर घन्टेमें ६६६०० मील। २ सात नील ७००,००,००, ००,००,००० पृथ्वी समा सकती है। ३ दो नील पचास खरब मील, २,५०,००,००, ००,००,०००। ४ Electric generater. ५ आरकेष्ट्रा।

मासीत्। नीरसं शुष्कं वायुमण्डलं वासन्तिकेनोन्मादकेन सौरभेणेव पुष्पपरागपरिमलेन प्रकम्पितम्। ब्राह्ममौहूर्तिकं तमोऽपहन्तुमुषःप्रभवा विभेव सा शनैश्शनैः पुलिनमारोहत्। तस्याः मुखं पौर्णिमचन्द्रवदाह्लादकं साभञ्चासीत्। यं ग्रसितुकामा सर्पिणीव वेणी—यस्यां कुन्दसुमनसश्चन्द्रं रक्षितुं वेणीसर्पिणीमाक्रमणेच्छयाऽऽक्लिष्टास्तारा इवैक्ष्यन्त—आपार्ष्णि लम्बमानाऽऽसीत्। साक्षाल्लक्ष्मीरिव भासमाना सा सम्मुखीभूय चन्द्रं प्राणमत्।

चन्द्रेणैतादृशी साधनसम्पन्ना सम्पन्नसौन्दर्या रमणी अद्यावधि नेक्षितासीत्। तस्याः मुखमण्डलेन सा परिचितेव कदाचिद् दृष्टेव च प्रतीयते स्म। विस्मितः स स्मितावलोकनेन तामुदतरत्।

अथ सा "देव ! प्रमदाजनस्य धाष्टर्यमक्षम्यम्, परं विपुलं क्लिष्टस्य धाष्टर्यं क्षम्यं भवति गुणज्ञानाम्। अतोऽहं काप्यपरिचिता काँश्चिदपृष्टपूर्वान् प्रश्नान् पिपृच्छिषामि, दयनीयाहं दीनवत्सलैर्दीना" इति सप्रश्रयमवादीत्।

तस्याः स्वरे सङ्गीतवत् सुकोमलता माधुर्य्यञ्चासीत् सौन्दर्य्ये च कवित्वम्। उत्तेजनावशात्तस्या नेत्राभ्यां विचित्रं ज्योतिर्द्योतमानम्, ओष्ठौ स्फुरन्तौ शरीरञ्च रोमाञ्चितमासीत्। तस्याः स्फुटं विकसितयोश्चक्षुषोर्मादकता, अरुणकपोलयोश्चोल्लास आसीत्। सौन्दर्यं तस्याः शरीरसौधेऽट्टहासं कुर्वदासीत्। साधनायास्तेजोमय्याऽऽभया सा तपस्विनीव प्रतीयते स्म।

अथ चन्द्रस्तस्याः निःसीमं साहसम्, उत्कृष्टां वीरतां साधनाञ्च, अनितरसाधारणीं प्रतिभाम्, अलौकिकं सौन्दर्यम्, पार्ष्णिस्पर्शिनः सुचिक्कणान् कलावलयितान् कृष्णोज्ज्वलान् केशान्, सुभगान्यङ्गानि विलोकयंश्चकितस्तर्कतर्काकुलो नेयं लज्जावनता भयविह्वला सुरसुन्दरीव भव्यदर्शना दुश्चरित्रा भवितुं शक्नोतीति विचारयन्नवोचत्—

चन्द्रः—आम्, स्वैरं स्वैरमभिधीयताम्। अभिधास्ये अभिधेयम्।

रमणी०—कदापि देवः स्वपवित्रपादविक्षेपणेन किमपि पाषाणीभूतं पुरमलञ्चकार ?

चन्द्रः—आम्, एकदा····

रमणी०—कतीनां वर्षाणां वार्त्ता······

चन्द्र०—युगादधिकम्भवेत्······

रमणी०—सत्यम्, तत्र भवान् कति दिनान्यवात्सीत् ?

"मासद्वयम्भवेत् ।"

"राज्ञोऽन्तःपुरमप्यवालोकि ?"

"आं पाषाणपुरस्य पाषाणीभूतमन्तःपुरमवालोकि ।"

"किं किमवालोकि तत्र ?"

"विपुलमवालोकि, भवत्यप्यवालोकि ।"

"अकार्यपि किमपि ?"—हृष्टा रमणी प्राह ।"

"सिंहाखेटप्रवृत्ताया भवत्याः साहाय्यमकारि ।"

"नातः परं श्रोतव्यमस्ति देव !"—प्रफुल्लनयननीरजनीरेण पादाभ्यर्चनां रचयन्ती सगद्गदमाह अन्तर्निहितहर्षभरभाराक्रमणरक्तमुखी रमणी "देव, साहं मन्दभाग्या राजकुमार्यस्मि, या परार्तिहारिणा हारिणा हरिणाक्षेण देवेन पाषाणपुरे प्रेक्षिता रक्षितानुकम्पिता च। दुर्विदग्धदुर्दैवः किमिव विधित्सतीति न कश्चन प्रभुर्ज्ञातुम्। क्षत्रियबालिकासुलभा ममेयं प्रतिज्ञाऽऽसीद् यदहं गुणाभिलषितं पुमांसं वरिष्ये। अहञ्च रमणी रणप्रिया। न कोऽपि मामतोषयत्। आखेटसमये देवस्य विलक्षणप्रतिभया भया चाकृष्टा कृतसङ्कल्पा परं प्रक्षीणसौभाग्या जगद्धितमहितं देवं वीक्ष्यापि स्वाभिप्रायं प्रवक्तुमसमर्थाऽद्य पर्यन्तं हताशैवासम्। यतः प्रचुरपर्यालोचनेनापि श्रीमन्तो न लब्धाः। अहं देव, देवाराधनतत्परा विविधव्रतकृशाङ्गी यमनियमनिरता पित्रावरुद्धापि भवतोऽन्वेषणाय निष्क्रान्ता परिमितसेनासहाया। अतैलं ज्वलतोऽवर्त्तिकस्य दीपस्येव मम दशासीत्। मम समीपे श्रीमतामभिज्ञानम्, नाम, कुलम्, निवासः, पदमित्यादि किमपि नासीदन्वेषणाधारभूतम्। ईश्वरो जानाति कानि कानि नगराण्यद्राक्षम्, वनान्यविशम्, विचित्रावासेषु न्यवसम्, सरित उदतरं भयावहस्थानेषु चौरलुण्टाकवृन्देऽगमं परन्तु हन्त ! भवन्तं भया भास्वन्तं नालभे। साधनाविरहितः कथं प्राप्नुयान्मानवोऽभीप्सितम्।

ततो विमलपुरवासिना जनेन केनापि किमपि बोधिता कथमपीयन्तं महान्तमध्वानमतिक्रम्य गतपक्षे राजनगरभूमिं समायाता। अन्तःप्रवेशसङ्कुचिता वने वासमुचितं मन्वाना भवन्मेलनोपायमपेक्षमाणाऽऽसम्। परमयं भगवानिन्द्रः संवर्त्तकैरिव मेघैः प्रकटितकोपो मामत्रैव न्यरुणत्। भगवत्कृपया मम पार्श्वे सर्वा सामग्री आसीदतः

किमपि कष्टं नाभूत्। अथ भगवानयममृतमरीचिर्मज्जीवनेऽपि सुधाविप्रुषो न्यसेचयत्, यदहं पवित्रचरित्रेण मनसा प्रेर्यमाणाऽऽराध्यदेवमभ्यगमम्। भवत्यधिगते मम सर्वाश्चिन्ता व्यपगताः। यात्रायामसङ्ख्येयैः कष्टैराशङ्काभिश्च व्याकुलमानसाऽऽसम्, परमधुना आशङ्का, चिन्ता, व्याकुलता च युगपदेव व्यपगता। अधुनाऽऽदिश्यतां कुटिलकालक्लिश्यमानायै दास्यै कश्चनादेशः, क्षम्यताञ्च प्रकृष्टं क्लिष्टस्य प्रमदाजनस्य प्राज्ञोद्वेगकरी प्रथमा धृष्टता" इति।

सर्वतः प्रसरति प्रावृषेण्ये सौरभे, ईषत्कम्पने मलयविकम्पने, उज्ज्वलायां चन्द्रिकायाम्, स्मयमानायां तारावल्याम्, विजने प्रदेशे, नैश्यां स्तब्धतायाम्, निर्मायिगिरा विवश्चनवचनेन प्रकृतिं प्रसादयता प्रसन्नेन मुखेन, मनः प्रसादयन्त्यामनुपमेयसुन्दर्यां सोपक्रमं विवक्षुरपि विजयाजित इव स्खलन् जरन्नैयायिक इव समदमवादीत्—

विकसितयौवनारामे! रामे! भवादृशीभिर्दर्शोत्पादितमानसोन्माथिमन्मथाभिः, रणप्रियाभिः प्रतिज्ञातानि वैफल्यमाप्नुवन्ति कार्याणि नाम? परमहं विवाहितः परिस्थितिवशान्मम तिस्रः स्त्रियः। अहं राष्ट्रे बहुपत्नीकत्वं व्यपाकर्त्तुं सज्जः, कथमेतदपकृत्यं स्वयमेव कर्त्तुं शक्नोमि। परतश्च मम स्त्रियो लोककल्याणे लग्नाः। सांसारिकभोगान् विहाय मदाज्ञया कर्माणि कुर्वतीनां तासां कामिनीसुलभा भोगाः सर्वथाऽपगताः। मम प्रासादः साधनास्थलम्, न भोगभूमिः। त्वञ्च त्रैलोक्यसुन्दरी कथमपि न तत्र मनोऽभिलषितान् भोगानवाप्स्यसीत्येष विचार्यो विषयः, अहं विचार्य कथयिष्यामि।

रमणी०। सत्यम्, विचार्य जलं पाययितुर्जलस्य दानेऽदाने वा नान्तरम्। परं पिपासाक्षामगलस्य जीवनमरणयोः प्रश्नः। अथ च दोषा देव! भावनाश्रयाः। बहुपत्नीकत्वं दोषोऽपि सद्भावनावशाद् गुणः। साधनास्थले बहवः शिष्याः समाने गुरौ युगपदेव साधनां कर्त्तुं शक्ताः। मात्सर्यं भोगभूमावेव भवति, न साधनास्थले।

चन्द्रः०। अनुरागाभिलाषिणो विरक्तेन सहाजीवनं सङ्गो न सुखावहः। भोगाभिलाषिणः सहयोगिनो भोगिन एव युक्ताः।

रमणी०। मैवम्, स्त्रियो हि द्रवधातुसमाः, परिस्थित्यनुसारं भवितुं शक्ताः। अहं तिसृणामेव भगिनीनां दास्यमाचरन्ती श्रीमन्तमाराधयिष्यामि, नो चेदत्रैवामरणं स्थित्वा दूरतः श्रीमन्तमर्चयिष्यामि, 'कन्या सकृत् प्रदीयते' देव!।

चन्द्रस्तस्या रणनैपुण्यं साहसं सौन्दर्यं स्वस्मिन् भावमार्यनारीसंस्कृतिञ्च विचार्य वदन्नासीत्तदैव यानचालकोऽसूचयद् यद्राजनगरस्य समीपे सेतुभङ्गाद् वाष्पशकटी दुर्घटनाग्रस्तेति वितारवृत्तोद्घोषेणासूचि—इति।

"हन्त! दौर्भाग्यं राष्ट्रस्य, अस्तु, यानं सज्जय। (अभिरमणि) अस्तु, जातं तज्जातम्। अप्रियमेलनं प्रेयसीनां दुःखम्। पुलिनं न सुखावहम्। भवती प्रासादे विश्राम्यतु, आज्ञापयतु चानुचरान् दुर्गमागन्तुम्। आरोह यानम्, व्यत्येति वेला। किं नाम देव्याः?"

"दास्या नाम सूर्यप्रभा"।

चन्द्रो वितारवृत्तोद्घोषकेण सैनिकानौपचारिकयूथञ्च[1] घटनास्थलं गन्तुमादिश्य स्वयमपि सूर्यप्रभया सह जगाम। सेतुर्नवीन आसीत्, कथं स भग्न इत्येव तस्य विचार आसीत्।

वाष्पशकट्यां प्रतिहोरं चत्वारिंशत्क्रोशवेगेन धावन्त्यां सेतोर्लौहवलभी[2] अकस्माद् भिन्ना। वाष्पशक्तियन्त्रं[3] सह चतुर्भिः[4] पथिकावासैर्नद्यामपतत्। असङ्ख्या नरा नार्यः शिशवः सह विपुलेन धनेन नद्यां निमग्नाः येषां चिह्नमेव नावलोक्यते स्म। शेषा दशावासा उद्वृत्ता[5] अन्योऽन्यं प्रविष्टाः। मानवाः पिच्चिताः, अर्द्धं मृताः, तृतीयांशा आहताः चतुर्थांशाः साधारणमाहताः। नदीनिमग्नानां कृते उत्थापकाः[6] नियुक्ताः, मृतानामाहतानाञ्च प्राथमिकमुपचारं कृत्वा अस्वस्थपरिवहनेन आरोग्यशालायां प्रबन्धो विहितः। यथाज्ञानं परिचयाः पत्रेषु प्रकाशिताः। घटनास्थले सैनिका आयोजिताः। चन्द्रस्य चेतो दुर्घटनापीडितान् विलोक्यावसन्नम्।

* * *

"वृष्टिर्विरता, परं प्रवाहेषु जलं प्रतिदिनमेधमानं वर्त्तते" इति चरेण चन्द्रो न्यवेदि। चन्द्रेण जलप्लावस्य वाष्पशकटीदुर्घटनायाश्च कारणं ज्ञातुमनुसन्धानमण्डलं[7] नियोजितम्, आज्ञप्तञ्च पक्षाभ्यन्तरे विवरणदानाय।

* * *

प्राभातिको रागो वातमारुह्य कर्णशष्कुलीं प्रविश्य मन आह्लादयति स्म। चेतो-

---

१ प्राथमिक चिकित्सा करनेवाले। २ लोहे का गाटर। ३ भांप से शक्ति उत्पन्न-करनेवाला रेल्वे इञ्जिन। ४ डिब्बे। ५ उलट गये। ६ क्रेन। ७ Investigation Commisson.

विकर्षिणी नीरवता प्रसृताऽऽसीत्, यस्यां तन्त्रीरणरणका उल्लासं स्फूर्तिं चेतनां जनयन्त्य आसन्। क्वचन क्वचन ब्राह्मे मुहूर्त्ते विदुषां विरला वाचो भगवद्भजनं सारत्वेन वर्णयन्त्यः श्रूयन्ते स्म। अकस्माद् वितारवृत्तमघोषयद् यद् राजनगरस्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि गव्यूतिदशकान्तराले वातहंसः[1] क्षतिग्रस्तः। चन्द्र उत्थितमात्र एवैतच्छ्रुतवान्। प्रबलोऽमुना वायुयानेन जलाप्लुतं क्षेत्रं प्रेक्षितुं प्रेषित आसीत्। चन्द्रश्चिन्तयामास, कथमहं कुमुदिन्या अग्रे स्थास्यामि। हन्त! हता कुमुदिनी! दुर्भिक्षग्रस्ते प्रदेशे सोत्साहं जनान् सेवमाना सा यदेदं श्रोष्यति ·····हन्त! धातः! किं चिकीर्षसि? प्रबल! सत्यं सफलं ते जीवनम्।

घटनास्थलं प्रेक्षितुकामो मरुत्तरेण सत्वरं गतवान् सः। औपचारिका आसन्नेव। योजनविशाले क्षेत्रे वायुयानस्य तस्मिन् स्थितानाञ्च अवयवा अपरिचीयमानाः प्रक्षिप्ता आसन्। एकतश्च विण्डितं ज्वालाभर्जितं वायुयानम्। अग्रिमभागो वायुयाने नासीत्।

अप्राप्तसन्तोषो वायुयानावतरणभूमिं[2] गतोऽजिज्ञासत उत्तरितश्च "वातहंसे चालकद्वयम्, द्वौ च सैनिकावास्ताम्, प्रबलो व्यवस्थायै तत्र स्थितः"।

सन्तोषस्य निःश्वासो निरगात्। मनुष्यः प्रकृतिं जेतुं कृतप्रयत्नः। जले स्थले नभसि निर्बाधगमनः स कृतकृत्यमात्मानं मनुते। परं प्रकृतिस्तस्याल्पज्ञतां विचिन्त्याट्टहासं कुरुते। किमेष एव प्रकृतिजयः? मानवः कथं भ्रान्तः? अल्पेऽपि ज्ञाने कीदृशी तस्य मदान्धता? इति स विचारयामास।

* * *

माननीया महाराज्ञी सरोजिनी पत्रं लिखितुमादिशति

—कुमुदिनी

विजयतां भारतीया संस्कृतिः।

अहं जविना[3] जीपेन व्यवस्थां सम्पादयन्ती प्रान्तममुं पर्यटामि। प्रान्ते प्रतिशतं नवनवतिर्ग्रामाः। सर्वत्र दुर्भिक्षम्। ग्रामेषु बहवो मृताः, केचन शमीपत्राणि शमीत्वचश्च जग्ध्वा जीवनं यापयन्ति। अन्नरहिता अपि नान्नं याचितुं पारयन्ति मनस्विनो ग्राम्याः।

---

१ एक वायुयान का नाम। २ एरोड्रम। ३ जीवयति=युद्धादिषु शीघ्रं सुदूरं प्रापणेन अप्रतिरुद्धगमनेन च स जीपः "पृषोदरादित्वात्साधुः" (जीप गाडी)।

ह्रदनदीस्रोतोविरहितेऽस्मिन् प्रदेशे कूपेषु जलमेव नास्ति। द्वित्रयोजनतो जलमानीय बिन्दुमात्रया पीयते। ग्रामान्तेषु पशूनां कङ्कालाः प्रसृताः। सर्वतः सिकतापर्वतेषु हरितपत्रस्य दर्शनमेव नास्ति। कङ्कालकलेवराः, श्यामाः, नग्नाः, नराः, परेता इव परितः प्रेक्ष्यन्ते। सर्वत्र दीर्घाकारा साकारेव दीनता दरिद्रता बुभुक्षा रिक्तोदरा दन्तान्निष्काश्य निखातनेत्राभ्यामश्रूणि सारयन्ती मानवोचितं सम्मानं सम्मार्य हस्तं प्रसारयन्ती हट्टं हट्टमट्टमट्टम्, नगरं नगरम्, ग्रामं ग्रामम्, गृहं गृहम्, कुटीं कुटीं भ्रमन्ती अतृप्तोदरा मानवमांसामोदमग्ना नग्नेव मृत्युदूती सतोषं जोषं तालं रचयन्तीवासंख्येयानवतारान् गृहीत्वेव भ्रमति।

असहाया निरुपाया वर्षैः साशं सतोषं सश्रमं पोषिताः कमलकोमलाः मृत्योर्मुखे ग्रासीभूता दंष्ट्रापातमिवान्तिमं क्षणं प्रतीक्षमाणाः क्षुधया शुष्यमाणा माणवका दुःखं सोढमपारयन्तः कृष्णीभूय पीतीभूय पादपात् पत्राणीव निपतन्ति गतजीवनाः। विश्वख्यातिमेदिनी अद्य क्षुत्त्रस्तानां विपद्ग्रस्तानामस्तसत्त्वानां कङ्कालैः पूर्णा।

दुर्भिक्षक्षतानां बुभुक्षितानां मानवानां समूहो भाजनानि वासांसि आभूषणानि भूमिं बालान् युवतीश्च विक्रीय पैतामहं गृहं परित्यज्य, प्रवर्षणाशां हिमालयकन्दरायां शाययित्वा सुभिक्षविश्वासञ्च महासागरस्यागाधे तले निमज्ज्य वृषभेषु वस्तुजातमायोज्य व्रजति। सघनवनच्छायासु चकासतां विधूयमानानां क्षेत्राणां नयनमनःप्रसादनी विभूतिरद्य लुप्ता। उपत्यकासु वनेषु प्रान्तरेषु विविधद्रुमैः सज्जिता पुष्पफलख्यातैस्तरुवरैः समृद्धाः सरित स्रोतसो निर्झरस्य च पार्श्वे नितरामुर्वरा सुहासिनी जगद्वन्द्यवैभवा? विश्वभरणी धरणी क्वाद्य? हन्त! सेयम्, काण्डदण्डद्रुमा शस्यहीना दीना मलिना क्षीणा अनन्ताजगररूपमिव धृत्वा जगद् ग्रसितुं सज्जा। भ्राता भगिनीम्, माता स्तनन्धयन्, वृद्धो युवानं जग्धुमिव सज्जः।

यत्र पत्नी यौवनं सौन्दर्यं विलासं हावान् भावान् प्रेम च विस्मृत्य पत्युः, शिशव स्तूलायितान् शुष्कसङ्कुचितचर्मावशेषान् वा स्तनान् निष्पीड्य अर्द्धचतुर्थांशान् शोणितपृषतान् निपीय मातुः, हिमकेशाः कङ्कालकलेवराः भस्त्रावच् श्वसन्तो वृद्धाः पुत्रेभ्योऽन्नकणान् सस्नेहं सकातर्यमभिलषन्ति, तत्रैव स्वस्य स्वल्पलाभलोभेन देशस्य समाजस्य हानिमाचरन्तो विदेशेषु विरोधिषु अन्नं प्रेषयन्तोऽधिकलाभलोभेन निरुन्धन्तो वा व्यापारिणोऽक्षिसमक्षं स्वभ्रातन् म्रियमाणान् दृष्ट्वापि दयामनावहन्तो राक्षसा इव स्वस्य मनसो

रञ्जनाय हास्यनिर्भरैः सुराचषकैर्मृदङ्गतालैस्तन्त्रीरणरणकैर्नूपुरशिञ्जितैः सह पतिव्रतानां पातिव्रत्यं कुमारीणां कौमारं निर्दयं निर्घृणं निर्लज्जं राजतताम्रमुद्राभिः साट्टहासं लुण्ठन्तो विहसन्ति। येषां विशालाट्टालिकासु भोगा विलासैः सह रत्नजटितस्वर्णचषकैः सुरां निपीय नृत्यन्ति। यत्र कुलाङ्गनानां पतनं वीक्ष्य गर्वितमुख्यश्वकितहरिणीप्रेक्षणेन विमोहितसधनाः सुलोचना मन्दोदर्यो वारवध्वः स्मयमाना मोदमग्ना नग्ना इवान्वर्थैर्विविधरागैरम्बरैर्भूषिताः पतङ्गिका इव मनो रञ्जयन्ति। यत्र भृत्याः श्वानश्चाप्यजीर्णग्रस्ता वम्यतिसारान् भजन्तश्चिकित्सालयेषु प्रलम्बां पङ्क्ति [1]विरचयन्ति।

प्रजाः स्वभाग्यं धिक्कुर्वत्यः स्वाधिकारं स्वभागं स्वार्जितं द्रव्यं परैरुपभुज्यमानं विनाश्यमानञ्च वीक्ष्यापि न किमपि कुर्वत्यो वराक्योऽकर्मण्याः कायराः[2] कष्टानि जोषं सहन्ते।

धनिनो भृत्यानुपदिशन्ति—भगवता परब्रह्मावतारेण कृष्णेनोदघोषि यत् 'कर्त्तुःकर्मण्येवाधिकारो न फले' अतोऽहर्निशं श्राम्यद्भिः फलभूतस्य वेतनस्याकाङ्क्षैव महत् पातकम्। अस्माभिरास्तिकैर्नैवंविधं किमपि कर्त्तव्यं येन भगवद्वाक्यैर्विरोधः समापतेद् इति। हन्त ? कीदृशः स्वार्थान्धः संसारः ?

शासनेन [3]आशनस्य प्रबन्धो विहितः। अन्नरोद्धा सापराधो घोषितः। कोऽपि पक्षव्यवहार्यादधिकमन्नं गृहे विपणौ वा रक्षितुं नाधिकृतः। जनद्वेषिणो व्यापारिणोऽपारमन्नं निरुन्धानाः सन्ति व्यसनोपजीविनः क्रव्यादाः। ते परिवारसदसः सर्वेषां सदस्यानां नाम्ना पार्थक्येन परिवारान् प्रकल्प्यान्नं न्यरुधन् कूटनिपुणाः। [4]पृष्ठविपणिः सर्वविधान्नेन परिपूर्णाऽस्ति, अग्रविपणौ चोद्वृत्ततूलासनः[5] मक्षिका मारयन्नेकलः पणो। ग्राहकान् स कथयति, "भवतां दुखं पश्यन्नहं नितरां दुःखी, परं विवशोऽस्मि, विक्रेतुं मम समीपे किमपि नास्ति, शिशुभ्यो द्विमणमितमन्नं मुद्राशतेनानीतवानस्मि तदर्द्धमगृहीतलाभो दातुं शक्नोमि।"

आचारे व्यवहारे च सर्वत्र विशेषतो नगरेषु च्छलं दोषः समीक्ष्यते। पीडितमानवानां कृते पौरैः समितयो योजिताः। शतशो युवान आर्त्तत्राणाय सज्जा अभूवन्। ते रथ्यासु दुर्भिक्षपीडितानां सेवायै रक्षायै अन्नं वासांसि धनञ्चायाचन्। जनता मुक्तहस्तेन ददौ।

---

१ क्यू। २ कायें रमन्ते ते, औणादिको डः। ३ आ = ईषद् अशनम् = आशनम्। स्वल्पं परिमितञ्चाशनम् = राशन। ४ चोरबाजार। ५ गद्दी उलटाकर।

[1]भारवाहिभिर्मरुत्तरः संग्रहः कार्यालये प्रेषयितुमारब्धः। गरीयांसं राशिमेकत्रितं दृष्ट्वा लोलुपानां जिह्वा च्योतितुमारब्धा। तैः सर्वं धनमपजिहीर्षुभिर्विपुलं धनं दानपत्रे लिखित्वा अलब्धमृतिकं[2] चतुरं भागिनेयमस्मै कार्याय योग्यतमं विचार्य परामृष्टं यदस्माकं विश्वस्तो मानवः कार्यमदः प्रेक्षिष्यते। कण्डूाकुलितो विचर्चिकाविक्षतो दद्रुदरिद्रितो मसूरिकाक्रिणो मत्कुणमर्दितो मशकाशितो विषमकालज्वरपीडितः कृष्णकलेवरोऽवरोऽलब्धमृतिर्मृतिमिव प्रतीक्षमाणोऽप्राणः काणो विश्वस्तो मानवो मुद्राणां पञ्चशतीं मासिकं वेतनं यातायातव्ययं भोजनव्यवस्थाञ्च प्रकल्प्य पीडितमानवानां सेवायै नियुक्तः। विश्वस्तमानवाज्ञया नवीनान्युत्तमानि वासांसि पुरातनेभ्यो जीर्णेभ्यः पृथक्कृत्य "क उपयोग एतेषां वराकेषु" इति कृत्वा विक्रीतानि, तेषां वितरणञ्च ग्रामनामान्युल्लिख्य प्रदर्शितम्। वास्तविक-व्ययाच्चतुर्गुणो व्ययः पुस्तकेष्वङ्कितः। एवं संगृहीतधनाच्छतांशं परिचितभृत्यबान्धव-मित्रेभ्यो वितीर्य तेभ्यो गृहाणि स्वयं यशो धनञ्च निर्माय निर्मायो विश्वस्तो मानवः ? आर्त्तत्राणपरिषदो विवरणं प्रकाश्य अभिनन्दनपत्राणां प्रवर्षणमनुभवति। अधुना स नगराद् बहिर्नद्यास्तटे सामन्तोपवनं क्रीत्वा दुर्भिक्षपीडितानां साहाय्याय ? विशालं भवनं कारयति।

को जानीते किमर्थमेषां पापात्मनां सृष्टिर्भूतानुमोदिता वा समाजेन। परं नाधुनैषा-मावश्यकतां प्रेक्षे। यां नीतिं प्रणालीं वाऽऽश्रित्यैष कलङ्कः शिरोऽर्त्तिमुत्पादयति स त्वपनेय एव। एषा विषमता पुरुषव्याघ्र! अवश्यमेवापनेया। एष कलङ्को भारतस्य प्रशस्तो-न्नतललाटादपहर्त्तव्य एव। प्रजाया आदर्शोऽर्थविभीषिकायां तिरोहितः। पण्यवीथि-कायामसत्यमेवोच्यते। रूप्यकं मूल्यं कथयित्वा चतुराणक्या विक्रीणात्यापणिकः। सरला एवं वञ्च्यन्ते। सदाचारो रसातलमिवोपगतः प्रतीयते। अध्ययनप्रवणाश्छात्रा अपि भ्रष्टाचाराः। संन्यासिनोऽपि संग्रहिणः। अर्थः सर्वातिशायी। लोको विविधव्याजेन तमेव सङ्गृहीतुमुद्युक्तः। न्यायो मुद्राभिर्विक्रीयते। उत्कोचो भ्रष्टाचारो लोकाचारतां गतः प्रतीयते। देवमन्दिराणि लोकहिताय निर्मिताः संस्थाश्च धूर्तावासा व्यापारभूमयश्च। व्यभिचारः पत्रक्रीडेव[3] क्रीडा, चौर्यं धौर्त्यं वञ्चनञ्च कला।

—सरोजिनी।

* * *

अनुसन्धानमण्डलं विशेषज्ञैश्वरैश्च सन्नद्धं सम्बन्धितस्थानेषु गत्वा सर्वां स्थितिं

१ टक। २ नौकरी। ३ तास का खेल।

व्यवारीत्—राज्यस्य दशकोटिमुद्राणां वर्षचतुष्टयस्य च व्ययेन निर्मित [१]आनन्दबन्धो भग्नः। तद्बन्धविघातेनैव सर्वो जनपदो जलप्लावे निमग्नः। बन्धनिर्माणे नियुक्तो [२]मृत्स्नास्थाने सिकतामुपयोज्य मृत्स्नाञ्च विक्रीय पुत्राय [३]पत्रनिर्माणशालां श्यालाय [४]वस्त्रनिर्माणशालाञ्चाकारयत्। स एव जनपदस्य योगक्षेमाय रचित आनन्दबन्धो जलबलेन भग्नो जनपदं जलेनाप्लावयत्। वाष्पशकट्याः सेतौ च राज्यतो दत्तानां लौहवलभीनां स्थाने जीर्णा लौहवलभ्यो रागेण रक्ताः प्रयुक्ताः नवीनाश्चान्यत्र विक्रीताः। जीर्णाश्च निरन्तरप्रवर्षणेन[५] काटयुजो भग्नाः, इति।

"आश्चर्यम्!!" चन्द्रश्चिन्तयामास "जनः स्वस्य लाभलोभेन विश्वं विहन्तुमुद्युक्तः। लौहवलभीविक्रयेण सहस्रं द्विसहस्रं तस्य लाभो भूतो भवेत्, विनाशश्च कोटिमुद्राणां सहस्राणां मानवानाम्। अयमर्थविकारः, संग्रहविकारः, स्वार्थविकारो जीर्णां लौहवलभीमुपयुनक्ति मृत्स्नास्थाने सिकताञ्च। हन्त!! विलक्षणोऽयं विकारः। विलक्षणयैव चास्य चिकित्सया भवितव्यम्।" चन्द्रो[६]ऽधिकोषमाज्ञापयामास यदमूषां धनमनुसन्धातव्यम्, अनुसन्धानं यावत् बन्धसेतुनियुक्ताः ससम्बन्धिनो [७]राज्याभिरक्षायां गृहीताः स्युः"इति।

* * *

आग्नेयकिरणैरुरु तापितनिरपराधसंसारं परितापपापेनेव पाथोधौ पतितं दिनद्युमणिं वीक्ष्य नैशो द्युमणिः समस्तदिनाकुलप्राणिनः सान्त्वयन्निव, नक्षत्रमुक्तानां विशदविमलविशालमुज्ज्वलं हारं परिधाय कुमुदव्याजेन विहसन् चर्विततताम्बूलमिवाताम्रं गण्डूषेनेव रश्मिजालेन विशोध्य मुखं प्रकटितोज्ज्वलदन्तपङ्क्तिर्गगनाङ्गने साङ्गनो धावति।

उन्मुक्तवसना निरशना तपोधवला सुबला तपस्विनीवोद्देश्यैकलक्ष्याऽलक्ष्यसेवाव्रता निःस्पन्दनीरवतटा प्रगाढां शान्तिं दधाना प्रवहणस्य प्रशान्तमादककलकलेन वासन्तिकमधुमत्तमोदिमधुकरेणेव मन्द्रं निनादिता नदी मन्दं मन्दं प्रवहति।

अशान्तानपि प्रसह्य शमयत् शान्तं वातावरणम्, सुभगसरितः सौरस्यम्, ज्योत्स्नाधौतानां सम्फुल्लानां द्रुमदलसुमनसां सौरभम्, मधुरमरीचिमालिनश्चन्द्रमसो जगज्जयिनी चन्द्रिका, तारकाणां स्पन्दननृत्यम्, प्रकृतिं सौन्दर्य्यानन्दसरसीं निर्मातुं सयत्ना आसन्।

१बान्ध Dam। २ सीमेन्ट। ३ पेपरमिल। ४ क्लोथ मिल। ५ जंग खाई हुई। कटे वर्षावरणयोः। ६ बैंक। ७ कस्टडी Custody By Government.

प्रस्रवणपूर्णायामुपत्यकायां विजनमनोरमे सरित्तटे विविधवल्लीवलयितं कोरकमुकुल-सुरभितं चलदल[1]दधिफल[2]मन्दारकोविदारो[3]दुम्बरनिम्बजम्बीरपरिवृतं माधवीमल्लिकाशेफालिकामाध्यकरवीरकरीरचाम्पेयचम्पकबन्धूककनकरुचककुरवकमरुवकवकुलकुलाकुलं निकुञ्ज-कुटीरम्। तमेव लक्षीकृत्य शनैश्शनैः सरितः प्रशान्तवक्षःस्थलं विभाजयन्ती क्षिपणिप्रेरिता तरिः कुटीरान्तिकमुपेयाय। तरिं शङ्कुनाऽऽबध्य भूमिमवतीर्णो युवा अभिकुटि व्रजन् अखण्डशान्तिस्वरूपनिमग्नमध्यात्मचिन्तननिरतं विरतवासनमात्मकल्पनालीनं जगत्कल्पनातीतं कैलाशविलासकेशं तेजस्विनं मनोज्ञहास्यं निरालस्यमुपास्ये निरतमान-समवलोक्यैकत उपाविशत्। आनन्दाश्रुप्लुताननो वर्षीयान् गदन्नासीत्—

अपरिमेयानि पापानि मम विश्वसर्वस्व! अन्तविरहिता दोषाः। संसारे भ्रमतो भ्रमभवने पर्य्यटतो जगज्जालजलधौ प्रवहत उन्मत्तीभूय कर्त्तव्यं विस्मृत्य जगतो मृगतृष्णा-मनुधावमानस्य स्वेन स्वं निघ्नतो मे आयुर्व्यतीतम्। अद्यावधि विकारपोषणातिरिक्तं नान्यत्कृतवानस्मि। अभ्यस्तविषयास्वादो गुरुवरप्रेरितोऽपि विजने विजनो वसन्नपि कथमहमधुनाऽऽत्मानं विचारयितुं पारयामि।

"अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनाद् राम! विषमश्चित्तनिग्रहः॥"

इति वसिष्ठोक्तं सुष्ठु। क्षणभङ्गुरं विनशनशीलं जीवनं विदतापि नास्मिन् जन्मनि न चान्यस्मिन् मया विचारायाभ्यस्तम्। तथापि नाहं निराश इत्येव तव कृपा। त्वं मामुद्धरिष्यसि आत्मसात् करिष्यसीति मे सुदृढो विश्वासः। ममाघानामानन्त्यम्, परं तव दयाप्यनन्ता। सा मां क्षणेनैवोद्धर्त्तुं शक्ता। तव चारुचरणौ समाश्लिष्टस्य सप्रेम भवतो बाह्वालिङ्गनमतिदूरं भवेत्, परं वर्त्तते ध्रुवं सत्यम्। निश्चितं त्वमेकदा मां वक्षसाऽऽलिङ्गिष्यसि। अधीरता प्रतीक्षास्मिन्नानन्ददा। कल्पयन्नेवाहं परमां चरमां रसानुभूतिं श्रयामि यदा तदा प्राप्तौ किमनुभवितव्यमिति त्वनिर्वचनीयमेव। कदाहं श्याममोज्ज्वलां कौशेयकुसुमकिसलयकोमलां पारिजातपरिमलललितां शेषशय्यामधिशयानस्य सुषमामृताब्धेर्भवतो दर्शनानन्दमनुभविष्यामि।

---

१ पीपल। २ कैथ। ३ कचनार।

दीर्घाण्यघान्यधिशुचीव भवन्त्यहानि
हानिर्बलस्य शरदीव नदीजलस्य ।
दुःखान्यसत्परिभवा इव दुःसहानि
हा ! निःसहोऽस्मि कुरु निश्शरणेऽनुकम्पाम् ॥ (जगद्धरभट्टस्य)

तं विरतवाच शनैरुपसृत्यानम्य युवोचे—

अर्थवादस्य दुर्दम्यपिशाचेन कारावासं वसितुं बाधितां दुराचारकर्कशलौहशृङ्खला-निबद्धां भारतीयां भुवं प्रजाश्च प्राचीनार्यभारतीयसंस्कृत्या भूषयितुमुन्मुक्तवातावरणे निःश्वसितुं नरेन्द्रमण्डलं समाह्वयति युवराजश्चन्द्रः । तस्मिन्नवसरे तातस्य वाग्भागीरथ्यां स्नातुं सर्वः परमोत्सुकः । इति ।

"शक्ते ! चिरायुषश्चन्द्रस्य साधनायां व्यवस्थायां मम महान् विश्वासः । मूकसाधकस्त्वं राममनुलक्ष्मण इवाशेषं निर्वहसि । मया बहव उत्सवा दृष्टा उपदिष्टाः कृताः सञ्चालिताश्च । अधुनाहमुपरतः कालातययितो न क्वापि जिगमिषामि गुरुणाऽऽज्ञप्तः । चन्द्रः प्रजाभिः सहयुयुक्षुभिरन्यै राजभिस्त्वया च परामृश्य यच्चिकीर्षति, तदेव वरम् । "गुणार्जनोच्छ्रय-विरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्राणि सतामसाधवः" अतः सर्वैः परामर्शो वरीयान्, देवो दिशतु युष्मभ्यं साफल्यम् । अथ च किमुत्सवैः ? अलं प्रजाधनदुरुपयोगेन । विश्वसाम्राज्यलि-प्सवः सहस्रशः सुन्दरीणां प्रियतमाः, लक्षशः कलावतां कोटिशः कर्मकराणामाश्रयाः भगवदनुजन्मान इव मनुजन्मानो दुर्गान् प्रासादानारामान् निर्माप्य संसारसाधनारम्भो-ऽदभ्रारम्भा रमणीयतमानुत्सवानकार्षुः, परं क्वाद्य ते ? एते भग्नावशेषा मूकमाक्रन्दयन्तो जगन्मानमर्दिभिर्वीरैरप्सरःस्पर्द्धिसौन्दर्य्याभिः सुन्दरीभिरध्युषितचरा अपि निर्भर-मुद्घोषयन्ति यद् वयमदयमर्दिता मर्दिता निष्ठुरनियत्याः क्रूरकरैः । विश्वस्मिन् स्वविचारान् स्वरुचिं प्रसारयितुं सयत्ना हन्त ! अद्य क्व ? तेषां नामकालानुसन्धानमपि पुरातत्त्वविभागस्थानां शिरोऽर्त्तिकरम् । एष वायुः, एषा भूमिः, एतदाकाशम्, एतानि वनानि तान् तदनुजिगमिषूँश्च निःशब्दं विहसन्तीव । वनवृक्षेषु निपतति सान्ध्यसूर्या-लोके क्षणं विविधरागाणां प्रतीतिरिवास्मिन् संसारे सुखानां प्रतीतिः । प्रज्ञावतां प्रज्ञाया-स्तदेव सुकर्म येनानाडम्बरमप्रदर्शनं जगतो विराजो भगवतोऽफलाभिलाषमर्चनं भवेदिति" ।

"तदेव देव ! वयं कर्त्तुं कृतसङ्कल्पाः ।"

* * *

पौलोमीपतिपत्तनोपवनपरिमलेनेव परिपूर्णस्य प्रासादस्य विबुधावलिवलयिते सारस्वत-स्रोतोधरैः सुधीवरैरुद्देशरत्नैराकुले रत्नाकर इव प्रेक्ष्यमाणे विशाले हाले[1] सुखमासीनानां [2]सामयिकोमावश्यकतामनुभूय विचाराय समवेतानां विभिन्नमण्डलनरपालानामेका विचार-परिषत् प्रारब्धा । राष्ट्रस्य ज्यायान् विद्वान् ज्ञानस्य प्रतिनिधिर्निधिस्तपसः परिषत्पतिपद-मलञ्चकार । स्वस्तिवाचनानन्तरं समुत्सुकेषु तूष्णीम्भूय प्रतीक्षमाणेषु सर्वेषु चन्द्र आमन्त्रणस्य प्रयोजनं विशदयन्नुदतिष्ठत् । चन्द्रस्य विशालं शालोन्नतं सुघटितं विभक्तं वपुः, परिणतप्रावृषेण्यजलधरधामानः स्निग्धोज्ज्वला आकृतिं रम्यां काम्यां साभां कुर्वन्तः स्कन्धविसर्पिणः प्रलम्बिनः कृष्णाः केशाः, मानस्य मर्यादेव तपस्विनः साधनेव मांसलोन्नता प्रलम्बा ग्रीवा, निर्मेघनीलाम्बरे सहसोदितस्य सूर्यस्य मण्डलमिव तेजस्वि मोहकमाकर्षकमिन्दिरावन्दितं मुखमण्डलं सर्वेषु सम्भ्रमं सञ्चारयामास । स्मयमानः स प्रावोचत्—

जितज्योत्स्नमृणालकमनीयकीर्त्तयो दुर्विभाव्यवैभवा भवभूतयो विश्वाभिरामगुणगण-गुम्फिता भूमण्डलमण्डनैकतिलका मान्याः ! अद्य वयमैतिहासिकेऽधिवेशने वैश्वजनीनकर्मणे सदिच्छया समवेताः स्म इति महत आनन्दस्य विषयः । विपश्चितामपश्चिमा भवन्तो जानन्ति यत् सृष्टेरारम्भकाले नात्मा एकाक्यरमत, अतः स रिरंसया बहुरूपो व्यजायत । एतद् भावद्वयप्रतीकम् , सर्वस्याभेदभावोऽद्वैतत्वम् , परस्य सान्निध्याकाङ्क्षा च । मानवस्यैष आद्यो भाव आदिकालादद्यावधि बह्वल्परूपेण विद्यते, तद्भावादेव मानवे सामाजिकता । अत एव महर्षयो जीवनमिदं "ईशावास्यम्" ईश्वरभावैर्मूर्तमाहुः । अत एव जीवने सच्चिदानन्दभावस्य स्थितिः । एषामेव भावानां संवर्द्धने सर्वश्चेष्टते च । 'सोऽहम्', 'तत्त्वमसि' इत्यादिमहावाक्यैः सोऽभेदभावोऽद्वैतभावश्चोपदिष्टः । परमधुना भ्रान्त्या विकृतः स भावोऽस्माभिः प्रकृतावस्थायां सम्पाद्यः । "स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप !" पुरैषा स्वर्णभूमिरासीत्, न केवलं धनेन नैष्कलङ्क्येनापि । सत्यवादिनि सच्चरित्रे

---

१ हाल्यते = विलिख्यते = भिद्यते जनसमुदयेन युगपत् स हालः = विशालं व्याख्यान-गृहम् । हल विलेखने घञ् । २ समयस्तदस्य प्राप्तम् ५।१।१०४ इति ठञ् ।

आर्यता व्याप्तिरासीत्। अस्माकं वचस्ताम्रपत्रलेखायते स्म, पणश्च सूर्योदयवदप्रतिरुद्ध आसीत्। राष्ट्रान्तराणि यदा तमसावृतान्यनावृतानि बिलेष शयानानि चासन्, अस्माकं राष्ट्रं जगद्गुरुर्धनबलकलाविवेकविज्ञानेष्वपास्ततुलमासीत्। अत्रैव विश्वस्य प्राचीनतमो ग्रन्थ ऋग्वेदः, अस्मादेव विश्वस्मिन् शान्तिलताप्रसारकं दर्शनात्मकं ज्ञानज्योतिरुदगात्। अस्मादेव आग्नेयपाशुपतवारुणवायव्यब्रह्मास्त्रप्रभृतीनां विश्वभयङ्कराणामस्त्राणामुद्गमः प्रशमश्च। ज्ञानज्योतिरीप्सया लोकान्तरीया अत्रैवाजिगमिषन्ति स्म। अत्रैव लोककल्याणैकमनसो मनस्विनस्तपस्विनो विविधा रीतिनीतीः प्रसारयामासुः। सर्वत्र प्रेम, वात्सल्यम्, सौहार्दम्, सहयोगिता, अभेदभावः, सहभावः, सद्भावश्चासीत्। परमद्य ? भूमिः सूर्यश्चन्द्रो वायुराकाशं तु त एव सन्ति परं मानवभावनाः परिवर्त्तिताः। अत एवैषा धरित्री ध्वस्तेव दृश्यते। हा! विलक्षणो दैवदुर्विपाकः। केन भावेनास्माकं पूर्वजा न्यवसन्, वयञ्च केन निवसामः।

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे! कथं वर्त्तताम्॥ पण्डितराजः।

प्रतिवेशिनि बुभुक्षिते दीने रुग्णे च भोजनं गर्हितमासीत्। कस्मिँश्चिन्नवीने ग्राममायाते सर्वे ग्रामीणास्तस्मै साहाय्यं प्रदाय स्वतुल्यमकुर्वन्। तस्मिन् दुःखितेऽवसन्ने न्यूनेऽवरे च ग्रामीणानामवरत्वं प्रतिष्ठितमासीत। लाभार्थं संग्रहो हेय आसीत्।

यदधोऽधःक्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः।
तदधो निलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः॥

क्रय्यपूर्णासु विपणिषु यथावश्यकं वस्तूपयोगाय विक्रीयते स्म। देशान्तरात क्रेयमानीय विक्रयो जनस्यावश्यकतापूरणञ्च व्यापारिणः कर्त्तव्यम्, तदेव लाभो गण्यते स्म। अर्थार्जनस्योद्देश्यं नासीत्। सर्वे ज्ञानधनार्जने परस्परं यथोचितेन सहयोगेन सौहार्देनैकपरिवारव्यवस्थया निवसन्ति स्म। विदूरस्थमपरिचितं गृहमागतमीश्वरभावेनामन्यत गृही। ईदृशे वातावरणे क्व स्थानमधुना प्रतिपदं प्रतिदिनं स्थापितानां स्थाप्यमानानाञ्च भोजनालयानां

शुल्कावासानाञ्च। परमद्य सा व्यवस्था स्वगुणवैगुण्येन हीनतां गतेवाभाति। उत्कृष्टतमोऽपि स भावोऽस्माभिरभावतां नीतः। सत्यम्,

प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया। कालिदासः।

परमद्याप्यशिक्षितेभ्यः शिक्षालयाः, अन्धबधिरेभ्यः स्त्रीभ्यश्च पृथक् शिक्षाप्रबन्धः, रोगिभ्यः पशुभ्य उन्मत्तेभ्यश्चिकित्सालयाश्च—स्वल्पसङ्ख्यायामेव स्युः—क्रियन्ते। विनैव प्रेरणं दुःखमपनेतुम्, रोदनकारणं ज्ञातुं नरः सज्जते, वैक्लव्यमनुभवन्तं श्वानम्, अतिभार-वाहिनं स्वामिना ताड्यमानं बलीवर्दं महिषं वा वीक्ष्याश्रुद्गमः। गौः श्वा च स्वामिन-माक्रम्यमाणं दृष्ट्वा सङ्घर्षाय सज्जते दुःखायते च। एषा अभेदस्य=अद्वैतस्याद्या भावना, सन्निहितस्य दुःखानवलोकनेच्छा च। सर्वः सर्वं शिक्षितुं स्वस्थमदुःखमसमर्थं समर्थयितुञ्चाभिलषति यद्यक्षीणमानवस्वभावः। एष परस्परोदयस्य पर्यायतः सर्वाभ्युदयस्य तिरोहित आद्यो हार्दो भावः, स एवास्माभिः प्रकाश्यो मलापनयनादादर्श इव। 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'। वस्तुतोऽहिंसा प्रेम च मानवस्वभावः।

हिंसा=स्वेतरस्य दुःखापादनं द्रोहश्च द्वैते भवति, यत्राभेदोऽद्वैतभावस्तत्र न स्वेतराभावात्। दन्तैर्जिह्वायामुपहतायां न कश्चन कुप्यति कपोलमाहते वा। अभेदस्या-रम्भोऽङ्गभावे भवति पर्यवसानञ्च तादात्म्ये।

बाधायामपगतायां स्वभाव उपतिष्ठते, उष्णजलस्याग्नेरवतार इव। वैरूप्यापादने निमित्तस्यावश्यकता न स्वरूपापादने। स्वस्थस्य रोगोत्पादने निमित्तं भवेन्न तु स्वस्थस्य स्वास्थ्ये। सा बाधैवास्माभिर्निरास्या, तस्यामपगतायामेव प्राकृतावस्था।

सर्वः प्रेम्ण्यानन्दमनुभवति न द्वेषे, संवादे सुखमनुभवति न विवादे, मतैक्ये हर्षमनुभवति न वैमत्ये। जीवने जनः परैः सह योक्तुमभिलषति। स्वानन्दे परिचितैः सम्मिल्य स्वानन्दमेधयति, दुःखञ्च ह्रसयति। युद्धम्, विवादः, सङ्घर्षः, वैमनस्यं च न मानवस्वभावः, अपि तु मानवविकारः। एतेष्वितिहासो मानवप्रतिकूलानां विनाशकानां दुर्भावानां प्रदर्शनं लोकोद्बोधनाय। मानव ईश्वरस्य प्रतिकृतिः प्रतिनिधिश्च जीवजगति, अतः स्वभावतः सत्प्रवृत्तः। दुष्प्रवृत्तिर्विकारः पुञ्जवादादिकृतः।

अगुणकणो गुणराशिर्द्वयमिह दैवात् खलानने पतितम् ।
प्रसरति तैलमिवैकः सलिले घृतमिव जडत्वमेत्यन्यः ॥

अवधार्यताम्, अस्माकं विशाले वाङ्मये कपाटावरोधिका केवलं शृङ्खलैवास्ति न तालकम् । तालकमविश्वासभीत्योः पुञ्जवादपुत्रयोरपत्यम् । सकलसौख्यसाधनस्याभेद-भावस्याद्याल्पता भूता, तस्य स्वसिंहासने प्रतिष्ठापनमस्माकमुद्देश्यम् ।

समाजे सर्वे समाना आसन्नर्थदृष्ट्या, परं केचन धूर्त्ताः स्वपक्षपोषणाय स्वार्थसंरक्षणाय शासकैरुत्साहिता आढ्यङ्करणभावमाश्रित्य प्रतियोगिताव्याघ्रीं निर्माय स्वस्थितिं द्रढयित्वाऽग्रे गच्छन्तोऽनुगामिन आहन्तुमारेभिरे कृतघ्नाः ।

अज्ञातदेशकालाश्चपलमुखाः पङ्गवोऽपि सप्लुतयः ।
नवविहगा इव मुग्धा भक्ष्यन्ते धूर्त्तमार्जारैः ॥ क्षेमेन्द्रः ।

अनुगामिनश्च सकृदाहताः पतिताः परिस्थितिपीडिता जानन्तोऽपि तेषां दानवीभूतानां धौर्त्यं धार्ष्ट्यं च नोत्थातुमवशाः प्राभवन् ।

उपेक्षते यः खलमाक्षिपन्तं साधुर्मनोऽबुध्यत कारणं तत् ।
द्विजिह्वमेनं स यदेकजिह्वः प्रयुक्तिभिर्न क्रमते नियन्तुम् ॥ सोमेश्वरः ।

अपि तु परिस्थितिपतितास्तानेवाग्रगामिनो धूर्त्तान् पोषयामासुः । एते मत्कुणा मशका यूका इव मानवरक्तमाचूषयन्तः परजीविनो मानवशरीरं दुःखयन्तोऽपि मानवशरीरे स्थिताः ।

एते हि कालपुरुषाः पृथुदण्डनिपातहतलोकाः ।
गणनागणनपिशाचाश्चरन्ति भूर्जध्वजा लोके ॥
कस्तेषां विश्वासं यममहिषविषाणकोटिकुटिलानाम् ।
व्रजति, न यस्य विषक्तः कण्ठे पाशः कृतान्तस्य ॥ क्षेमेन्द्रः ।

एतेषां शीर्षघातिनां प्रसह्यापसारणं जीवनाय किं न परमावश्यकम् ? सहयोगो नियमनञ्च समाजस्य जीवनभूतौ, तावद्य हन्त ! मृतौ । वस्तुतो धनं लोकस्य न्यासः । परम्परया परिस्थित्या वा प्राप्तं धनं लोकस्य न्यासः । यथासम्भवं शीघ्रं यथारीति तस्य तदधिकारिषु प्रत्यावर्त्तनं प्रतिदानं न्यासधरस्य योग्यतायाः सूचकम् । अतोऽद्य या सम्पत्तिः

स्थावरजङ्गमात्मिकाऽऽनुवंशिकक्रमेणाधिकारेणार्जनेन वाधिगता, भावानासुद्गमनाद्यो-गमनेन वोपेता सा समाजस्य, न्यासधरेण शीघ्रं प्रत्यर्पणीया। तां प्रत्यर्प्य स शान्तिमनुभवेत् न्यासधरो न्यासं प्रत्यर्प्य यथा, न परितापम्। अन्यथा स्तेन एव सः।

मानवः किमर्थं सङ्गृह्णाति ? किं शतशाटीको युगपच्छाटीनां शतं परिधत्ते ? शताश्वः शतमरुत्तरो वा किं युगपत् सर्वेष्वारोहति ? व्यञ्जनानां भोज्यानाञ्च शते किं स शतगुणमत्स्यति ? भवनानां सहस्रेऽपि स एकस्मिन्नेव स्वप्स्यति। परमयं भ्रान्तो भ्राता दयापात्रम्।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥ भागवतम् १२।२३।२३

पुञ्जवादः सर्वेषु भयमविश्वासञ्चोत्पादयति, बिभ्यच्च मानवगुणैस्त्यज्यते, मानवीय-मूल्यानां स्थापनाय भयनिवारणे कारणं राज्यम्। सम्पत्तेर्विभजनम्, अपरिग्रहस्यास्था परं प्रेम विश्वासञ्चोत्पादयति, "सकलगुणसीमा वितरणम्।" अस्माकं व्रतमासीत्, शतहस्तसमाहर, सहस्रहस्तसङ्किर। अथर्ववेद ३।२४।५। परं विभजनेऽनीहः परिग्रही सतताशङ्की सर्वान्निर्धनानक्षमान् मूर्खान् दुर्बलानेव वाञ्छति प्रक्षीणभगवद्भावो मन्दभाग्यस्तस्करश्चन्द्राभावमिव। एतादृशे भावे कथं सम्पन्नता ? वस्तुतो यो मनुष्ये मनुष्यवद् व्यवहरति स एव मनुष्यः।

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः।
भोगान् भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा[1]। भारविः।

केचन कथयन्ति यद् धनिनां धनविभाजने भोगविलासेष्वाक्रमणे च दरिद्राणां कोऽधिकारः ? सत्यम्, दरिद्राणां सम्पदपहरणे धनिनां कोऽधिकारः ? सम्पद एताः कस्य ? इत्येव विचार्यो विषयः। व्यक्तौ धनार्जनाभिलाष उन्नतेः स्थायि तत्त्वमस्तीति सत्यम्, परमिदमपि सत्यं यदाधुनिक्यर्जनेच्छा इतरान्निर्धनयितुमेका योजना विद्यते। धनी यावत्सङ्ख्यं दरिद्रान् कर्त्तुं समर्थस्तावत्प्रमाणं सफलः।

१ विश्वासजन्मनो धृतेः = सन्तोषस्योग्रानरीन् भोगान् = धनानि, आहेयान् भोगान् = फणानीवाध्यास्यापन्न दुर्लभा, अपि तु नितरां सुलभा।

खलश्च खड्गश्च नहि स्वभावं जहाति कोशार्पणलालितोऽपि ।
यस्यातिमात्रं मलिनात्मकस्य परं द्विधा कुर्वत एव रागः ।। सोमेश्वरः।

अस्यामेक एव सर्वग्राही बुभूषत्यातापिरिव, परस्परं धनमपजिहीर्षति च। अस्याम-वस्थायामाशङ्कापूर्णे वातावरणे क्व आनन्दः ? क्व सुखम् ? मन्यतां भवान् भृत्यमभिलषति, तस्मै किमपि भोजनवस्त्रादिकं प्रदाय तस्य श्रमेण स्वकार्यं चिकीर्षति, तदाऽवश्यमेव भवत्प्रतिवेशिना निर्धनेन भवितव्यम्। भवदैश्वर्यं भवतः प्रतिवेशिनो दारिद्र्येऽवलम्बितम्। परम्, राष्ट्रे कश्चन भोजनवस्त्रादेरिच्छुको न भवेत्, सर्वेषां जीवनव्यापारः स्वेन चलेत्तदा भृत्यप्राप्तिरशक्या। वपनम्, पशुचारणम्, भोजनम्, जलानयनम्, लेखन-व्यवहारादिकं तैनैव कार्यम्। राष्ट्रं तद् यदि सम्पन्नं भवेत्, सर्वेऽयाचका अनभिलाषुकाश्च स्युस्तदा स्वर्णपतेः स्वर्णस्योपयोगिता पीतपाषाणखण्डतो नाधिका। तेन सञ्चितमन्नवस्त्रादि घुणादिजर्ज्जरितमेव भविष्यति, यतो न कश्चना-काङ्क्षकः। स स्वयञ्च नान्नम्, न वासांसि, न गृहाणि वा शतसहस्रगुणमुपयोक्तुमुपभोक्तुं वा समर्थः। अतस्तत् सर्वं विनङ्क्ष्यति। बुध्यतां तस्य सङ्ग्रहस्य कोऽर्थः। स्वल्पा-यानन्दायापि तेन श्रमिवत् कठिनं श्रमितव्यमेव। विशालं क्षेत्रं स स्वयमेकाकी न वप्तुं न लवितुम्, न चोपयोक्तुं समर्थः, न च विशालस्य हर्म्यस्य जीर्णोद्धारे उपलेपे किमु वासेऽपि समर्थः। स जीर्णशीर्णानि गृहाणि स्वकीयानि कथयन्नेव ह्रेष्यति। भविष्यति चान्यगृहनिर्माणेऽनुत्सुकः। अतः स लघीयसि गृहे उद्याने वा वसन् स्वहस्त-कृतसर्वकार्य एवातिसन्तुष्टो भविष्यति।

धनार्जने चतुरो धनमर्जयेत्, परं तस्योपयोगः सार्वदेशिको भवेत् यथा वायुराकाशं जलं विश्वजनीयानीश्वरप्रदत्तानि च तथैव धनम्। धनं लोकस्य न्यासः। विचार्यताम्, यदि माता शक्तिशालिनी चतुरा च, तदा किं सा दुर्बलस्य शिशोर्भोज्यं खादेत् ? यदि खादेत्तदा कस्तां मातरं कथयितुमीहेत। सर्वे तां डाकिनीं वदिष्यन्ति। परमत्र विज्ञः सर्वसाधनसम्पन्नः पितृस्थानीयो धनी गृहम्, मातापितरौ, दारापत्यञ्च विहायागतानां पुत्रायमाणानां भृत्यानां भृत्यकृपोपार्जितसम्पत्प्रतिष्ठो निर्दयं सर्वस्वं हर्त्तुं सक्षणः।

अमृतं किरति हिमांशुः विषमेव फणी समुद्गिरति ।
गुणमेव वक्ति साधुर्दोषमसाधुः प्रकाशयति ॥

विचार्यतां श्रीमतां सम्मतौ स कथं सम्बोध्यः ?

आधुनिकं ज्ञानं विज्ञानं केवलं परिग्रहिणां धनार्जनस्य साधनमात्रम्, परेषामाकर्षणे शोषणे सहायकञ्च । अद्य विज्ञानाविष्कृतानि यन्त्राणि मानवमूल्यहराणि । प्रतीयते पुञ्जवादोऽद्य यन्त्रारूढो मानवजयी । यन्त्रं समाजेऽङ्गानां शक्तिवर्द्धनाय परिश्रमपरिहाराय कौशलेन समानवस्तूत्पादनाय अवकाशसंरक्षणाय च प्रतिष्ठितम् । चक्षुषोः शक्तिवर्द्धनायोपनेत्रं दूरवीक्षणं सूक्ष्मेक्षणञ्च, वाचः शक्त्यै ध्वनिविस्तारकम्, पादयोः शक्तिवर्द्धनाय द्विचक्रिका, मरुत्तरम्, बाष्पयानम्, वायुयानञ्च । हस्तयोः शक्तिवर्द्धनायासङ्ख्येयानि यन्त्राणि, लिपिश्रमपरिहाराय मुद्रणालयः । सोऽयं मानवविकासाय मानवाङ्गानां शक्त्युत्कर्षाय गुणोदयाय चोपयोगः सम्मतः । परं योऽवकाशः सर्वविधशक्तीनामुदयाय यन्त्रेण दत्तस्तस्मिन्नेकाधिकारः पुञ्जवादेन कृतः प्रतिद्वन्द्विताम्मुत्पाद्य । एवमल्पा अवकाशभोजिनोऽनल्पाश्चानवकाशयोजिनः संवृत्ताः ।

सन्तापमोहकम्पान् सम्पादयितुं निहन्तुमपि जन्तून् ।
सखि ! दुर्जनस्य हि मतिः प्रसरति दूरं ज्वरस्येव ॥ गोवर्द्धनाचार्यः ।

अद्यतनं यन्त्रवैपुल्यं मानवीयकलानां समाप्तिम्, प्रचुरमेकदा सुलभं सौकर्येण चोत्पाद्य धनं केन्द्रितं करोति, कलाभिवृद्धिं बाधते, उत्पादने मानवस्पर्शं रुणद्धि च । मनुष्यस्य विकासस्त्वनेन पुञ्जवादप्रेरितेन पराहत एव सम्प्रति तद् विकासाधारं मनुष्यमेव जिघत्सति । जिघत्सां निराकृत्य तस्योपयोगिता केवलमस्माभिर्व्यवस्थाप्या ।

न परं फलति हि किञ्चित् खल एवानर्थमावहति यावत् ।
मारयति सपदि विषतरुराश्रयमाणं श्रमापनुदे ॥

यन्त्रोदयात् पूर्वमस्माभिर्बहवः पशवः समाजे सम्मेलिता उपयोगितां नीताश्च, परमधुना पालितचरं गवाश्वमपि हतति । अनुपयुज्यमानस्य रक्षाऽसम्भवाऽजस्येव । सर्वाभ्युदये सर्वेषामुदयः, पशूनामप्युदयः=संस्कारोऽभिप्रेतः, किन्तु द्वितीयभागे । परं सर्वाभ्युदयीयार्थिकसंयोजनेऽस्माकं चिरपरिचितानां पालितानां पशूनां संयोजनं तु नितरामावश्यकम् ।

स्मर्यताम्, राष्ट्रे सर्वे समानाः शरीरेऽङ्गानीव। समये उप्त्वा पर्यवेक्षमाणो लविता कृषकः, सन्धियोगनिपुणो नौनिर्माता, लोहकारः कुम्भकारश्चर्मकारो व्यवस्थापकश्चिकित्सकोऽध्यापकः, गृहकारुः, गृहकार्यदक्षा गृहिणी, स्वरान् संयोज्य गायन्ती गायिका, सैनिकः, शोधको देशस्य सम्पादका मङ्गलकर्त्तारश्च। नैते कस्माच्चिदपि प्रजाव्यवस्थापकाद् राज्ञः, सदसद्विवेचयतो न्यायाधीशाद् वा न्यूनाः।

मम सम्मतौ राज्ञां धनिनाञ्चायं विकासक्रमः।

पुरा ग्राम्या ग्राम्यं बलवन्तमूचुः—"वयं तव जीविकां साधयिष्यामस्त्वं ग्रामं रक्ष"। स स्वीकृत्य दण्डधरो नैपुण्येन ग्रामं ररक्ष। तस्य कार्यप्रणालीप्रसन्नाः पार्श्ववर्त्तिनोऽपि तं ग्रामाणां रक्षार्थमनोदयन्। स स्वीकृत्य स्वाप्तपुरुषान्नियोज्य रक्षितुमारेभे। एवं शनैश्शनैः स बहूनां नगराणां रक्षको बभूव। "प्रजाहितव्रतिनो वयम्" इत्येव तस्यादर्श आसीत्। ग्रामरक्षकाणामावासाय परेषां प्रहाररोधाय प्रजानां सुरक्षायै तेनाधुना विशालं दुर्गं निरमायि। व्याघातकानां कृते तेनायुधनिर्मितिरारब्धा। रक्षकाणां शिक्षणाय स्वपुत्राणामध्यापनाय च वनादाहूय विद्वांसो नियोजिताः।

अध्यापयन्ति शास्त्राणि तृणीकुर्वन्ति पण्डितान्।
विस्मारयन्ति जातिं स्वां वराटाः पञ्चषाः करे॥

यातायातसुखाय ग्रामान्तरेषु लोकपथा निर्मिताः। वाहनानि सङ्गृहीतानि, अर्जितधनेन सेना च सङ्गृहीता। अधुना सोऽधिगतबलः पटुर्जनताया दौर्बल्यमनुभवन् काश्चित् स्वपक्षे कृत्वा स्वैरं करं ग्रहीतुमारब्धवान्। रक्षकोऽपि सोऽधुना भक्षको भवितुमारेभे। लोलुपः स इतररक्षकाणां रक्षाव्यवस्थां विशृङ्खलामकल्पाञ्चोद्घोष्य इतरप्रदेशान् स्वायत्तीकुर्वन् प्रजाहितव्रतितां प्रासारयत्। स एव लगुडधरो राजपदेन स्वीकृतः, सर्वेषु विशेषतो राजनात्। सम्भाव्यते स एवाधुनिकलगुडिनां पूर्वजः।

लोकेन च मौर्ख्यात् सर्वा सत्ता ग्रामपालायिताय राज्ञेऽर्पिता। त्वमस्माकं कल्याणमाचर, यदि वयं नेच्छामस्तर्हि दण्डयन्नस्माकं कल्याणमावह, एवाऽनियन्त्रिता सत्ता राजोपाधिधारिणे ग्रामपालाय प्रदत्ता। राजा स्वयं साधारणो मानवः, न तस्मिन् कापि विशिष्टा सत्ता शक्तिश्च, या सत्ता शक्तिर्वा सा प्रजानामेव। एवं स लोकस्य सत्तया शक्त्या

च स्वार्थसंरक्षणाय लोकान् यथेच्छं दण्डयितुमारभत। प्रथमतो राजा निर्वाच्य आसीत्, यतो हि रक्षकस्य निर्वचनं रक्षणयोग्यतानुसारि। परं शनैश्शनैः सम्प्राप्तसाधनोऽनुरक्तविषयिविद्वज्जनः सोऽस्मत्पूर्वजो राज्यं कुलक्रमागतञ्चकार। वस्तुतोऽस्य स्थितिर्द्वारपालतो नाधिका। ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो निरूपितः। भागवते।

यथा चादिराजः पृथुः—

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः।

रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक्[1] ॥ भागवते ४।२१।२२

राज्ञां सृष्टिर्विपत्परिहाराय जाता।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ मनुः ३।६

प्रभवतीति प्रभुः = प्रकृष्टसत्ता (सार्वभौमसत्ता) सम्पन्नाः प्रजाः। 'विप्रसम्भ्यो डु-संज्ञायाम्' ३।२।१८०

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः। मनुः ७।१०२

दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्। गौतमस्मृतिः ११।

सर्वत्र शासनान्न्यायव्यवस्थायाः पार्थक्येऽप्येतदेव कारणम्, यच्छासनं द्वारपालायिताधीनम्, न्यायश्च विद्वदधीनः। त्यक्तास्वादा वने वसन्तो विषयैषिणो विद्वांसोऽप्यधुनाऽलङ्कारभङ्कृतौ गगनस्पर्शिसौधे च मोहिता दुःखाकरं वनवासमुत्सृज्य, अमात्यपुरोहितादिपदलोलुपास्तस्याभिषेकनाटकं चक्रिरे अनुमुमुदिरे च कुलक्रमागतकर्मणि दास्यम्, ऊचुश्च 'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः' इति। सत्यम्,

अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः।

याज्ञवल्क्यस्मृतौ (अ. १।३०९,१०) राज्ञां लक्षणं प्रत्यपादि—

महोत्साहः स्थूललक्ष्यः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।

विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक् शुचिः ॥

---

१ अहं पृथुः प्रजानां वृत्तिदः = वृत्तिं ददाति राष्ट्रव्यवस्थापनेन सः, तथाभूते राष्ट्रे सद्वृत्तयो भवितुं शक्नुवन्ति। स्वेषु सेतुषु = मर्यादासु स्थापयिता दण्डधरो रक्षिता च प्रजाभिर्योजितः।

अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ।

तस्य कर्म च—

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ मनुः ७।३२

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ मनुः ७।३३

परमद्यास्मासु कति तथाभूताः सन्तीत्यात्मा निरीक्ष्यः ।

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदांस्तथा ।
स्वधर्मचलितान् राजा विनीय स्थापयेत् पथि ॥ याज्ञवल्क्यः १।३६१

शनैश्शनैर्दुःशीलशासकसन्त्रस्तासु प्रजासु ज्ञानप्रसाराभावादातङ्केनैव राजानो भुवं शासयामासुः—

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ॥ मनुः ७।२२

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयते प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ मनुः ७।१८-१९

इत्यादिगुणैर्लक्षणैः कर्तव्यैः परिहर्त्तव्यैर्व्यसनैश्च स सेवको भृत्य एव च प्रतीयते, नैते सेव्यमनुसरन्ति । राज्ञामेतानि व्यसनानि सर्वथा परिहार्याण्यासन्—

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ मनुः ७।४५

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ७।४६

पशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ७।४७

परमद्य त्वेष्वेव दोषेषु सर्व आकण्ठं मग्नः। अस्तु, कुलक्रमागते स्वार्थरहिते पुञ्जवादाप्रभाविते कर्मण्यनुभवस्तु गरीयान्, परं पुञ्जवादप्रभाविते तु दौर्गुण्यमेव। अतः शासकेनाजस्रं परिवर्तनवता भवितव्यमेव। अन्यथाऽऽधुनिको राजेवाधिगत-शस्त्रास्त्रः सङ्गृहीतसेनो वाहनबलः कृतदुर्ग आतङ्कितजगत् सेवकोऽपि स सेव्यो भविष्यति, नरपालश्चापि नरपतिः। परिस्थितिपोषितः साधारणोऽप्यसाधारणः। परि-वर्त्तने दुर्बलमना उपभुक्तभोगः परिवर्त्तनेऽनीहः शासनाश्लिष्ट एव भविष्यति।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ[1] न विधीयते॥ गीता।

एवमेवोद्योगपतिरपि परिस्थितिपोषितः।

यथा च—अमुकग्रामादन्नमाहर वयं तुभ्यं भोजनं दास्यामः, इति ग्रामीणैर्नोदितः पटुसेवकः सार्थवाहः स बहूनामन्नाहरणेन बहुभोज्यमाप। उपयोगावशिष्टं तदेव विक्रीणानो विनिमयमानः शनैर्जातसङ्ग्रहो वैवधिकचरो यानं स्थानञ्च निर्माय जनस्यावश्यकतानुसारि वस्तुजातं पार्श्ववर्त्तिभ्य एव क्रीत्वा यथेच्छमूल्येन पार्श्ववर्त्तिभ्य एव विक्रीतवान् यथेच्छमूल्येन।

सह वसतामप्यसतां जलरुहजलवद् भवत्यसंश्लेषः।
दूरेऽपि सतां वसतां प्रीतिः कुमुदेन्दुवद् भवति॥

शनैः सङ्गृहीतधनो बलीवर्द्दमुष्ट्रं शकटञ्चायोज्य ग्रामान्तरेऽपि व्याप्रियमाणो मूलधन-मैधयत्। "लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते"। एवं वाणिज्यारः[2] स धनित्वमध्यगमत्। ततोऽल्पव्ययेनाधिलाभभावना तस्योत्पन्ना। स ग्रीष्मातपे बलीवर्द्दं वाहयित्वा पञ्चाशन्मण-मितमारोप्य दशमुद्रा अर्जयित्वापि स्वसम्पद्वर्द्धने प्रधानसहायकाय परिस्थितिविपन्नाय मूकाय बलीवर्द्दाय यथाकथञ्चिज्जीवनधारणयोग्यं कार्यक्षमं भोज्यं प्रायच्छच्छेषञ्चापाहरत्। सत्यम्।

लब्धोदयोऽपि हि खलः प्रथमं स्वजनं नु नयति परितापम्।
उद्गच्छन् दवदहनो जन्मभुवं दारु निर्दहति।

---

१ समाधिः = अन्तःकरणम्। २ वाणिज्याय ऋच्छति = गच्छति सः। "ऋ गतिप्रापणयोः।" 'वणिजारा' इति लोके।

एषा पुञ्जवादस्याद्या भावना। अधुना सोऽनायासेनाल्पव्ययेन च नित्यमुपयुज्यमानानां वस्तूनां निर्माणेच्छयाऽऽवश्यकताग्रस्तान्निर्धनांस्तन्तुवायाँस्तक्षकाँल्लोहकारान् कुशलान् कारूंश्चामन्दोदयां दयां कुर्वन्निव नियोज्य वस्तूनि निर्माप्य जीवनधारणयोग्यं प्रयच्छन् प्रचुरं धनमैधयत। वराकास्ते च परिस्थितिपीडिताः किं कुर्युः, यतो हि "सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः।" सत्यमेव केनापि कविनोक्तम्।

इयमुदरदरी दुरन्तपूरा यदि न भवेदभिमानभङ्गभूमिः।
कथमपि न सहे भवादृशानां कुटिलकटाक्षनिरीक्षणं जनानाम्॥
कषति वपति लुनीते दीव्यति सीव्यति पुनाति वयते च।
विदधाति किं न कृत्यं जठरानलशान्तये तनुमान्॥

अथ च गोः स्तनन्धयो वत्सः प्रतिदिनमेकप्रस्थमितं पयः पिबन् प्रतिप्रस्थमाणकद्वयमूल्येन संवत्सरे पञ्चचत्वारिंशन्मुद्राणां केवलं पयः पास्यति, शष्पादिकं पृथक् सेवास्थानादिव्ययश्च पृथक्। एकहायनस्य वत्सस्य मूल्यञ्च मुद्रापञ्चकम्। चत्वारिंशन्मुद्राणां ह्रानिरिति विचार्य गौर्वत्सं विना कथं दुग्धं दद्यादित्युपायमन्विष्य जातमात्रमेव वत्समेकया मुद्रया गोघातिभ्यो विनिमयते केवलं स्वार्थपण्डितः।

अतिमलिने कर्त्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धीः।
तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः॥ सुबन्धुः।

पुञ्जवादे एतादृश्यः कल्पनाः कला गण्यते विज्ञानं वा। हन्त! "ऋद्धिश्चित्तविकारिणी।" स्वमातुर्दुग्धपाने वत्सस्यैवैकाधिकारो रक्षिणस्तु पीतशेषे, नैवं तस्य विचारः। भगवतो वसुधां पशूंश्च, वत्सस्य पित्रा बलीवर्देन कृष्ट्वाऽधिगतमन्नम्, वृष्ट्या जातं शष्पं मनसा स्वायत्तीकृत्य यथेच्छाचरणाय स्वतन्त्र ईश्वरमुपेक्ष्य, राष्ट्रहितम्, अप्रतिकुर्वतां परिस्थित्या मूकानां च हितमपश्यन् पराजितस्याहरणाय स्वार्थपोषणाय चेष्टते परिग्रही। एवं परिस्थित्यर्जितधनः स भौतिकीमुन्नतिमकरोत्। परिस्थितिरेवाध ऊर्ध्वञ्च नयने परमा साधिका। यथा च कश्चन विप्रः शिष्यगृहं गतः शिष्येण प्रोक्तः "भवान्नास्मत्पक्वमत्ति नचास्मदानीतं पयः पिबति, अतो भवानेव पचतु जलमाहरतु च" इति स स्वस्मै कृतवान्। कदाचन शिष्यस्य स्त्रियां रुग्णायां रजस्वलायां वा भूतायामितरजातिः शिष्योऽवदत्-

"गुरो! भवान् पश्यत्येव, आवाभ्यामपि पक्तुं दयताम्, तदर्थं मुद्रामेकां दास्यामि, यतो न विना मूल्यमावां गुरुपाचितं खादिष्यावः" इति शनैश्शनैश्चलित एष व्यवहारोऽस्य हन्त! ब्राह्मणान् पाचकान् प्रपास्थायिनश्च चकार। हन्त! दारुणा परिस्थितिः। परिस्थित्या चान्त्यजाश्शनैश्शनैः कृतवाणिज्यादय उच्चं वर्गमुपेताः। अस्तु,

अद्याप्युद्योगपतिरनवरतमधिकाधिकं श्राम्यते परिस्थित्या प्रतिकर्त्तुमसमर्थाय श्रमिणे यथाकथञ्चिज्जीवनं धर्तुं किञ्चित् प्रक्षिप्य, कारायितासु कुटीषु पदपद्यासु वाऽऽवास्य सर्वस्वमपहरत्यज्ञातभावेन। एतच्छोषणं प्रकटितभवबाधस्याऽऽनन्दोपवनदावाग्नेर्वराकघस्मरस्य पुञ्जवादस्य ज्येष्ठः पुत्रः। एतेषां लक्षाणां सहस्राणां वान्यतमः क्वचन कदाचन कश्चन यशोर्थी स्वार्थी किमपि ददाति चेत्तद्दानं नीवीं[1] प्रमोष्य शतमुद्रां निष्कास्य ताम्बूलवीटिकाप्रत्यर्पणवत्, [2]घनं प्रचोर्य सूचिकादानवद्वाऽकिञ्चित्करम्।

अद्य राजानः सामन्ता भूमिदारा धनिन उद्योगपतयो व्यापारिण इतरे च कृषकेषु जीवन्ति। सोऽयं सर्वोपजीव्य ईश्वरस्य लघुभ्रातेव लोकजीवनाय सर्वथा सक्षणोऽपि निर्धन एवास्ति। तस्य पशुपालबालपरिषद्विभूषणाः शिखिशिखण्डकृतावतंसाः बालमुकुन्दसमाः शिशवः साधनविहीनाः खाद्याभावदुःखदारिद्र्यविक्लवा उच्छ्वसन्तो मृत्युमुखं विशन्ति, विवेकसेकविरहिता अशिक्षिता वा जीवनं यापयन्ति पशव इव। ते पयसः प्रधानस्रोतसोऽपि पयः पातुं न शक्नुवन्ति, नवनीतस्य निर्मातारोऽपि तन्नादन्ति, वस्त्रस्य वातारोऽपि नग्नाः, अन्नस्यैकमात्रं वप्तारोऽपि निरन्नाः। अन्य एव कश्चन हस्तस्तेषामज्ञानदरिद्राणां मुग्धानां हस्तात्प्रसह्यादाय तदुपभुङ्क्ते। हन्त! कृतघ्नानामस्माकं कथं निष्कृतिर्भविष्यति। "कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः।" तैरस्यां परिस्थितौ ज्ञानविज्ञानयोरुपयोग उपभोगो वा विधास्यते इति वक्तुमशक्यम्। जठरज्वालालीवलयितानां तेषां द्राघीयो दरिद्रं जीवनं पादकन्दुकवत् केवलं जनानां प्रबलान् पादाघातान् सोढुमितस्ततो धावितुम्, रेणुषु रूषणाय तिरस्काराय च केवलम्, हन्त! "दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी"।

कुलं शीलञ्च सत्यञ्च प्रज्ञा तेजो धृतिर्बलम्।
गौरवं प्रत्ययः स्नेहो दारिद्र्येण विनश्यति॥ चाणक्यः।

---

१ नीवी = अण्टी। २ घन = घण लोहकूटनेका।

मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं वित्तहीनो यदा पुरुषः ।। पञ्चतन्त्रम् ।

परं ते तु धन्या एव येषां मृतानां लोकोपकारभावौतप्रोतान्यस्थीन्यपि गुर्वीमुर्वीमुर्वरयन्ति ।

पाटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्त्तुम् ।
यत् पिषतामपि नृणां तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ।। (पण्डितराजजगन्नाथः)

ग्रामोन्नत्यै सर्वो व्याचष्टे, परमुन्नतिर्नगराणां भवति, वराका वचनैर्वञ्च्यन्ते । आजीविकासाधनान्यपि नगरेष्वेव सन्ति । स्वार्थः, पक्षपोषणम्, लोलुपत्वम्, क्रूरत्वम्, परिग्रहिणां नागरिकाणां प्रधानं धर्मः । वराका ग्राम्या दुर्भिक्षविक्षिप्ताः गतधना जनाः सुवर्णसुभगं मञ्जुलकुसुमसरससुगन्धगन्धवहोद्वासितामयकुलं सुरविटपिवाटीपरिवृतचरम्, पुञ्जवादपुरञ्जनपरिप्लुष्टं शरज्ज्योत्स्नाशुद्धं सौभाग्यजीवनजननं स्वास्थ्यहितं महितं वीतरागं तपोवनमिव ग्राममुत्सृज्य स्वर्गान्नरकमिव मशकमत्कुणमक्षिकासंरक्षितासु दुर्गन्धनिधानासु रथ्यासु निवासाय बाध्यन्ते चरकमाह्वयमाना यक्ष्मभक्षिता जीवन्तः परमश्रमेण सञ्चिन्वन्तस्तनीयांसं पांशुमपि न सञ्चिन्वन्ति, न च सञ्चेतुं शक्नुवन्ति । राज्याधिकारिणोऽपि नित्यनवप्रियाः चाकचक्यैकप्रवणचेतसः सासूयाः ग्रामेषु न यान्ति । यतो हि न तत्र विविधव्यञ्जनोपबृंहितानि द्विजटत्रिजटस्फुरदिन्दीवरनिन्दिसुन्दरवदनामृतहास्यगीतोपेतानि शङ्कितलज्जितरसभरचञ्चलतापविमोचनमधुरदृगन्तशोभितानि उदग्रसूच्यग्रकञ्चुकाञ्चितवक्षोविभूषितानि सधनोपनीतानि गोष्ठीभोज्यानि, न सौवर्णराजतभाजनेषूपहृतान्याहृताक्षाण्यभिनन्दनपत्राणि, न प्रच्छन्नच्छलैरुपहृतानि पुष्पफलाच्छादितानि दीनारपिठराणि, न सुवासितसुमनसां वासितवाससो हाराः, न निवासाय स्वर्गसुखदा आवासाः, न भ्रमणाय चक्षूंषि चमत्कुर्वन्तो मरुत्तराः, न च सभोपेतानां सहस्रशो मनुष्याणां चित्ताह्लादकः करतलध्वनिः । को नाम एवं विधमाकर्षणमुत्सृज्य रूक्षशुष्केष्वसभ्याज्ञानदारिद्रयपूर्णेषु साधनाधमेषु ग्रामेषु गन्तुमुत्सहेत ?

पुञ्जवादे मनुष्यो धनसङ्ग्रहस्य यन्त्रम् । केन व्यापारेण कया प्रणाल्याऽधिकाधिकं धनं मे प्रभवेदित्येव तस्योद्देश्यम् । नात्र मनुष्यस्य मूल्यम् । प्रतिदिनं यन्त्रेषु जीवनरत्नं जहतां जनानां क्वापि मूल्यं निरीक्षितम् ? सौचिकः सूच्यां भग्नायां शोचति किमु ?

कार्षापणस्य त्रिंशल्लभ्यन्ते। एतद्धनं मदीयं तदपि ममैव स्यादित्येवानारतं तस्य विचारः। आकल्पं जिजीविषुरिव स द्वीपसम्पदपहरणे लग्नः। तस्य दृष्टौ धनस्य, केवलं धनस्य मूल्यम्। धनार्जनाय स स्त्रियम्, पुत्रीम्, प्रतिष्ठाम्, पुण्यम्, सिद्धान्तम्, धर्मम्, न्यायं वाणिज्यारे[1] विक्रेतुमाकुलः। "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इति सिद्धान्तस्तेन सार्द्धचन्द्रं नितम्बे पादं प्रहृत्य निष्कासित उत्तरध्रुवं सेवते। आश्चर्यम्! कश्चन निरन्नोऽन्न-कणाय सयत्नश्चन्न तस्य दोषः, जीवनसंरक्षणं तस्याद्यो भावः। परमन्नपूर्णसमुद्रा अमितस्वर्णा न्यायमन्यायं पुण्यं पापमविचार्य यदि तस्मै सयत्नास्तदा किमु वक्तव्यम्? इदानीन्तनः समयो विकृतो भयानकश्च। एवं भारतस्याशायिताः भविष्यन्तः कृष्णराम-बुद्धा मन्दमुग्धस्मितस्नपितमुखारविन्दा बालाश्चायपानकेषु परिवेशितवम्, रथ्यासु कर्गद-शणेङ्गालकान् प्रचेतुम्, समूहे नीवीमपहर्त्तुम्, अङ्कुरितयौवनाः परिणतशारदशशधरवदना रदनजितमौक्तिकसदना निसर्गक्षीणोदर्यः सुन्दर्यः कालिदासस्य कला इव मूर्त्तिमत्यः सत्यः कमलकोमलकामनाः कन्याश्च विमलकठिननिश्चलव्रताच्चलिताः स्नानमर्दनागारेषु वेश्यालयेष्वनुचितां भृतिं वा कर्त्तुं बाध्यन्ते।

हन्त! धनेन कीदृशी स्थितिः परिवर्त्तिता। सर्वेषां स्थानं केवलमनेन गृहीतम्। न केनापि कदापि विचारितमासीद् यद् द्रव्यस्य विनिमयसाधनस्य मानवमानसे एतादृशी प्रतिष्ठा भविष्यति। विश्वस्मिन्नास्ति कोऽप्यनर्थो यो धनेन न साधयितुं शक्येत। अन्यायस्य, शोषणस्य, व्यभिचारस्य, भ्रष्टाचारस्य, चौर्यस्य, प्रसह्याहरणस्य, हिंसाया-श्चाधारशिला धनमेव केवलम्। सत्यम्, वित्तच्छायायां नरो विवेकविच्युतो भवति। यत्र धर्मो नीतिश्च न स्यात्, स्वार्थः सर्वातिशायी तत्र यदि त्यागस्त्यक्तस्तदा किमाश्चर्यम्? "नीचैरनोचैरतिनीचनोचैः सर्वैरुपायैर्धनमेव साध्यम्"। धनं परमेश्वरः। वास्तविकः परमेश्वरस्तु शुष्कोपानद्भिराहतः क्षताङ्गश्चिकित्सालये परिचर्यतेऽज्ञातदेशे। सत्यम्,

मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद!
स्वजनानुत बन्धून् वा न पश्यति ययान्धदृक्॥ भागवते १०।८४।६४

हन्त! दुरत्ययोऽतत्त्वाभिनिवेशः। त्रिभुवनराज्यत्यागमहितमहिमभिमतिमत्तमै-रस्मत्पूर्वजैः कथमिदमीप्सितमित्येवाश्चर्यम्।

---

१ बाजार इतिलोके।

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत ।
कुटजे खलु तेने हा ! तेनेहा मधुकरेण कथम् ॥ जगन्नाथः ।

अद्य प्रतिशतमेकस्यानर्जितसम्पत्तावधिकारः। व्यापारिपरिग्रहिणौ सगुणौ सधर्मौ परस्परं पोषकौ । एषां मुष्टिमेयमानवानां रक्षायै व्यवस्थायै ये स्वायत्तीकृतपरसम्पदो रक्षणमभिलषन्ति सर्वःक्लिश्यते । एतादृशे वातावरणे कार्यमकुर्वन् धनार्जकश्चौरायितः प्रसह्याहरको लुण्ठाको वा चतुरो गण्यते, हन्त ! दृश्यतां पुञ्जवादे मापदण्डश्चातुर्यस्य ! इतश्च रात्रिन्दिवं कार्यं कुर्वन् 'कर्त्ता'[१] इत्युच्यमानोऽपि न फलभाक्। अत्र प्रतिशतं नवनवतेश्चार्जितसम्पत्तावेव नाधिकारः, कश्चनाज्ञातहस्त एव तामपहरति। परस्य चानर्जितसम्पत्तौ परश्रमाधिगतसम्पत्तौ पूर्णाधिकारः ।

एकतः समाजेऽपरिश्राम्यतामिन्द्रियाणि व्यर्थतामुपयन्त्यनुपयुज्यमानानि, इतश्चेतरेषामत्युपयोगेन। एतादृशे समाजे प्रतिशतं नवनवतिर्मनुष्याणां कठोरश्रमाय बाध्यते, एकश्चानुत्पादकोऽश्राम्यन्ननारतं विश्रमाय विषयोपभोगाय संरक्ष्यते। सोऽनीक्षितक्षेत्रोऽसोढश्रमः सर्वेषां श्रममश्रमं बुद्धिमतां बुद्धिञ्च क्रीत्वा परैधितो[२] धनेनास्मानप्यतिवर्त्तते, परं तस्य वास्तविकी स्थितिः [३]प्रेष्यतोऽधिका नासीत्। परमद्य स परास्कन्दी[४] ।

विषधरतोऽप्यतिविषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी सकुलद्वेषी सदा कृपणः ॥ सुबन्धुः ।

स्वामिनोऽज्ञातभावेन हृतं द्रव्यं चौर्यम्। यथा च कृषकेण श्रमेण तूलमुत्पाद्य प्रतिमुद्रं चतुष्प्रस्थं विक्रीतम्। तन्निर्मितानि द्वादश धौतवासांसि तेन षट्त्रिंशन्मुद्राभिः क्रीतानि। विहङ्गमावलोकनेनास्वेका मुद्रा तूलस्य, पञ्च कर्मकराणाम्, पञ्च शासनस्य पञ्च प्रबन्धस्य च, परं विंशतिर्मुद्रा एतादृशेनाज्ञातेन हस्तेनोद्भुक्ता येन न क्षेत्रमवलोकितम्, न निर्माणशालाश्रमोऽनुभूतः, नचालेखनं कृतम्। एतच्चौर्यम्। किन्त्वेतच्चौर्यं व्यापारिकम्, सुसङ्घटितम्, समाजानुमोदितञ्च। आधुनिकसमाजस्य परिभाषया न स चौरः, अपि तु उद्योगपतिः, जीवजगतो जीवातुः।

---

१ वर्कर Worker. २ पैरासाइट Parasite. ३ वैरा Bearer. ४ परानास्कन्तुं = शोषयितुं शीलमस्य "स्कन्दिर् गतिशोषणयोः" ताच्छील्ये णिनिः।

येषां प्राणिवधः क्रीडा नर्म मर्मच्छिदो गिरः ।
कार्यं परोपतापित्वं ते मृत्योरपि मृत्यवः ।।

परमवधार्यताम्, नैतत् प्रबुद्धे भारते चलिष्यति। वयमेतदन्याय्यमपहर्त्तुं समवेताः। कस्यापि दुरवस्थया कोऽपि लाभान्वितो न भवेत्। व्यतिक्रमविनाशोऽस्माकमुद्देश्यम्।

परितो भोगाढ्यां सौवर्णीं लङ्कां यत्र तत्र मुनीनां कङ्कालकूटं रामेण प्रेक्षितम्। तोषधनाः शान्तात्मानः पठनपाठने यजनयाजने ज्ञानविज्ञानाविष्करणे प्रयतमाना लोकोन्नत्यै विश्वस्य भूत्यै श्राम्यन्तः प्रतीकारापरायणा मुनयो राक्षसैर्जग्धाः, जनस्थानमपि तदरण्यतां बभ्र, मुनिभूमिरपि सा मृत्युशिलेवाभूदिति वाल्मीकिर्ब्रूते। परम्, किं सम्भाव्यते यदेतददनं दन्तैर्दंष्ट्राभिर्वाभूत्? नहि नहि, अपि तु तेषां नैशाचर्या[1] नीत्या। धनेश्वरस्य लघुभ्रात्रा धनीबुभूषुणा रावणेन शोषिताः शान्ताः शान्तिप्रियाः सविनया मुनयः सम्पीडिताः समूहशो मृताः, शिष्टाश्चोद्विग्ना अवसन्ना दीना मृतेभ्यः काष्ठमग्निं पिण्डमपि दातुं न प्राभवन्। नैते साधनसम्पन्ना दिव्यसिद्धय ऋषयस्तेषां वरशापसामर्थ्यादधृष्यत्वात्। अपि त्वपास्तसमस्तदोषाः प्रजा एव मुनित्वेन वर्णिताः सुशीलत्वात् साधुवृत्तत्वात्। रक्षोराजो रावणो दशग्रीवो द्विदशकरश्च वर्णितः। परं किं सम्भाव्यते यत् कश्चन द्विपाद् दशग्रीवो द्विदशकरश्च भवितुं शक्नोति? वस्तुतस्तस्य कर्मणः प्रतीकौ पादौ द्वावेवास्ताम्, परं करमादातुं शासकस्य दुर्मददुर्वृत्तगुणैरुपेतः स विंशतिकरः, दशेन्द्रियविषयानुपभोक्तुञ्च दशानन इवासीत्। अनया सङ्ग्रहणनीत्या शोषणप्रणाल्या दुःखयन्, मानवान् पीडयन्, सुन्दरीराहरन् त्रैलोक्यं रावयामास, अतो रावणनाम्ना प्रसिद्धः। तस्य भ्राता मद्यमांसमहिलामैथुनव्यासक्तो लोकव्यवहारविरक्तो न कस्मादपि किमपि शुश्रूषुर्महानिद्रः कुम्भकर्ण[2] इति, परश्च लोकभीषणो विभीषण इति विश्रुतः। जनस्थाने चास्य दुर्वृत्तौ मुख्यौ शासकावास्तां खरो दूषणश्च, इमौ गुणावपि सविग्रहाविव पुरुषवद् वर्णितौ प्राचुर्यात् प्राबल्याच्च। वस्तुतः खरः शासनकाठोर्यम्, दूषणश्च सकलदोषसमवायः, जनस्थाने एतयोरेव साम्राज्यमासीदत एव जनस्थानमरण्यतां बभार।

एवमुद्विग्नजने राष्ट्रे दशरथाद्—दशेन्द्रियाणि रथा इव (नियतानि वशीकृतानि येन) तस्मात्

१ निशायाम् = अन्धकारे अज्ञानान्धकारे च चरन्ति = भक्षयन्ति ते निशाचराः ब्लेकमार्केटिष्टाः। २ कुम्भे कथनान्न किमपि फलं लब्धुं शक्यम्, तथैव तत्र।

कौशल्यायाम्=कुशलकर्मोपेतायां रामः प्रसूतः। स्वकर्मक्षमसर्वेन्द्रिय एव युक्ततमं पुमांसमुत्पादयितुं प्रभुः। तेन सर्वलोकहितैषिणा त्रैलोक्यरमणाद् राम इत्युपाधिं दधता सर्वा मर्यादाः प्रतिष्ठापिताः। रमयति विश्वं स रामः, तस्य स्त्री सीता कृषिप्रतीका राष्ट्रस्याजीविका जनकस्य=उत्पादकस्य पुत्री। एवं स त्रैलोक्यरमणः सीतां परिणीय सल्लक्षणं लक्ष्मणम्, विश्वभरणप्रवणं विषयानासक्तं विरक्तं ज्येष्ठानुशासनेऽनुरक्तं भरतम्, मर्यादाशत्रूणां हनने शत्रुघ्नञ्च भ्रातृत्वे प्रकल्प्य "साधुतपस्विकण्टकं विरावणं रावणमुग्रपौरुषम्" निहत्य सर्वत्रानन्दं प्रसारयामास। अत एव तस्य पुरी अयोध्या—न केनापि योद्धुं योग्या शक्या वाऽऽसीत्। तस्य राज्यमधुनापि स्मर्यते। यत्र प्रहृष्टमुदितो लोको हृष्टः पुष्टः सुधार्मिकः। निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः॥ विविधरूपेण भावुकास्तं गायन्त्युपश्लोकयन्ति च। यतस्तस्य जीवनं न स्वस्मै, अपि तु लोकरञ्जनाय। एषैव स्थितिर्हिरण्यकशिपोः। हिरण्यस्य कशिपुः=पर्यङ्को यस्य, यत्र जना जलाय त्रस्तास्तत्र स पर्यङ्कमपि हिरण्मयमकारयत्, एतादृशो दुर्वृत्तो भोगाभिलाषी च, यः स्वपुत्रायितान् प्रह्लादमानान्[२] जनान् निष्पीड्य स्वैरं विचचारोपेक्षितेश्वरान्तर ईश्वरमानी निरङ्कुशः प्रचुरैश्वर्यः। तदा कश्चन नरसिंह एवाज्ञातागमनस्तं क्षपयामास। प्रह्लाद इत्यव्यक्तं शब्दायमानस्य दुःखितसमाजस्योपलक्षणम्।

एत एव राक्षसाः पुरा रक्षका आसन्, आसीच्च तदा सम्मानबोधिका राक्षसपदवी, परं तेषां नृशंसव्यवहारेण नैशाचर्या नीत्या च साप्यधोगतिं गता महत्तरहरिजनशब्दवत्। एते निशाचराः सामान्यसाधुजनानां शोषणादेव लङ्कां सौवर्णीं कशिपूंश्च हिरण्मयान् कर्त्तुं प्राभवन्। अस्माकं सद्भावनारते विरतविद्वेषे संस्कृतिसम्पन्ने शान्तसन्तुष्टजने राष्ट्रेऽभितो दिशं दृश्यमानान् प्रासादान् परितः कङ्कालकूटं ततोऽप्यधिकमैक्षिष्यत यद्यस्थ्नामन्यत्रोपयोगो नाभविष्यत्। एकस्यां सौवर्ण्यां लङ्कायां शोषकं भोगाभिलाषिणं शासकं समुच्छेत्तुं मर्यादाः प्रतितिष्ठापयिषू रामोऽवातरत्, परमधुना परितः प्रेक्ष्यमाणासु सौवर्णीषु लङ्कायितासु सर्वतः सरतां रावणायमानानां हिरण्यकशिपूयमानानां स्वानाञ्च कृते मर्यादाः प्रतितिष्ठापयिषद्भिर्भवद्भिरेव रामरूपेण नरसिंहरूपेण च भवितव्यम्। यतो हि,

१ रक्षतीति राक्षसः, रक्ष पालने असुन्नन्तात्प्रज्ञाद्यण्। अधुना तु रक्षत्यस्मात्।
२ अव्यक्तं शब्दायमानान्। ह्राद अव्यक्ते शब्दे। गुर्राते हुए।

यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वारणीयः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्ति नेच्छन्त्यसाधवः।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा॥ भागवते १०।६८।३१

नैतत् सम्भाव्यते यदेते बोधनेन सत्पथे समागमिष्यन्ति।

भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति।

परमेते भ्रान्ताः समाजेनोच्यमानाः सम्भ्रान्ताः। भ्रान्तानामप्युदयो दयापात्राणां सत्पुरुषैरेष्टव्य एव। यतः—

रुद्रोऽद्रिं जलधिं हरिर्दिविषदो दूरे विहायःश्रिताः
भोगीन्द्राः प्रबला अपि प्रथमतः पातालमूले स्थिताः।
लीना पद्मवने सरोजनिलया मन्येऽर्थिसार्थाद्भिया,
दीनोद्धारपरायणाः कलियुगे सत्पूरुषाः केवलम्॥

जिह्वायां दन्तैर्दष्टायां न कोपि कुप्यत्यभेदात्। एतेऽपहृतसुवर्णमदाविष्टाः। एष मद एषामपनेयो येनाप्राकृतिकीमवस्थां विहाय प्राकृतिकीं दशां भजेयुः। "असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्"। भागवते १०।१०।१३। एष उपयुक्तोऽवसरः। समुद्रादुद्धृ्य देवेषु गतायां श्रियां या स्थितिर्दैत्यानामासीत् सैवाद्यास्माकं धनिनाञ्च। "अन्तरापाति हि श्रेयः कार्यसम्पत्तिसूचकम्।"

भेदभावनायां परकीयभावनायां तीव्रायां विपन्नता, तस्यामल्पायामल्पतरायामल्पतमायाञ्च क्रमशः सम्पन्नता। सर्वेभ्यः समाना प्राप्तिरभेदभावस्य सखिभावस्याद्वैतभावस्याभिवृद्धावेव भवति, स एवास्माकं साध्यः, विरोधपरिहारः, सर्वत्र समत्वापादनम्, कर्त्तव्यबुद्ध्या प्रदर्शनरहितं सहजं कर्म च। शिशुं सेवमाना माता किं वृत्तपत्रेषु विवरणं प्रकाशयति? माता सेवाया आदर्शः। नभोभूषा पूषा समुदीयमानः किमुद्घोषयते? यदहं तमोऽपहनिष्यामि, पक्षिणः प्रेरयिष्यामि, लोकान् कर्मणि योजयिष्यामि परमेतत्तस्य सत्तया स्वतो भवत्येव। परिमलं प्रसारयन् विविधरागैः

सुरूपतामुल्लासञ्च विकासयन् छायां फलानि च ददत्तरुर्नोद्घोषयते, न जानाति न च गर्वमनुभवति। यतो हि स तेषां सहजभावः। वयं सर्वे जीवाम, उपलब्धसर्वसाधनान्युपयुञ्जानाः सुखिनः प्रतिक्षणं समवेत्योदीयमाना जीवाम। यतः—

पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते॥ भागवते १०।५।२८।

राष्ट्रस्यार्थिकीं स्थितिमुन्नेतुं यतमानानां मानवविहितां विषमतामपाकरिष्यतां प्राकृतिकीश्च न्यूनयिष्यतामस्माकं पणोऽस्तु यज्जलस्यैको बिन्दुरन्नस्यैकः कणः समयस्यैकः क्षणः श्रमस्य स्वल्पतमोंऽशश्च न व्यर्थमुपेयात्। सर्वे च सुखिनः प्रियदर्शिनश्च भवन्तु, न कश्चिद् दुःखभाग् भवेदिति। एवं कृते दुःखम्, दारिद्र्यम्, शोकः, भयम्, अज्ञानञ्च कथावशेषतां व्यपेयायादवश्यम्। "एकचित्ते द्वयोरेव किमसाध्यं भवेदिति" वयं तु बहवः।

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृतौ सुविचारिते।
प्रारम्भे कृतबुद्धीनां सिद्धिरव्यभिचारिणी॥
असिद्धार्था निवर्त्तन्ते न हि धीराः कृतोद्यमाः।

कश्चिद् ब्रूते, असम्भवः सर्वाभ्युदयः। महतां लघुषु जीवनं प्रकृतिसिद्धम्, 'जीवो जीवस्य जीवनम्'। सर्वत्र ज्येष्ठः कनिष्ठम्, सबलोऽबलम्, पण्डितो मूर्खम्, धनी निर्धनम्, भूमिपालः कृषकम्, विश्रमजीवी श्रमजीविनं जिघत्सति। मत्स्यन्यायः प्रकृतिसिद्धः। "वरिष्ठो मत्स्यो लघूनत्ति" इति न कथमपि प्रकृतिविरुद्धं कर्त्तुं शक्यम्। नाद्यतने न चानद्यतने जगति दुर्बलानां स्थितिः। अतः कल्पनामधुरोऽयं सर्वाभ्युदयो न व्यावहारिकः, केवलं प्रज्ञावादो विचारकाणां वाचां व्यायामश्चेति।

परं भ्रान्तैषा धारणा। सर्वातिशायिबलशाल्येव चेज्जीवने साधिकारस्तदा पुरुष एव सर्वेभ्योऽक्षमः क्षमाचारी नैसर्गिकसाधनविहीनः प्राणी। यतस्तस्य न तीक्ष्णानि नखानि, न चोग्रा दंष्ट्रा, नोड्डयनाय पक्षौ, न शृङ्गाः, न विशिष्टा धावनशक्तिः, नोत्कूर्दनाभ्यासः, न जले न स्थले न चाकाशे तस्याऽबाधा गतिः। परं न केवलं स जीवति, अपि तु सर्वान् बलिनो वशयति। हस्तिनमुष्ट्रमश्वञ्चारोहति, सिंहं वृकं वशयित्वा

यथेच्छं नर्त्तयति, शृङ्गिणो नियोजयति, गां महिषीं दोग्धि व्यवहरति च। अतोऽव्यवहार्योऽयं मत्स्यन्यायो बुद्धिमत्सु मानवेषु। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'। सा चेयं शरीरबलतो भिन्नाऽनवधिका शक्तिर्बुद्धिर्नाम। या शरीरेण न क्षिणोति, अपि तु प्रखरा प्रखरतरा वर्द्धते। अत एव मानवसमाजे शरीरशक्त्याऽशक्तोऽपि वृद्धो नेता भवति, भवितु शक्नोति च। नैवं पशुसमजे। अतः समाजे बुद्धिमतामेव वरीयस्त्वम्। बहवश्चक्रवर्त्तिनो विश्वजयिनो मृताः। न कश्चन तेषां नामापि वेत्ति, परं बुद्धिमन्तः प्रातः स्मर्यन्ते। अत एव देवराजो बृहस्पतिम्, वृषपर्वा शुक्रं प्रसादयामास। केचिद् वदन्ति भ्रान्ताः —

पुण्योपार्जितसम्पदोऽपदानि विपदां धनिनः कथं पुण्येऽक्षीणे एव निर्धनाः कर्तुं शक्यन्ते। एते हि परमधार्मिकाः। लोकस्य भूत्यै विद्यालयान्, पुस्तकालयान्, औषधालयान्, आरामान्, धर्मशालाः, गोशालाः, गोचरभूमीः, कूपान्, देवमन्दिराणि निर्माय व्यवस्थापयन्ते। एते विश्वस्य स्तम्भाः, मर्यादासेतवो मधुरफलानां विनता वृक्षाश्च। एतेषामभावे विश्वस्य व्यवस्थैवासम्भवा लोकश्च विजनतां व्रजेत्। इतश्चापुण्या अक्षीणपापा दरिद्राः कथं सधनाः कर्त्तुं शक्यन्ते? इति शास्त्रेण प्रत्यपादि। सत्यम्, एते धर्मे व्ययन्तो धार्मिकत्रुवाः प्रायशः क्रेतॄणां विक्रेतॄणाञ्च सकाशात् प्रतिमुद्रं कार्षापणमेकमादाय प्रतिवर्षं सहस्रशो लक्षश उत्पाद्य शतांशं यशोर्थिनो धर्मे धन्यवादाय व्ययन्ति। विचार्यताम्, किमसौ धर्मः परोपकारो वा? किमेतस्य फलं धनिना साधिकारं भोक्तुं शक्यते? तस्य फलेन च स धनवान् भवितुं शक्नोति? यथा वयं राजानः प्रजाधनेन सर्वं निर्मापयामो भुञ्ज्महे च तथैवैते। वस्तुतः पुण्यं स्वमनःशरीरार्जितसम्पदां दानेनैव। अथ च शास्त्रेणेत्यपि प्रत्यपादि यत् पुण्येन मनः शुद्ध्यति, तपसा सत्त्वसंशुद्धिमाचख्युर्महर्षयः। शुद्धमनाश्चोदारतायाः, क्षमायाः, दयायाः, सन्तोषस्य, चरित्रस्य च निधानम्। परमद्य विदुषे वृद्धाय भूदेवाय पुण्यप्रवर्त्तकाय लोकोद्धरणव्रतिनेऽश्वस्तनिकाय विधिवशान्माध्वीकमाकाङ्क्षते ब्राह्मणाय लक्ष्मीलवोल्लसदमन्दमदावघूर्णितैरर्धचन्द्राकारो हारस्तथा प्रदीयते येन स स्वं तत्रैव जह्यात् कन्थायां किमप्युपलभ्येत च। सत्यम्।

विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥

श्रीभागवते ४।३।१७।

किमेतदेव पुण्यम्? एष एव धर्मः? पुण्यानुष्ठायिनामेतदेव लक्ष्म? अर्जिततपसामविगततपःफलानां तापसानामेष एव भावः?

भुज्यन्ते स्वगृहस्थितैरिव सुखं यस्यार्थिभिः सम्पदः
पटी यस्य मतिः तमःप्रहतये द्वावेव तौ प्राणितः।
यस्त्वात्मम्भरिरुन्नतेऽपि विभवे हीनश्च विद्वत्तया
तस्यालेख्यमणेरिवाकृतिधृतः सत्ताप्यसत्ता ननु॥

स्वामिने सम्पत्कूटं चिन्वतामनपराधिनां भृत्यानामपि धनजिघृक्षयाऽपराधमुद्घोष्य धनमादाय भविष्यद्बाधानिरोधाय तान् कारायां निरोधयत्सु क्वाद्य दया, क्व क्षमा, क्व धर्मः, क्वौदार्यम्, क्व दाक्षिण्यम्, क्व च लज्जा?

परवादे दशवदनः पररन्ध्रनिरीक्षणे सहस्राक्षः।
सद्वृत्तवृत्तिहरणे बाहुसहस्रार्जुनो नीचः॥

धार्मिकम्मन्यानां ग्रन्थेषु, याँस्ते परमात्मकृतान् कथयन्ति, द्रव्यं सर्वसङ्कटानां पदम्, अपदं पुण्यस्य, निषिद्धमग्राह्यमुक्तम्। द्रव्यवतामहमप्राप्य इति भगवानाह। "यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः"। सङ्ग्रह ईश्वरोपासनायाः सर्वथा प्रतिकूलः।

ऐश्वर्यं विपदां बीजं प्रच्छन्नं ज्ञानवारणम्।
मुक्तिमार्गार्गलं दार्ढ्यं हरिभक्तिव्यपायकम्॥

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण प्र० ख० २६।४८

परं तदपि धार्मिकध्रुवाः समाजेनोच्यमाना ईश्वरप्रियाः देवानां प्रियाः परोन्नतिशूलेन शल्याकुला अन्यायेन धनमर्जयन्ति। विशाला दुर्गायिताः प्रासादाः, अधिलक्षजनरोधीनि च यन्त्राणि सन्तोषस्य चर्चामिवानवरतं विदधति सर्वतः सोद्घोषमवलोक्यन्ते, यत्रामिषखण्डाय गृध्राणां कुक्कुराणामिव सङ्घर्षस्ताम्रखण्डाय सकर्णस्फोटं श्रूयते। पारस्परिकव्यवहारे स्वल्पमात्रयापि यदि स्नेहसहानुभूत्यौ व्यवाहरिष्येताम्, तदा विकसिताभ्यन्तरशक्तिरनपेक्षितं साहसं कार्यक्षमताञ्च प्रदर्शयितुं श्रमिकोऽशक्ष्यत्, सङ्घर्षश्चापि नाभविष्यत्, परम्, कः प्रबलया भोगलिप्सया कठोरात्याचारैर्घातुकवञ्चनाभिश्च सङ्गृहीतधनः सधनोऽधनैरेवं व्यवहर्त्तुं सज्जः? विघटनप्रिया निकृष्टभ्रष्टा भ्रान्ताः सङ्कीर्णविचाराः

स्वार्थान्धाः स्वामिनो दारुणाभाषणा भीषणाः कृतान्तस्य दूता इव प्रतनुवभवोद्भवदखर्वगर्वा बर्बरा विनाशोन्मुखाः श्रमिकैः सहामर्यादं दुर्व्यवहरन्ति ।

परक्षतक्षोदविनोदलीलाः खलाश्च काकाश्च यदृच्छयैव ।
पात्रेऽप्यपात्रेऽपि विगर्हणीयां वाचं च विष्टाञ्च समुत्सृजन्ति ॥

सोमेश्वरदेवः ।

आः ! कष्टम् ! क्षुधे !!

एकः स एव जीवति हृदयविहीनोऽपि सहृदयो राहुः ।
यो निखिललघिमकारणमुदरं न विभर्त्ति दुष्पूरम् ॥

पादाहतं रजोऽपि मूर्धानमधिरोहति, तदा कथं न स्याच्चेतने दुर्निवारव्यथे समुत्पीडिते मानवे सङ्घर्षः ? अस्तु, चरित्रञ्च तेषां साथमभिरामचित्राणां पोट्टल्या सह समवेतानां घटकानां[1] वर्णनेनानुमातुं शक्यते, यत्रार्यता यतित्वमुररीकृत्य वनम्, वर्णाश्रमाचारोऽनाचरितभिक्षः क्षारधिम्, भारतीयता यतवाक् सत्येन सह रसातलं प्रविविक्षति । त्रपा त्रपते, दया दूयते, मानो म्रियते, मौनं चीत्कुरुते, आर्जवं भर्जते, ब्रह्मचर्यं जिह्रेति, ग्रावा रोदिति, द्यौः प्रपित्सति, पृथ्वी प्रेजति, पापं प्राच्छंति, पातित्यमुपेधते, सूर्यं उपोषति, कष्टं कष्टायते, मनीषा शेते, यशः स्वं जुगुक्षति । सत्कार्यं याचते म्रियमाणाय वा मुष्टिमात्रं दित्सन्, संस्कृतिप्रचाराय ज्ञानविज्ञानधर्मोन्नत्यै च प्रार्थितः सर्वदा सम्प्राप्तार्थहानिः, परं स्वर्णकपोलाय सर्वस्वं त्यक्तुं सर्वदा सज्जः । प्राग्भवसमर्जिततपसो यस्य विविधं वाग्वागुरायां मुग्धवधूराबध्नन्तश्चराः प्राचुर्येण चरन्ति । यत्र तत्र वैज्ञानिकमर्द्दनस्नानागारस्य कलानिकेतनस्य संस्कृतिपरिषदो मनोरञ्जनशालाया नैशभोजनशालायाश्च मिषेणाभिनवप्रकाराणि व्यभिचारगृहाणि समेधन्ते, यत्र स्मेरचारुवदनविदलितेन्दीवरमदाः कृष्णपक्ष्मलाक्ष्यो भृङ्गावलिस्निग्धोज्ज्वलचिकुरनिकुरम्बा मृदुलमनोरमप्रलम्बाङ्गुलीकास्तमीरमणमुख्यो नखोद्द्योतविहसितरक्तोत्पलाः स्मिताःवमतज्योत्स्ना गतावहतहंसाः कलाकुटिलकेशोत्करस्फुरन्मणिद्विगुणिताभाः खञ्जरीटनयनाः सरलश्वेतोन्नतग्रीवा मल्लिकामृणालमृद्वयो विद्युद्वल्लीकन्दलीभास्वराः कलधौतकलेवरा अर्धोन्मिषितयौवना भुवनाभाः पादप्रभापरिभूतलाक्षाः क्षामोदर्यः सुकुमार्यः

[1] दलाल ।

कुमार्यो जोषमश्रुस्रुतिस्नपितकपोलवक्षसो जीवनं कदर्थयन्ति । यत्र काशशीतांशुसंकाशकेशाः कपूरस्फटिकेन्दुसुन्दरावदातभ्रुवः प्रवञ्चनधना धनोद्दामधामानोऽहीनभोगा महीनभोगास्तर्षचेतसो वर्षीयांसो धनिनो मकरन्दस्यन्दिनीं मधुरस्वरलहरीमाकर्णयितुकामाः कुमारीकीर्त्तिकौमुदीकलङ्कनकल्मषकलुषितकलेवराः काककामुकाः प्रकामं प्रेक्ष्यन्ते ।

अवधार्यताम्, एतदपकृत्यमेकदा राष्ट्रस्य विनाशाय समर्थम् ।

प्रातः समधिगतधनः सायं निर्धनः स्वपिति मन्दभाग्यः । स किं प्रातः पुण्यकर्मा सायञ्च प्रनष्टपुण्यः ? पुनरपरसप्ताहे चाधिगतपुण्यफलः ? वस्तुतो यावन्ति च्छलानि तावत्यो मुद्राः । शतच्छलश्शतपतिः, सहस्रच्छलः सहस्रपतिः, लक्षच्छलो लक्षपतिः, कोटिच्छलः कोटिपतिः, तदूर्ध्वं तु च्छलात्मकः । पतित्वं हि स्वाधीनवस्तुन एव सम्भवति, छलं हि स्वाधीनं न द्रव्यम्, तस्य गमनशीलत्वात् । अतः कोटिपतिशब्देन कोटिच्छलपतिर्बोद्धव्यः । 'शाकपार्थिवादित्वात्समासः' ।

कूटकलाशतशिविरैर्जनधनविवरैः क्षयक्षपातिमिरैः ।
दिविरैरेव समस्ता ग्रस्ता जनता न कालेन ॥ क्षेमेन्द्रः ।

नाद्यैषां सम्मानवाचकत्वं राक्षसशब्दवत् । राक्षसा एव स्तुतिप्रियाः[1] ।

यन्नोपकारकं यन्न भूषणं यत् प्रकोपमातनुते ।
गुरुणापि तेन कार्यं पदेन किं श्लीपदेनेव ॥ गोवर्धनाचार्यः ।

वस्तुत एतान् संस्कृतिविनाशकानां साधुसद्वृत्तपरिस्थितिपीडितमुनिजनायितानां सत्त्वं पिपासूनां स्वार्थान्धानां देवद्विजदरिद्रापाङ्गविधवावराकलुण्टाकानां पर्यायान् उद्बुद्धा मन्वते, परिस्थितिपीडिता नापि वक्तुं शक्नुयुः । परिस्थितिपीडितेन केनापि सत्यमेवोक्तम्—

---

१ दीव्यतिर्दशार्थः, दशैव चामरे देवभेदाः । क्रमशश्चार्थोपलब्धिः । देवः = क्रीडाप्रियः । विद्याधरः = विजिगीषुभावापन्नः । अप्सराः=व्यवहारवित्तः । यक्षः = द्यूतिप्रियः । रक्षः = स्तुतिप्रियम् । गन्धर्वः = मोदी । किन्नरः=मदासक्तः । पिशाचः = स्वप्नाभिलाषी, स्वप्न इत्यज्ञानोपलक्षणम् । गुह्यकः = कामी । सिद्धः = अव्याहतगतिः । भूतश्चापिना ग्राह्यत्वेन वैकल्पिकः प्रायशः सर्वगुणोपेतः ।

मानः कस्य न वल्लभः ? परमुखप्रेक्षित्वदुःस्था स्थितिः
कस्य प्रीतिकरी ? त्रपाभरनतं कस्मै शिरो रोचते ?
किन्तु स्वामिनि सावलेपहृदये दासीकृताः शत्रुभिः
क्षुद्रानद्यतनेश्वरान् धनमदक्षीबान् निषेवामहे ॥

वस्तुतो ये सु=सुखं रान्ति=ददति ते सुरास्तद्भिन्ना असुराः ।

अद्यतनं धनं संयोगात् केवलम्, काकतालवत्, घुणाक्षरवच्च । नैतत्पुण्यस्य फलम् । अथ च पुण्येनैतदेव लभ्यते, कृच्छ्रतपसश्चैतदेव फलञ्चेत्, नियमयमदमादिभिरेतदेव प्राप्यते चेद् दावाग्नौ दहत्वेतत्तपः पुण्यञ्च, भस्म चास्य रसातले तथा निखातं भवेद् यथा प्रलयान्तेऽपि नोपयुपेयात् । विद्याधनम्, पशुधनम्, कृषिधनम्, कलाधनं पुरा धनपदवाच्यमासीत्, परमहो ! अद्य विनिमयसाधनानि मुद्रितानि कर्गदखण्डानि धनपदव्यवहार्याणि ? आश्चर्यम् !

अद्य निर्मायिं गुणप्रणयिनः पादपांसुपरिमर्शपावितपतितपत्तनपरमपीवरपापिनः सारस्वतकल्पपादपैकफला मुनीयमाना विद्वांसो धनभृद्वेत्रिवक्त्रहुङ्कारकातरधियो रौरवायितेषु स्थानेषु निवसन्ति वार्क्षीं वृत्तिमाश्रिता दरिद्राः । एता राष्ट्रस्य विभूतयो वार्द्धके विविधवातिकश्लैष्मिकव्याधिविपन्ना औषधोपयोगायाप्यपारयन्तः श्लेष्मसिङ्घाणघूर्णितमस्तिष्का वयः क्षपयन्ति, परं न कञ्चन याचन्ते—

विषमङ्गता अपि बुधाः परिभवमिश्रां श्रियं न वाञ्छन्ति ।
न पिबन्ति भौममम्भः सरजस्कं चातका ह्येते ॥

यत्र तपस्विनो विद्वांस एवं सीदन्ति, तद् राष्ट्रमुन्नेष्यतीत्याशैव खपुष्पायिता शशशृङ्गायिता सैकततैलायिता च । इतश्च चलचित्रनट्योऽप्रकाशितागमना अपि भक्तैर्विदितागमा यथा सत्क्रियन्ते यजनसेवाविभागः प्रबन्धव्यासक्तोऽशक्तो भवति । तदद्याचारविहीने कश्चन धार्मिकोऽस्थास्यत्तदा किमेतादृशी स्थितिरभविष्यत् ?

धिगस्त्वेषां विद्यां धिगपि कवितां धिक् सुजनतां
वयो रूपं धिग् धिग् धिगपि च कुलं दुर्गतिमताम् ।
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्
बहिर्यस्य द्वारि तृणलवसमाः सन्ति गुणिनः ॥

निद्राति स्नाति भुङ्क्ते भ्रमति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते
दीव्यत्यक्षैर्न चायं गदितुमवसरो भूय आयाहि याहि ।
इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिगतान् वारितान् द्वारि पालैः
पश्यास्मानब्धिकन्ये ! सरसिरुहरुचामन्तरङ्गैरपाङ्गैः ।।

परमद्य धूर्त्ता धर्मस्य ढक्कां केवलं नादयन्ति बकभक्ताः न च धर्मं चरन्ति। समाजे समत्वाय गुणकर्मविभागशश्चातुर्वर्ण्यं चतुरेण सृष्टम्। परम्, शिरो बदरीफलायते, भुजाविषीकायेते, पादौ शलाकायेते, केवल्मुदरं दानप्रापणकर्म रिक्तताधर्म सुरसाशरीरमिव भूगोलार्द्धभागमिव वैधते ।

विवेकहीनाः समभावोत्पादकं सर्वाभ्युदयमहितकरं मन्यन्ते। नैतत्साम्यम्, यत्सर्वे परिमार्जनं गृहनिर्माणं वा कुर्युः प्रस्थं वा भक्षयेयुरिति। किन्तु सर्वे स्वस्वयोग्यतानुसारि कर्म कुर्वाणा राष्ट्रतो जीवनोपयोगि योग्यतावर्द्धकञ्च साधनं समानं लभेरन्।

धनबलेन स्थापिता सत्ताऽपूर्णा सन्दिग्धा च, पारस्परिकनिष्ठया समत्वे स्थापिता च स्थायिनी प्रभावोत्पादिका च। सा यदि प्रतितिष्ठेत्तदा प्रतिदिनं प्रेक्ष्यमाणो घोरः पारस्परिकः सङ्घर्षो विनश्येत्। अद्यायमर्थविकारः शारीरिको रक्तविकार इव समस्तं राष्ट्रं देहमिव दूषयति। अनेनार्थविकारेण प्रवृद्धेन रक्तस्य चापेनेव समाजस्य पक्षाघातः समजनि, ह्रसितेन च रक्तालपता। एष समये समये श्रमिकान् प्रलोभ्य वञ्चयति, कल्पवृक्षोद्यानानि प्रदर्श्य तान् विनाशयति, वंशीं नादयित्वा कस्तूरीमृगमिव मोहयित्वा हन्ति। परमिदं ध्येयं यद् यो दरिद्रान् दुर्गमयति तस्य दुर्गतिर्ध्रुवा।

विश्वास्य मधुरवचनैः साधून् ये वञ्चयन्ति नम्रतमाः ।
तानपि दधासि मातः काश्यपि ! यातस्तवापि हि विवेकः ।। जगन्नाथः।

स्वकार्यं सिषाधयिषुः पुञ्जवादी नम्रः, सिद्धौ च राक्षसः। दम्भोऽभिमानश्च पुञ्जवादस्वभावः।

मत्स्यस्येवाप्सु सदा दम्भस्य ज्ञायते गतिः केन ।
नास्य करौ न च पादौ न शिरो दुर्लक्ष्य एवासौ ।। क्षेमेन्द्रः।

एकस्मिन् भवगहने तृणपल्लववलयजालसंछन्नः ।
कूपः पतन्ति यस्मिन् मुग्धकुरङ्गा निरालम्बे ।। क्षेमेन्द्रः ।

एष दीनश्रमिककृषकयोर्दुरवस्थां विज्ञाय स्वल्पेन मूल्याभेन क्रीत्वा तेभ्य एव महार्घं विक्रीणीते । एष एव मृत्स्नास्थाने सिकता नववलभीस्थाने जीर्णां लौहवलभी-मुपयुज्य, जीवनरक्षकेष्वौषधेषु यत्किञ्चित् संमिश्र्य, शर्करायां विचूर्णितं काचम्, गोधूम-चर्णे तिन्तिडीकबीजचूर्णम् , पयसि पानीयमनेकविधं चूर्णान्तरञ्च, मरिचेष्विष्टकाचूर्णम्, हरिद्रायां पीतां मृदम्, घृते वसां तैलान्तराणि च सम्मिश्र्य राष्ट्रस्य जनान् कोटिशो धनञ्च विनाशयितुं कुशाग्रबुद्धिः । एवममन्दं स्निग्धः सिक्तश्च तरुणकच इव नीचो न कौटिल्यं विजहाति । सत्यम्, तस्करस्य कुतो धर्मः ।

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनञ्च सहोदरम् ।।

परम्, किमनेन राष्ट्रमुन्नेतुं शक्यते ? गृहं दग्ध्वा इङ्गालकानां मूल्यं स्वल्पयितुं शक्यते किम् ? परिवारं परिसमाप्यान्नं सुलभं विधातुमभिलष्यते किम् ? अवधार्यताम्, सुनीतेरेव ध्रुवोत्पत्तिर्भवति । सम्पत्तेः परमोपयोगो यथासम्भवमधिकाधिकं स्वस्थानां सप्रभाणां प्रसन्नचेतसां चिरस्थिरवरायुषां विदुषां सृष्ट्या भवति । परमद्य—

उष्णं निःश्वसिति क्षितिं विलिखति प्रस्तौति न प्रेयसः
प्रीतिं सूक्तिभिरीशितुः करतले धत्ते कपोलस्थलीम् ।
वाग्देवी हृदयज्वरेण गुरुणाऽऽक्रान्ता हताशैर्वृथा
नीताऽऽविष्कृतकोपनिष्कृपनृपस्तोत्रत्रपापात्रताम् ।।

परिश्राम्यते पूर्णे पारिश्रमिके दत्ते सतोषं तस्मिन् पूर्णोदरे च दात्राप्यर्थस्य सदुपयोगं वीक्ष्य हर्षितव्यम् । द्रव्यस्यानावश्यकः सङ्ग्रहश्च न भवति, भवति चासूयायाः समाजेऽल्पता । परमद्य हन्त ! अमुना सर्वग्रासिनार्थविकारेण जीवन्मृताः सनेत्रान्धाः सवाङ्मूका अमनस्विनो मानवाः, कृशकाया गर्त्तगतलोचनाः खातकपोला विशिथिला-भुग्नस्कन्धा विक्षतवक्षसः कुब्जाः समाजस्य चलाः कलङ्का युवानश्च निर्मिताः । हन्त ! कीदृशी विडम्बना । शास्त्रैः प्रतिबोध्यमानैरप्यस्माभिश्शत्रुर्मित्रत्वेन गृहीतः ।

शरणे सभुजङ्गमे स्वपन् प्रतिबुद्धे न परेण बोधितः।
तरुणः खलु जातविभ्रमः स्वयमुग्रं भुजगं जिघृक्षति ॥ अश्वघोषः।

विशालस्याकाशस्याधो द्योतमानानां चन्द्रतारकाणां प्रकाशम्, शीतं मन्दं प्रवहतो वायोः शान्तस्रष्टेश्चानन्दं विमुच्य क कारायिते गृहकोणे विद्युद्व्यजनवाते वासोऽस्माभिरङ्गीकृतः। हन्त! सत्य आनन्द एवाद्य पुञ्जवादपूरे प्रौढः। मञ्चनटीषु वेश्यासु वानरभल्लूकप्रदर्शनेषु निपतन्ति मानवा आनन्दं लिप्सवो दुष्काले बुभुक्षिता अन्नकणेष्विव। अहो! आनन्दाभासे प्रतिच्छायायामेवानन्दमनुबुभूषति मुग्धः। अस्माकं जीवने क्वाद्योत्साहः? वयं श्वसिमो यतो हि प्राणा न निर्यान्ति। परं जीवने जीवनं नास्ति, उत्साहस्य मानसशक्तेश्चाभावः। कलाहीनं नवीनताविहीनं भावनारहितं रोरुद्यमानं जीवनम्। किमेतदपि जीवनम्?

वयमार्याः। आर्यसंस्कृतेः प्रसाराय वयमेवाधिकृताः। अस्माभिर्बहवो भोगा भुक्ताः परं तृष्णाधुनापि युवतिरेव।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यति।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥ भागवते ९।१९।१६

अवधार्यताम्, अस्माकं माहात्म्यं त्यागेनैव ननु भोगेन। जठरं को न बिभर्त्ति केवलम्। भोगैर्विषयाः न शमितुं पार्य्यन्ते। अथ च यदि वयं भोगान्न त्यक्ष्यामस्तदा भोगा अस्मान् विहाय व्रजिष्यन्ति। यदि वयं प्रजानां क्षेमं न साधयिष्यामस्तदा प्रजाः स्वतस्तत् साधयिष्यन्ति। तदा क्वास्माकं वैशिष्ट्यम्, क्व च सम्मानः, किञ्च गरीयसोऽध्ययनस्य फलम्?

याते मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कं प्रति पान्थसन्ततिरियं सन्तापमालाकुला।
एवं यस्य निरन्तराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते
धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग् वारिधीनां जनुः ॥

एषा समयस्यावश्यकता। भूमण्डले बहूनि राष्ट्राणि जागरितानि। दरीचर्यौ जातयोऽ-

प्युन्नतज्ञाना जाताः। अस्माभिरपि जागरितव्यम्, योक्तव्यश्च विश्वस्य भूत्यै। सततोपकारनिरतमनसो भवादृशा एवादौ महत् कर्म कर्त्तुं क्षमाः।

उद्धृतौ भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमपहाय योग्यता। माघः।

एषा च सत्संस्कारस्य दिव्यधारा समस्तजीवने सततं प्रवहेत्। प्रवहणञ्चैकस्यां दिशि। पर्वते पतितं पानीयं शतमार्गेभ्यः प्रवहन्न सरितं निर्मातुं प्रभवेत्। तदेव चैकस्यां दिशि प्रवहत् स्रोतो भूत्वा धारारूपेण नदीरूपेण परिणम्य समुद्रमिव स्वोद्देश्यं प्राप्तुं समर्थम्। एषैव स्थितिः संस्काराणाम्। जलं हि निम्ने सर्वतः सृत्वा द्विदुःखयति। प्रथमतो भूमेः पोषणं निरुन्धदुर्वराशक्तिं ह्रासयति, द्वितीयतश्चैकत्रीभूतं विषाक्तवायुं प्रसारयन् मशकान् प्रकाममुत्पाद्य विषमज्वरमापादयति। अतो लोकहिताय जलहिताय च तस्य सर्वस्मिन् भूभागे विभाजनमेव वरम्। एवमेव द्रव्यस्य। द्रव्यं हि 'द्रु गतौ' धातोर्व्युत्पन्नम्, गतिशीलता तस्य प्रधानं धर्मः। निरोधे व्यापत्।

विविधव्याजहृतलोकधनोऽनुत्पादकः स्वतो ह्रियमनुभूय, चोरयमाणः परैर्दृष्टो हासमिषेण ह्रियं दोषं परिहरन्निव स्वामित्वं निराकुर्वन् स्वत्वं त्यजेत्। वस्तुतोऽपरिश्राम्यत उपभोगेऽधिकार एव कथम्? बुभुक्षिताः पक्षिणः स्वयमाहाराय यतन्ते। क्षुधार्त्तस्य क्षुच्छान्तिः स्वयं भोजनेनैव। कर्त्तैव सर्वत्र फलभाक्।

समाजो हि सहयोगिनां सहकर्मिणां पारस्परिकभावपूर्णः सामञ्जस्ये सामरस्ये च समाश्रितः समुदायः। परमद्य तस्मिन् केचनासहकर्माणोऽनुत्पाद्यापि सर्वाधिकं विश्रमजीविनश्च भूता व्यपेतलज्जाः। एतानन्तरेण न कापि समाजे क्षतिः। यथा च—

(१) व्याजोपजीवी—कस्यापि शतमुद्रं भूषणं क्षेत्रं गृहं पश्वादि वा न्यस्य आवश्यकतापीडिताय पञ्चाशन्मुद्रा ददाति न्यासधरः। एतस्य कुसीदं दश मुद्राः प्रतिमासम्। न्यासावर्त्तनावधिर्मासत्रयम्। परिस्थितिपीडितो न्यासकरोऽवधिमध्ये कथमपि न्यासं प्रत्यावर्त्तयितुं न समर्थः। न्यासधरस्य कुसीदचक्रवृद्धया यथा प्रतिक्षणमेधते, इतरस्य तथैव ह्रासः। अत एव स महाजनः। जनो दृश्यमानोऽप्यजनः[१] = जनेतरः = मानवोचितगुणरहितः, सोऽपि न सामान्योऽपि तु महान्। अथवा 'अज गतिक्षेपणयोः'— अजनः। न्यासेन सह न्यासधरस्याप्यात्मसात्करणे सस्पृहः सफलश्च, सोऽपि महान्।

१ पर्युदासो नञ्।

दस्युराजस्तु सम्पन्नेभ्योऽपहरति, परमयं तु वराकानकिञ्चनान्,अभद्रभागान्, भग्नमनसो विषण्णान्, खिन्नान् सन्नानवसादयति। अत एव प्राकृतैः स 'बाबू'[१], 'लाला'[२] आदिपदैः सम्बोध्यते।

(२) व्यसनोपजीवी—परेषां व्यसनेन कष्टेन विपत्त्या यो लाभान्वितो भवति सः। यथा वाक्कीलो वैद्यश्च। ज्ञानं हि परेषां शर्मणे। यो ज्ञानं विक्रीणानो लोकस्य विपत्त्या लाभान्वितो बुभूषति स किं ज्ञानोपासकः? "ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते"। स तु व्यापारी भगवत आशिष आशासानो भक्त इव "न स भक्तः स वै वणिक्"। यः शूलमारोप्यमाणात् पञ्चसहस्रं मुमूर्षोश्च शतं जिघृक्षति विचार्यतां स कीदृशः? 'यो मर्त्तुकामादपि हर्त्तुकामः'।

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्त्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्त्तते॥ चरकः।

एतादृशास्तु राष्ट्रस्य गौरवम्। परमद्य कियन्तस्तादृशाः। अद्यत्वे चिकित्सकाः प्रथमं रुग्णं न हि, तस्य धनं दिदृक्षन्ते, स जीवतु म्रियतां वा।

(३) शुल्कोपजीवी—गृहशुल्केन शकटशुल्केन जनवाहनशुल्केन जीवति, शतं सहस्रं वा मानवानां नियतवेतनेन नियोज्य यन्त्रादीनां परिचालनेन वार्थमुपार्जयति सः।

(४) घटकः—केवलं वार्त्तावित्त उभयोपभोक्ता उभयार्थहरश्च।

(५) समानशीलस्य धनिनः पोष्यपुत्रोऽपहृतहिरण्यस्य परिरक्षको लगुडी च।

अद्य वयं सर्वाभ्युदयाय कृतसङ्कल्पाः समवेताः। सर्वेण[३] सर्वस्मै[४] सर्वस्मात्[५] सर्वस्य[६] सर्वस्मिन्[७]नभि उदयः = सर्वाभ्युदयः। सर्वेषामेकाङ्गिन्युदये न सन्तुलनं सम्भाव्यते, अतः समन्तादुदयोऽस्माकमभीष्टः। स चाधिदैविकोनामाधिभौतिकीनामाध्यात्मिकीनाञ्च शक्तीनामभितो दिशमुत्कर्षः स्वभावबाधिकाया बाधाया अपनयनञ्च। सोऽयं दरिद्राङ्गभङ्गिदोषानु-

---

१ बा = सहित, उर्दूका उपसर्ग। यथा बा कायदा बा इज्जत। बू = गन्ध। बदबू खुशबू यथा। दुर्गन्धार्थ सभ्यव्यवहारमें केवल बू कहनेकी प्रणाली है। २ ला = ला इत्यनुकरणम् सर्वदा 'ला' 'ला' इति करोति सः। ला आदाने। अथवा परेषां धनं दृष्ट्वा यस्य मुखाल्लालाःश्च्योतन्ति सः। ३ जनेन। ४ प्राणिने। ५ उपायात्। ६ विश्वस्य। ७ काले परिस्थाने च।

षङ्गिपुञ्जवादोत्तुङ्गभुजङ्गभङ्गो, अभिमानभीष्मोष्मग्रीष्मक्रान्तामृतस्यन्दी जगन्निर्वेदखेद-च्छेदी पराभूतभूतवर्गानुकम्पी पुञ्जवादहुङ्कारकातरातुरहर्षवर्षी भवभयाग्निविनिर्गनामृतवर्षी समदर्दर्पज्वरकर्षी आन्तरगुहागहनगेहगूहितध्वान्तविध्वंसी कलङ्कसङ्करशङ्करो मायामत्त-त्रिजगद्गदङ्कारः शस्यमहर्ता प्रियोऽभयङ्करो मन्दीकृतभीतिमृद्धिपद् जगच्छर्मकर्मा आनन्दधामा दिग्देशकालकलननिरपेक्षः क्षपितातङ्क उदूढहेमरुचाम्, सकलकर्मफलोपलम्भः कनकवषननोऽपक्षपातम् दीनतर्जिथनिद्दगिरलसितोष्मशमनशीतसुभगसुरभिसमीरः पुञ्ज-वादप्लुष्टपीयूषसारशिशिरो वृसिन्धुलहरीनिर्मलः कीलितभाग्योत्कीलकः विपन्नबन्धुः समस्ततापोपेतापन्नपालनप्रथितप्रवीणः प्रायशो विश्वजनवाङ्मनसाऽनुमोदितो महीमहितो विश्वस्य निश्शेषक्लमशमक्षमोऽशेषजनचिन्तामणिर्निःसामान्यो वदान्यमान्यो वाद-मूर्धन्योऽस्माकं प्राक्तन आदर्शः परस्परं फलानपेक्षः स्वभावः। सर्वोऽत्र सर्वस्मै न पक्षाय न सम्प्रदायाय अपि तु लोकाय। 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'यो वै भूमा तत्सुखम्'। स चायं परस्परमभेदभावेऽद्वैते सहयोगे च प्रतिष्ठितः। सम्पत्तेरप्ययमेवार्थः। सम्यक् पदनम्=प्राप्तिः (पद गतौ, या प्राप्तिः समेभ्यः सम्यग् रूपेण जायते सैव) सम्पत्तिः, या च विशिष्टरूपेण (केवलं विशिष्टेभ्यः प्राप्तिः) सा विपत्तिः। यत्रैको निषीदति नवनवतिश्च नराणां शते विषीदति सा विपत्तिः पुञ्जवादस्य फलम्।

अस्यानुष्ठानञ्च शुद्धेन युक्तेन मनसा कार्यम्। अत्राभिलाषः शान्तेः परं संयोजनं सङ्ग्रामस्य, भूमिका धर्मस्य वर्णनं व्यभिचारस्य दृश्यते, एवं कृते न सफलता। सद्भावेन प्रयतमाने सफलता स्वयमुपतिष्ठते पक्ष्मणी इवाक्षणि। अनुष्ठानञ्च समन्वयेन। समन्वयो मानवस्वभावो न सङ्घर्षः। ह्रस्वानां दीर्घता दीर्घाणाञ्च ह्रस्वता समन्वयकरी, वल्मीकैः खातपूर्त्तिश्च। एष नासाध्यो न चानायासेन साध्यः, परं प्रयत्नसाध्योऽस्माभिरनुष्ठेय एव। समस्मिन् राष्ट्रे भूमण्डले जीवनस्तरे च समता अनुशासनेन सह व्यवतिष्ठेत। सहोत्पादस्य भावना, आवश्यकतानुसारि वितरणञ्चास्माकमुद्देश्यम्। उत्पादनस्य प्रथमं फलमावश्यकतापूर्त्तिः। द्वितीयञ्च वासनातृप्तिरर्थार्जनञ्च। इदानीं बहूनि वस्तूनि केवलं वासनातृप्त्यै धनार्जनाय च निर्मीयन्ते यत्र राष्ट्रस्य श्रमो व्यर्थः।

वस्तुतो विनिमयलभ्यं धनं परस्याज्ञाने दौर्बल्ये च प्रतिष्ठितम्। दुर्जनाः समाजस्य सारल्यं दौर्बल्यञ्चालोक्याधिकलाभ लोभे नानावश्यकवस्तूनि निर्माय समाजस्य शक्तिमपव्ययन्ति

सिद्धान्ततः सर्वाभ्युदयस्यान्तिमा स्थितिः शासनान्मोक्षः। नेयमराजकताजन्या विशृङ्खलता, अपि तु सर्वेच्छया सानुसन्धानं परस्परोदये समाश्रिता व्यवस्थापना। स्वास्थ्यापादनं चिकित्साविषयः, एवमनुशासनव्यवस्थापनं शासनस्य विषयः। तस्मिन् व्यवस्थिते न शासनस्यावश्यकता स्वस्थाय चिकित्सकस्येव। वसन्ते पुराणपत्राणीव शासनं स्वयमपेयात्। चिकित्सकश्च स एवाभिमतो वरीयान् यस्माच्चिकित्सिते पुना रोगाविर्भाव एव न स्यात्। 'प्रयोगः शमयेद् व्याधिम्', 'शमयेद् यो न कोपयेत्'। एवमेव शासनमपि तदेव वरं यदनन्तरं शासनपद्धतेरावश्यकतैव न स्यात्। नागरिकजीवने स विशेषः समागच्छेद् यदन्तरेण शासनं शासनानुसारि कार्यं प्रचलेत्। पुञ्जवादत्रासेनातङ्कितो लोकः परस्परस्माद् बिभेति न च परस्परस्मिन् विश्वसिति, तदा भयापनोदनाय शासनस्यावश्यकता, तद्भयं चेन्मानवमानसेभ्यः पलायेत, परस्परं विश्वासश्च जायेत तदा शासनस्य कावश्यकता?

सहयोगिनः! दण्डहीनशासनस्य स्वेच्छं व्यवस्थापनस्य प्राथमिकी प्रयोगशालाऽऽसीद् गृहस्थाश्रमः। व्यक्तेः सुखसौकर्यादीनामुत्सर्गः समूहजीवनस्याभ्यासो गृहस्थाश्रमस्य विशेषः। अयं व्यक्तेः स्वार्थाहुतये यज्ञशाला समत्वोत्पत्त्यै चारामः। अस्मिन्नेव यथाशक्ति श्रमो यथाव्ययमादानञ्चासीत्। क्वचन क्वचनाधुनापि विलोक्यतेऽस्य ध्वंसावशेषः। परं वयमधुना राष्ट्रमेव कुटुम्बं निर्माय गृहस्थस्य गृहं विश्वस्यातिथिशालां कर्त्तुं व्यवसिताः। इतिहासावलोकनेन जानीमो यदियमतिथिशाला परमरमणीयाऽऽसीत्। सर्वो गृहस्थो भोजनात्पूर्वमतिथिं प्रत्यैक्षत। "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकरणात्"। तस्य भोजनं परस्मै, जीवनं च परस्मै अभूत्। "शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः"। भागवते ११।७।३८। परमधुनैषातिथिशाला पुञ्जवाददावानलेन दग्धा, यत्र तत्र तस्या भस्माणवोऽधुना सूक्ष्मेक्षणेनेक्ष्यन्ते।

गृहस्थाश्रमे कश्चन पुञ्जवादप्रभावितो धूर्त्तः प्रतिद्वन्द्वितायां लब्धधनोऽल्पपरिवारः स्वकीयां स्त्रियमेव ब्रह्माण्डं मन्यमानस्तस्य पालनायाधिकृतो विष्णुमानी समाजव्यूहं विचूर्ण्य समाजव्यूहान्निःसृत्य एकाकी विषयरतो जठरामत्रोऽपि विश्वामत्र इव विश्वामित्रः समानशीलौ धनिराजानावनुकुर्वन्नन्यानप्येवं कर्त्तुमलब्भत्। एवं कुटुम्बस्य यज्ञशाला अतिथिशाला गोशाला पाठशाला गुरुकुलं यदा पुञ्जवादप्रभावेण भग्नम्, अथ च

पुञ्जवादस्य नवीना रचनास्तत्स्थाने समागताः, शुल्कशाला, सज्जश्यामा भक्ष्यशाला, पशु-पालनम्, महाविद्यालयश्छात्रावासश्च केवलं धनेन विनिमेयानि जातानि, यदाऽतिथीनां सेवा, समाजस्य व्यवस्था, गवां संरक्षणम्, लोकहितसाधकानां साधूनां सपर्या च विलुप्ता तदा तत्पूर्त्यैं आश्रमाः सत्राणि गोशालाश्च स्थापितानि। परं तान्यपि लुण्टितुकामः परिग्रही किञ्चित्तुच्छं दातुं प्रतिज्ञाय प्रविश्य भ्रंशयति। दुष्टदाम्भिकः शिष्टवेशमायोज्यैव दुष्टतां कर्त्तुं शक्तः। अनायासं जिहीर्षुणा चन्दनबिन्दुमालाभासिना नित्यं गङ्गा-स्नायिना प्रदर्शनवता च भवितव्यमेव।

आमध्याह्नं नदीवासः समाजे देवतार्चनम्।
सततं शुचिवेशश्चेत्येतद्दम्भस्य जीवितम्॥ नीलकण्ठः।

अथ च प्राप्ताधिकारो हि स्वार्थपरो ज्ञानविज्ञानयोर्धर्मस्य संस्कृतेश्चोपयोगं स्वस्य, केवलं स्वस्य लाभाय करोति। पापो हि स्पर्शेनापि पातयति। पुञ्जवादस्यातिशय-सम्पर्केणास्मास्वागतानां दोषाणां फलमस्माभिर्भुज्यते, पूर्वजन्मनः कर्मणां फलमिव, भोक्ष्यते चानिवृत्तेः, परं भविष्यज्जीवनायावधानताऽऽधेया, यतस्तस्य सम्पर्कः क्वापि न तिष्ठेत्।

इदं मधुमुखं विषं हरति जीवितं तत्क्षणाद्
अपथ्यमिदमाशितं व्यथयते विपाके वपुः।
इदं तृणगणावृतं बिलमधो विधत्ते क्षणाद्
यदत्र मलिनोल्वणैर्द्रविणमर्जितं कर्मभिः॥ जगद्धरः।

अधुना वयं सर्वस्य न केवलं बहुजनस्यार्थसिद्धयेऽस्माकमाद्यां पद्धतिं प्रतिष्ठापयितुं समवेताः। उत्पादकस्य स्वत्वस्थापनम्, अपरिश्राम्यतः स्वत्वनिराकरणञ्चास्माकमिष्टम्। वस्तुन्युत्पादयितुः, क्षेत्रे वप्तुः स्वामिता, तदनन्तरं समाजस्य। पुञ्जवादस्य प्रिया पुत्री प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता क्वापि न भवेत्, परं परिस्पर्धा भवेत्। येन मानवस्य पोषणं नैतिकबलञ्च समेधेत तदेवोपयोगि मन्येत। मानवमूल्यं सर्वातिशायि स्यात्। धनञ्च विनिमयस्य सामान्यं साधनम्। वस्तूनाञ्च सुलभता। सर्वत्र जीवनोपयोगिवस्तूनां सङ्ग्रहो हानिकराणां वस्तूनाञ्च निषेधः स्यात्। मानवस्य शारीरबौद्धशक्तीनां समुदायो जीवनम्, तस्य च विकासः स्यात्। यत्र न धनी न दरिद्रो न शोष्यो न शोषको न

स्वैरी न च स्वैरिणी। अत्र यथाशक्ति श्रमो यथाव्ययमादानं न्यायोपेतञ्च वितरणम्। पुञ्जवादेन शक्तेर्दुरुपयोगो लगुडिनां भयं भ्रष्टाचार इति, सङ्ग्रहो भिक्षा चौर्यमिति च त्रिदोषाः समाजशरीरे व्याप्ताः, एतत्सन्निपातहरणाय सर्वाभ्युदयश्चन्द्रोदयः।

सर्वभूतहिते रताः सर्वाभ्युदयिनश्चानुत्सिक्ताः कर्म कुर्वीरन्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः। अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।। श्रीमद्भगवद्गीतायाम्

कर्तॄणां मनःसरस्सु क्वाप्यसद्विचारपङ्कं न तिष्ठेत्, यद् बाह्यमात्रास्पर्शैरुदियात्। वयं परस्परं साहाय्यमाचरिष्यामः, परं न कमप्याश्रयिष्यामः। प्रतिदिनं मैत्रीवृत्त्या विश्वमेव मित्रं करिष्यामः। निष्कामे गुरुतमे कर्मणि कर्त्तुः केवलं कर्म, फलञ्च न कस्याश्चिद् व्यक्तेरपि तु व्यापकस्याव्यक्तभगवतः। "कृपणाः फलहेतवः।" अत एव जनताजनार्दनाय स्वेच्छया कर्मफलार्पणमस्माकं सर्वाभ्युदयार्थनीतेः प्रमुखः सिद्धान्तः। यद्यपि पुञ्जवादेनैष दोष उदपादि यल्लाभं विना न कोऽपि कर्मणि प्रवर्त्तते "स्वार्थं विना मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते"। यतः कर्मण आध्यात्मिकी भावना व्यपगता, केवलमर्थ स्यानर्थकारिणी भावना च समागता। परं स्वार्थभावः पशूनां भावो न बुद्धिजीविनां मानवानाम्। अस्माकं सिद्धान्तः परजीवनाय जीवनम्, परान् भोजयितुं भोजनम्, 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।' यज्ञश्च 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु।' 'केवलाघो भवति केवलादी।'

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।

याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ।। भागवते ३।३०।३३।

न ह्यस्मात् पापात् पापीयोऽस्ति यत् प्रतिवेशिनि बुभुक्षिते भक्षणम्। प्रतिवेशिनो मनुष्यानेव नहि पशुपक्षिणो नित्यसहयोगिनोऽश्वत्थतुलसीप्रभृतीनपि जलमपाययित्वा जलपानं दुष्करम्। "पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या"। सैषा विश्वेनाभेदरूपता।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः।

आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ।। भागवते ७।१४।९।

परानध्यापयितुमध्ययनम्, दुर्बलानां रक्षायै बलम्, धनं ज्ञानञ्च राष्ट्राय। बहवो वैज्ञानिकाः शोधका ऋषयो महर्षयो दार्शनिकाः सिद्धान्तद्रष्टारश्च परेषां हिताय लोकस्य हिताय कणान्

जग्ध्वा वृक्षकोटरे जीवनं यापयित्वापि लोकाय रत्नानि ददुः। विश्वविश्रुतो वैयाकरणो महामुनिः पाणिनिः, ककुप्कामिनीकर्णभूषणायमानकीर्त्तिर्विश्वस्यैकमात्रं दार्शनिको व्यासः, अतर्कितजगन्मृदितमलमायोऽद्वैतविचारकः शङ्करश्च कमर्थं साधयितुं पर्यभ्राम्यन्? राणः प्रतापः कस्मै सुखाय घासमघसत्? महामनाः कस्मै लाभाय विश्वविद्यालयं निर्माति? महात्मा कस्य प्रान्तस्य राजा भवितुं दण्डाघातान् सहते? किं मोहन-भोगं भोक्तुं यवाहारं कुरुते यवाहरः? सहस्रशो बलिवीरा हुतात्मानः कस्मै लाभाय हसन्तः शूलमारोहन्ति? एतत् प्रोन्नतमानवस्य पुरुषोत्तमस्य वैशिष्ट्यम्। स स्वार्थं परित्यज्य व्यापकार्थाय यतते, अनुक्त एवाखिलं लोकमानन्दयति च।

किं चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्सया करोति गोभिः कुमुदावबोधनम्।
स्वभाव एवोत्तमचेतसां सतां परोपकारव्यसनं हि जीवितम्॥

एषाऽस्माकं परम्परा। खेलायामानन्दमनुभवन् बालो व्यायामगुणैर्युज्यत एव निरभिलाषोऽपि। परमद्य स स्वभावो मानवेभ्योऽपगतः। अत एवैष्वधमताऽऽविष्टा। धनं नदीप्रवाहवत्तिष्ठतु। नदी प्रतिक्षणं निम्नाभिमुखा। एवं धनमपि निम्नानामाव-श्यकतामनुभवतामभिमुखं भवेत्। "दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।" परमधुना मनुष्यस्वभावे विकृतिरापादिता पुञ्जवादेन।

मानवस्त्रिगुणः। (१) विवेकी, (२) भाषावान् (३) अङ्गुष्ठवांश्च। एतादृशी योग्यता ब्रह्मणः सृष्टौ नान्यस्मिन्नुत्पादनेऽस्ति। विवेकेन स सदसच्च विचारयति, मानवे-तरान् वशयति हसति रोदिति च। भाषया स्वाभिप्रायं जनान् श्रावयित्वा स्वमतं प्रसारयति, भाषां लिपिबद्धाञ्च कृत्वा स्वविचारं विश्वस्मिन् कालद्वये च प्रचारयति। अङ्गुष्ठश्च तस्य कलानां प्रत्यायकः। मानवाङ्गुष्ठः सर्वा अङ्गुलीः स्पृशति। येन स विज्ञानोन्नतिं कर्त्तुं समर्थः। शरीरेऽङ्गुष्ठो ब्रह्मणो ज्योतिश्शिखायाः प्रतिनिधिः। विश्वस्य मर्यादास्थापने ब्रह्मणः प्रतिनिधेर्मानवस्यैव सामर्थ्यम्। "दावानलप्लोषविपत्तिमन्योऽरण्यस्य हर्त्तुं जलदात् प्रभुः कः" परमयं मानवः पुञ्जवादेन प्रक्षीणसामर्थ्यः। परिस्थितेर्नियन्तापि पुरुषो दौर्बल्यात् परिस्थितिप्रतिरूपोऽभूत्। परमेषा विकृतिररिष्टम्, अस्मानभिमृत्यु नेष्यति।

यथा कश्चन चौरः प्रतिदिनं प्रतिवेशिनो गृहादन्नं धनं वासश्चापहरन् शनैश्शनैः सुगुप्तं व्यवहृतया प्रक्रियया शरदां शतं व्यतियापयति, सन्ततिपरम्परयैष व्यवहारोऽनुवंशं

प्रचलति च। एकदा प्रबुद्धेन प्रतिवेशिना ज्ञातम्, हन्त! अयमस्माकं श्रमार्जितां सम्पदं चोरयन् स्वयमकृतश्रमोऽपि सानन्दं सामन्तजीवनं यापयति। वयञ्चानेन दण्डिता नरकजीवनं जीवितुम्। अनेन लक्षशो मुद्रा अस्माकमपहृताः शतशो जनाश्च विना मूल्यं भृत्यतामुपनीताः। दुष्टोऽयं कथमपि हृतं धनं प्रत्यावर्त्तयितुमशक्तो हन्तव्य एव। एष आततायी। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्निति मनुः। एतदेव रक्तक्रान्तेर्मूलम्। अतः समशीलानां धनिनामस्माकञ्चैष परिणाम एकदाऽवश्यम्भावी। अतो जीवनं सुरक्षितुमिच्छद्भिः समयात्पूर्वमेव जागरितव्यं परेषां जीवनाय यतितव्यञ्च।

> यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ भागवते।७।१४।८।

वस्तुतः परस्परविरोधस्य हेतुरेवायम्। यत्केचन भौतिकीमुन्नतिं स्वसुखसाधिकां मत्वा प्रतिवेशिनो हिताहितमविचारयन्तः सङ्घर्षे आक्रोशे सन्नद्धाः सम्पत्सङ्ग्रहे मग्नाः। वस्तुतो य ईश्वरो विश्वमिदं निर्मायैनदविशत् स समग्रसम्पदा सहैव। अतः सा सम्पदीश्वरस्यैव। यथा वायोः सूर्यस्याकाशस्य जलस्य भूमेश्चोपयोगोपभोगे वयं साधिकारास्तथैव तज्जानामन्यासामपि सम्पदां समुपयोगे वयं सर्वे समानत्वेनाधिकृताः। परं पुञ्जवादेनैतद्वैषम्यमुदपादि। तन्निराकरणमस्माकमुद्देश्यम्। नात्र कश्चन परोपजीवी स्यादपि तु परस्परोपजीवी। सर्वोऽत्र परस्य सौकर्य्याय प्रथमं चेष्टेत जीवेच्च। परिश्रमो यत्र व्रतं भवेत्।

> सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

[1]सत् स्वास्थ्यम्, आवश्यकं धनम्, ऐकमत्यं भ्रातृषु, स्वच्छं सुपयः सम्पन्नं सुपुं पुरं गृहञ्च, सुशीलः शिशुः, नीरोगिता, शीलरूपसम्पन्ना रमणी, अनपमानं जीवनम्, सद्विचारः, तदनुसारिकर्मप्रभावश्च क्षेत्रे सदन्नं सदाजीविका च सुकर्मणि व्ययः—इत्येव केवलं न सर्वाभ्युदयः। एषा भौतिकी समुन्नतिः। अस्माकं सर्वाभ्युदयस्य नैतादृशी क्षुद्राऽऽधारशिला। अस्माकं पृष्ठभूमिराध्यात्मिकी। विविधबाधा अङ्गीकृत्यापि मानवः शाश्वतसुखाभिलाषः।

---

१ ज्योतिश्शास्त्रोक्ता द्वादश भावाः क्रमशस्तनुधनादयः।

वस्तुतस्तदात्मसम्बन्धि सुखम्। नार्थसम्बन्धि। हन्त! वयमद्य केवलं परिवारस्य भरण-पोषणे एव स्वं कृतकृत्यं मन्यामहे।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

योगः कर्मसु कौशलम्। जीवने सिद्धान्तानामनुष्ठानं कला सैव योगः। श्रमोऽधुना विक्रीयतेऽतोऽप्रतिष्ठितः। अकर्म च प्रतिष्ठितम्। अत एव श्रमजीवी साधु जीवन्नपि गर्हितो विश्रमजीवी च गर्हितं जीवन्नपि सत्कृतः। एषा पुञ्जवादस्य परम्परा। परमस्माभिः श्रमः प्रतिष्ठाप्यः। कर्म्येव विश्रमेऽधिकृतो भवेन्नाकर्मी। श्रमस्य विक्रयो यदा विनङ्क्ष्यति तदा श्रमी श्रमनिष्ठो भविष्यति। स्वेच्छया श्राम्यतो मनोविनोदः। परस्मै पराग्रहेण परचापेन च श्राम्यतोऽवशता दण्ड इव। श्रमी पूर्वस्मिन्नानन्दं परस्मिंश्च काठोर्यमनुभवति। वयं वाञ्छामो यच्छ्रमः सम्पत्तिर्भवेत्। सर्वे च तस्या अभिलाषुकाः।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ गीता।

सर्वाभ्युदयसमाजश्च सर्वत्रैकमत्येन व्यवतिष्ठेत। बहुमतस्य शासने निरुक्तः स्वकीय-पक्षस्य स्थायित्वसम्पादने व्यग्रो न लोककल्याणं साधयितुं समर्थः। स स्वपक्षस्य कल्याणे विरोधप्रतिरोधे समाप्तसमयो लोकसेवायामनवकाश एव स्थास्यति। शासना-दनुशासनं प्रति, पराधीनतायाः स्वाधीनतां प्रति स्वाभाविकरूपेण गमनमस्माकं क्रमः। नास्मिन् समाजे दाता न च भिक्षुः। सर्वः सर्वमात्मवत्पश्येत् स्वस्य कर्त्तव्यं परस्याधिकारञ्च। कर्म चोपकारनिरपेक्षं सर्वः कुर्वीत। निरभिलाषं निरपेक्षं निर्वासनं कर्मैव मुक्तये प्रभवति।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

वस्तुतः सद्भावेन क्रियमाणस्य कर्मणो न नाशः। लोकः प्रतिदिनं ग्रीष्मे शरदि वर्षासु दिने रात्रौ च शिरसि गर्दभोह्यं भारमायोज्याशनवसननिरपेक्षं धावतः प्रकृष्टं कष्टं सहमानान् गर्दभायितान् दुर्गतान् संसारिणो न स्तौति। किमेषा तपस्या न? परं लोकाय धर्माय स्वल्पमपि श्राम्यतः स्तौति। यतस्ते निःस्वार्थं श्रमिणः पूर्वे च स्वार्थम्।

अतोऽस्माभिर्निष्काममभावेनास्मिन् योक्तव्यम्। एवं कुर्वतां विश्वमस्माकं सहयोगि। "स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते"।

मम मानसे भावनैकास्ति यत् प्रत्येको ग्रामो नागरिककृत्रिमताविरहित एककुटुम्बवद् व्यवस्थितः सरस्वतीविहारभूमिर्निर्मलेन ज्ञानालोकेन स्वाभाविकेन सौन्दर्येण विकसितः पुष्पोपवनसमृद्धो धान्यपूर्णकुसूलो गोदुग्धधाराभिरभिषिक्तो नवनीतनवीनाभनरो विद्युत्प्रभविद्वद्बालः स्वर्गतुल्यो दीप्येत। सुखसलिला नद्यः सर्वतः प्रसृता राजपथाश्च देशं पोषयेयुः। उदम्भांसि सरांसि हंसकलरवैर्मनो मोदयेयुः। प्रत्येकं गृहमुल्लासेन वीणाविरावेण बालानां काकल्या च मुखरितं भवेत्। नाकालमृत्युः स्यात्। पितरि स्थिते नात्मजनिधनं न च विधवावैक्लव्यं क्वापि भवेत्। सर्वः स्वस्वधर्मे कर्मणि च स्थितः परस्परेण सह युञ्जीत। वस्तुतो यतोऽभ्युदयो निःश्रेयससिद्धिश्च स धर्मः। दुर्भिक्षस्य कथैव न श्रूयेत। न विग्रहो न चौर्यं न व्यभिचारो न च लोकव्यवस्थापकानां सैनिकानामावश्यकता भवेत्। जनानां सुपुष्टं मस्तिष्कं नवाविष्काराय सज्जं तिष्ठेत्। समाजस्य सेवा, धारणा, वृद्धिः, समृद्धिः सर्वाभ्युदये व्यवस्थिता स्यात्। बुद्धिबलाः शरीरबलाश्चात्र समानाः, सर्वत्रोद्योगशीलताया वृद्धिः, समृद्धता च देशे न तु व्यक्तौ। सामाजिकविषमतानां शोषणस्य च विनाशः। उत्पादनञ्चोपयोगाय।

ग्रामाणामवस्थानं पञ्चसहस्रजनसङ्ख्यातो नाधिकं भवेत्, यत्र सर्वे परस्परं जानीयुः। ग्रामीणाः स्वावश्यकतानुसारि सर्वं स्वयमुत्पादयेयुः। क्रयस्यावश्यकतैव न भवेत् स्वल्पा वा। एषु ग्रामेषु एकाऽन्नविपणिरेका वासोविपणिरेका चोपयुज्यमानवस्तुविपणिः, बालानां प्रौढानां महिलानाञ्च कृते निःशुल्का नवीनसाधनसम्पन्ना पाठशाला आरोग्यशाला, उपयोगिपुस्तकान्वित आकाशवाणियुक्तो वाचनालयः, विविधविषयप्रदर्शकपट्टं मनोरञ्जनव्यायामादिव्यवस्थं जनोद्यानञ्च सर्वाभ्युदयेन सञ्चालितं तिष्ठेत्। न कश्चनानक्षरस्तिष्ठेत्। रुग्ण आरोग्यशालायामेव चिकित्सितो भवेत्। आरोग्याध्यक्षः कस्मिँश्चिन्मृतेऽनाप्तदशमीके तस्य विवरणाय प्रष्टव्योऽक्षमोत्तरो दण्डभाक्, चौर्ये चारक्षकः। परं पतनविरसेष्वसारेषु श्रीविकारेष्ववबुद्धेषु सर्वाभ्युदये च व्यवस्थिते न चौर्यं सम्भाव्यते। व्यवस्थायै न परेषामावश्यकता, ग्राम्याः स्वयं व्यवस्थापयेरन्। ग्रामाद् बहिर्यन्त्राणामवस्थितिर्भवेत्। यत्राहोरात्रस्य तृतीयांशे कार्यं भवेद्दशवर्षाणि यावत्, ततश्चतुर्थांशे।

शिक्षालयेष्वध्यापनं सायं प्रातर्द्विर्भवेच्छिल्पशिक्षणञ्च। अध्ययनायाध्यापनाय शिल्पशिक्षणाय मनोरञ्जनशारीरक्रियायै चाहोरात्रपञ्चमांशः। शयनकालश्चाहोरात्रस्य तृतीयांश आद्यायां शेषासु च चतुर्थांशः। प्रवेशसमये मूलप्रवृत्तिविभागे मासं छात्र आवास्यः। तदनुमोदनानुसारं विभागे प्रवेशो भवेत्। कक्षास्तिस्रः। आद्यायां वर्षषट्कम्। मध्यमायाञ्च वर्षत्रयम्। उत्तमायां वर्षद्वयम्। विभागीयाचार्यपरीक्षां प्रविविक्षुर्वर्षमेकमधीत्य योग्यतापरीक्षां प्रविष्टः प्रतिशतं प्राप्तषष्ट्यधिकाङ्कः प्रवेष्टुमधिकृतः। तस्यां वर्षचतुष्टयम्। प्रतिग्राममाद्यकक्षायाः पाठशाला। जनपदे च मध्यमाया जनपदच्छात्रावासश्च। अस्यार्द्धो व्ययो जनपदसर्वाभ्युदयसमाजेन देयोऽर्द्धश्चाभिभावकेन। भागीयनगरेषूत्तमावध्यध्यापनं भवेत्। छात्रावासश्च पूर्ववत्। एतेऽधीयानाः शासनसेवां कुर्युः। केन्द्रनगरे च विभागीयाचार्यपरीक्षायै महाविद्यालयश्छात्रावासश्च। छात्रावासव्ययश्च केन्द्रेण सोढव्यः। अध्यापकेभ्यः सपरिच्छद आवासः सर्वाभ्युदयसमाजेन देयो वेतनञ्च।

भारतस्य चत्वारो भागाः स्युः। पूर्वनगरम्, दक्षिणनगरम्, पश्चिमनगरम्, उत्तरनगरमितिभागीयनगराणि। केन्द्रश्च केवलं शासनपरः प्रदेशरहितस्तिष्ठेत्।

केन्द्रनगरे प्रजाया वसतिर्न स्यात्। अधिकारिणां गृहाणि, सर्वोच्चविद्यालयः, सर्वोच्चचिकित्सालयः, विभागानां कार्यालयाः, पुरातत्त्वविभागोऽनुसन्धानविभागः, राजदूतावासाः, सेनासन्निवेशः, अतिथिनिवासः समाजेन व्यवस्थापिता विपणयो भोजनालयश्च स्युः। पञ्चविंशतिवयाः पुमान् स्त्री च मन्तव्यं प्रकाशयितुं निर्वाच्यतां प्राप्तुं च शक्नुयात्। समस्मिन् राष्ट्रे एका लिपिः संस्कृता च भाषा स्यात्। एषु भागेष्वेकलक्षनिर्वाचकजनः प्रदेशो जनपदशब्देन बोद्धव्यः। प्रतिजनपदं सर्वाभ्युदयसमाजस्य सङ्ग्रथनं ग्रामसर्वाभ्युदयसङ्ग्रथनसापेक्षं भवेत्। उपसहस्रनिर्वाचका ग्रामगणेशं निर्ब्रूयुः। स च स्वक्षेत्रे पञ्चगणान् स्वेच्छया निर्ब्रूयात्। गणेशशतैर्जनपदसमाजं प्रकल्प्य तन्मध्यत एवैकं जनपदगणेशं मन्त्रिणञ्च निरुच्य कार्यं प्रचाल्येत। सर्वत्र तृतीयभागस्य निर्वचनं वार्षिकं भवेत्। अधिकारिणाञ्च योग्यतासापेक्षम्। गणेशे चैषा योग्यता शास्त्रकारैः प्रतिपादितेति द्वादशविशेषणोपेत एव प्रजाभिर्निर्वाच्यः।

सुमुखः = सर्वदा प्रसन्नमुखः।

एकदन्तः = स्मिते निःसृतैकदन्तो मन्दस्मितः। केनापि वृत्तेनाविस्मितो गम्भीरः।

कपिलः = कपीनपि लाति — आदत्ते = गृह्णाति=कार्येषु योजयति सः = अयोग्यपुरुषानपि कार्यप्रवर्त्तनार्हान् कर्तुं निपुणः इति भावः। अथवा साङ्ख्याचार्यः कपिल इवानासक्तः, कर्म कुर्वाणोऽपि निर्लिप्तः।

गजकर्णः = सूक्ष्मतमश्रावी। तेन प्रदेशभवकर्मणां सौक्ष्म्येण श्रोता।

लम्बोदरः = अत्रोदरशब्दो न पाकस्थल्या नवोदरगुहाया वाचकः, अपि तु मध्यमात्रस्य। प्रदेशवृत्तं श्रुत्वाप्यक्षुब्धः। अविकारिवृत्तं केनाप्यविज्ञातं तिष्ठेदवसरोपयोगाय।

विकटः = कर्त्तव्ये निष्पक्षो दृढव्रती। न यत्र प्रेम्णो वैरस्य वा प्रभावस्तिष्ठेत्।

विघ्ननाशः = प्रान्तहितव्याघातकानां तत्त्वानां नाशकः।

विनायकः = सर्वाभ्युदये न कोऽपि नायकः सर्वेषां समानाधिकारत्वात्, व्यवहारप्रचलनाय नियमनाय च तस्यावश्यकतास्त्येव। अतोऽयं न नायको नचानायकः, अपि तु विलक्षणो नायकः। अहम्भावे विगतनायकत्वाभिमानः कार्ये च विशिष्टः इति वा।

धूमकेतुः = आकाशे उत्पातविशेषद्योतकं नक्षत्रम्। तन्न कस्यापि दुःखदातृ परं तस्य दर्शनाज्जना बिभ्यति, भवन्ति चातङ्किताः। तद्वदेनं दृष्ट्वा सर्वे साशङ्काः सम्भ्रान्ता वा भवेयुर्यद्यप्यसौ न कस्यापि दुःखदः।

गणाध्यक्षः = स्वगणानां कर्मणामधीक्षकः। येन कर्मकरेषु शैथिल्यमुत्कोचं पक्षपातो वा नोपेयात्।

भालचन्द्रः = भालश्चन्द्र इव (आह्लादकः) यस्य सः = तेजस्विशान्तमुखमण्डलः।

गजाननः = गम्भीरमुखमुद्रः। वस्तुजातं निवेद्य न कोऽपि निवेदको निवेदनस्य भावं ज्ञातुं प्रभवेत्।

अस्माकं राष्ट्रे सर्वत्रैतादृशा गणेशा आसन्। कार्यारम्भे निर्विघ्नं परिसमापनायै सत्कार एतेषामावश्यक आसीत्। अत एवैष शिवस्य = कल्याणस्य पुत्रः = फलम्। परमधुना साम्राज्यवादपुञ्जवादमधुना वीतविवेके जगति तादृशपुरुषरत्नानामुत्पत्तिरेव विलुप्ता। परं गतानुगतिका मुग्धा गणेशं नाम्नैव पूजयन्ति सर्पेऽपसृते तस्य रेखामिव।

निर्वचने प्रचारिण आजीवनं निर्वचने निर्वाचने च नाधिकृताः स्युः। प्रजाः कानपि योग्यान् स्वेच्छया सानुरोधं निब्रूयुरयमस्माकं प्रतिनिधिः। तेषां बहुत्वे कादाचित्के

क्वचित्के पत्रगणना भवेन्नान्यथा। एवं परस्परं परिचिन्वन्तोऽभयं दास्यन्ति मतम्, नैवं मतं क्रेतुं शक्यम्, न च लगुडिनां भयादश्रेष्ठोऽयोग्यो निर्वक्तुं शक्यते।

जनपदसर्वाभ्युदयसमाजस्यैकवर्षानुभवः षष्ठांशस्तेनैव निरुक्तो भागीयसर्वाभ्युदय-समाजं प्रतिनिधित्वेन गच्छेत्। तन्मध्यतो भागपालस्य मन्त्रिणश्च निर्वचनं भवेत्। मन्त्री च भागपालेनामन्त्र्य राष्ट्रियवरिष्ठसमाजेन च विमृश्य विभिन्नपदेषु मन्त्रिणो नियुञ्जीत। भागस्यैकसूत्रतापादनाय सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजकार्ये साहाय्याय च यतेत। जलावसेचनादिव्यवस्थां सुगमां साधारणव्ययाच्च कुर्वीत।

भागीयसर्वाभ्युदयसमाजस्य द्विवर्षानुभवो दशमोंऽशः सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजं प्रकल्प्य तन्मध्यतो वरिष्ठसमाजमेकत्रिंशज्जनानां प्रकल्पयेत्। तन्मध्यत एव भागीय-समाजसदस्यानां सर्वथा बहुमतेन वरिष्ठसमाजस्यैकमत्येन च राज्ञो मन्त्रिणश्च निर्वचनं भवेत्। मन्त्री च राज्ञाऽऽमन्त्र्य विभागीयमन्त्रिणो नियुञ्जीत। सर्वोच्चसर्वाभ्युदय-समाजो वरिष्ठसमाजेन राष्ट्रस्य सर्वकार्यसम्पादने साधिकारस्तिष्ठेत्।

निम्नतमकर्मचारिणो वेतनात्सार्द्धं वेतनं गणेशस्य, तस्मात्सार्द्धं जनपदमन्त्रिणः, तस्मात्सार्द्धं जनपदगणेशस्य, तस्मात् सार्द्धं भागीयमन्त्रिणः, तस्मात्सार्द्धं भागपालस्य सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजमन्त्रिणाञ्च, तस्मात्सार्द्धं प्रधानमन्त्रिणः, तस्मात्सार्द्धं च राज्ञः। एभ्यः सपरिच्छद आवासो राष्ट्रेण देयो यानञ्च। कर्मकरा आषष्टेर्वयसः समाजसेवां कुर्वन्तोऽवकाशकाले यावद्वर्षं तावन्मासं वेतनं लभेरन्। निरन्तरं पञ्चवर्षं कृषकाः क्षेत्रस्य, नियतं शरदां दशकं शुल्केन गृहावासिनो गृहस्य च स्वतः स्वामिनः स्युः, एककालं दशवर्षाणां शुल्कदातारश्चापि। यन्त्रेषु विपणिषु निरन्तरं दशवर्षाणि कर्म कुर्वाणाः स्वतो भागभाजः स्युः। सर्वत्र कर्मकराणां भोजनाच्छादनं जीवनस्तरश्चाधिपतिसमः स्यात्।

सर्वोच्चसर्वाभ्युदयसमाजानुसारिप्रणाल्या आचरन् भागीयसर्वाभ्युदयसमाजो मुद्राम्, शिक्षाम्, सामरिकीम्, शासनव्यवस्थाम्, यातायातव्यवस्थामन्याञ्च सर्वभागसम्बन्धिनीं व्यवस्थां विहाय सर्वकार्ये स्वतन्त्रः। स एव स्वक्षेत्रे योग्यान् कर्मकरान्नियुञ्जीत करञ्चाददीत। करस्य षष्ठांशञ्च राष्ट्रियसमाजाय दद्यात्। जगदवतां भवतां सहयो-गेन दशभिर्वर्षैरेतल्लब्धुं शक्यते। "किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम्।" भागवते। एवञ्च कृतेऽस्माकं राष्ट्रमधुनापि सर्वस्यानुकरणीयमेव।

नात्युच्चशिखरो मेरुर्नातिनीचं रसातलम् ।
व्यवसायद्वितीयानां नाप्यपारो महोदधिः ॥

स चायमाद्यो विचारः । यथा श्रीमद्भागवते नृणां त्रिंशल्लक्षणवति धर्मं भगवान् व्यासः—

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ! ॥७।११।१०

नायं नवः सम्प्रदायो वादो वा किन्त्वस्माकं पूर्वजानां प्रणाली, मानवस्याद्यः सत्यः स्वभावः । सर्वाभ्युदयिना विचारेऽप्यनाग्रहवता भवितव्यम् । साग्रहो विचारो वादरूपतामवगाहते । यो हिंसाप्रधानत्वादधर्मः । विचारश्चापौरुषेयो बुद्धेर्लक्षणम् । विचारस्य ज्ञानस्य न कश्चन निर्माता, केवलमभिव्यञ्जक एव । अत एव ज्ञानमात्रस्यापौरुषेयत्वम् । कर्णपरम्परया श्रूयमाणत्वाच्च तदेव श्रुतिः ।

अस्मिन् कार्ये लग्नानां प्रारम्भिकः सहयोग आधारशिलेव भविष्यति । आधारशिलां न कोऽपि पश्यति, पश्यति केवलं गगनस्पर्शिनं सौधम् । परं हर्म्यस्याधारो जनेनानीक्ष्यो विवेकिगम्यो वास्तविकः । अनासक्तवृत्त्या कर्म कर्तुं श्रेष्ठा बुद्धिर्धृतिश्चापेक्ष्यते । उप्त्वा शीघ्रमेव फलेप्सया भूमिमवगाहमाना बालाः श्रमेण सह बीजमपि विनाशयन्ति । "धैर्यं धामवतां धनम्" इत्येव वरम् । लोकानां कटुसमालोचनया नास्माकं भीतिः ।

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव ।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते ॥

अतो वयं लोकैकनिष्ठया बुद्ध्या धैर्येण च युक्ता अखिन्नाः साधने यतिष्यामहे । "उत्साहैकधने हि वीरहृदये नाप्नोति खेदोऽन्तरम्" । चिन्तयतस्तदनुकूलं व्यवहरतश्च वृत्तिपरिवर्त्तनम् । यथा यथा वृत्तिः परिवर्त्तते, पूर्वाभ्यासः शैथिल्यं नवीनश्च दार्ढ्यमुपैति । अतः प्रगल्भवृत्त्या प्रचारिणं मनःकरिणं गरीयस्या निष्ठारज्ज्वा दृढमाबध्य प्रखरोद्यमेन राष्ट्रस्य करणेषूद्यमं प्रपूर्य प्राणेष्वभिनवामक्षयां स्फूर्त्तिं प्रतिपलमेधमानमुत्साहं क्रियाशीलतां समभावनां सद्भावनया सहोद्दीप्य सर्वतः प्रसृतमज्ञानं दारिद्र्यं दुःखं कलहं च विनाश्य प्रयतिष्यामहे । अयमस्माकं भूयांसि श्रेयांसि घटयतु विभुः । अस्माकं प्राक्कालिक

इतिहासो विशदोज्ज्वल उत्साहवर्द्धकः। कर्त्तव्यारूढा अनेके मानवा अविचलिता मृत्युं सहर्षमालिङ्गय विधुशेखरस्याङ्गरागतामुपगताः। सर्वां भूमिं ददतोऽप्यविचलिताः। सत्यम्,—

कियती पञ्चसहस्री कियती लक्षापि कोटिरपि कियती।
औदार्योन्नतमनसां रत्नवती वसुमती कियती॥

येषां नाम स्मरन्तो वयं धन्याः। येषां कीर्तिगीतिं गायन्तश्चारणा राष्ट्रं राष्ट्रम्, नगरं नगरम्, ग्रामं ग्रामम्, वनं वनं मुखरयन्तः शाब्दिकं कीर्त्तिस्तम्भमुच्छ्राययन्ति। येषां महिम्ना वयं मूर्धानं साभिमानमुच्चैः कर्त्तुं शक्ताः। "अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद् यशोधनानां हि यशो गरीयः"॥ अस्माकमयं प्राचीनो निधिर्महार्हः पवित्रश्च। तदिदमतीतं गौरवं पश्यद्भिस्तस्याक्षुण्णमर्यादायै यतितव्यम्।

व्यसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

एतत्सामान्यं रेखाचित्रं मम शस्यमाशस्यं श्रीमतां समक्षमुपास्थापि, परतश्च समये सर्वे समाजाः सम्मिलय वैशद्येनाधिकाधिकमुपयोगिनो नियमान् विधास्यन्ति। अस्मत्पूर्वजैः पुञ्जवादप्रणाल्या विश्वसुखं विचारितं भवेत्, परमनया दुःखम्, दारिद्र्यम्, कलहः, भय श्चैधिष्ट। आगच्छन्तु वयं प्रगतिविरोधिनामानन्दशत्रूणां व्यूहं विचूर्ण्य विश्वं प्रकाशयामः। एष मामकीनः प्रस्तावः परतश्च श्रीचरणाः प्रमाणम्।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

पुनश्च, अस्माकं राज्यमद्यपर्यन्तं कुलक्रमागतमासीद्, विचार्यैवेदं जिह्रेमि। अतोऽद्य लोकस्य न्यासं लोकाय प्रत्यर्प्य प्रसीदामितमाम्। सम्भाव्यते केचन मां भ्रान्तं मन्येरन्, परमयं भ्रमः सौख्यस्य राशिरानन्दस्य निधिश्च।

एतस्मिन् प्राचीनार्चितेऽपि नवीनवद् भासमाने भुवनमान्ये पथि विचरतां कदाचन स्खलनमपि चेद् विश्वसिमि यद् भगवानस्मान् स्वयं रक्षिष्यति। चलनमारभमाणः शिशुर्मात्रो-पेक्षितोऽप्यन्वीक्षित एव सा सदा तं पतनाद् वारयत्येव। जाग्रद्दशायां रक्षायै सावधानाः, यद्यप्यकिञ्चित्करं तत्, परं स्वप्ने यस्य शक्तौ विश्वसन्तो जीवामः सोऽस्मान् रक्षिष्यति।

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवाँस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः
जीर्णा तरिः सरिदियं च गभीरनीरा नक्राकुला वहति वायुरतिप्रचण्डः।
तार्याः स्त्रियश्च शिशवश्च तथैव वृद्धास्तत्कर्णधारभुजयोर्बलमाश्रयामः॥

"सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै।" 'सङ्गच्छध्वम, संवदध्वम, सं वो मनांसि जानताम्।' 'मा मा प्रापत् प्रतीचिका'

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१॥
ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरीक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभीं रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥२॥

यत् = मनो मनुष्यान्नेनीयते = अत्यर्थमितस्ततो नयति। मनःप्रेरिता एव प्राणिनः प्रवर्त्तन्ते। मनुष्यशब्दः प्राणिमात्रोपलक्षकः। सुसारथिः=शोभनो यन्ता यथा अभीशुभिः = प्रग्रहैरश्वान्नेनीयते, रश्मिभिनयति नियच्छति च। एवं मनोऽपि मानवान् प्रवर्त्तयति नियच्छति च। यच्च मनः हृत्प्रतिष्ठम् = हृदि प्रतिष्ठा यस्य तत्। यच्च मनः, अजिरम् = जरारहितम्, बाल्युवस्थविरेष मनसः समानावस्थता। यच्च जविष्ठम् = अतिजववद्वेगवत्, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पम्, शिवः = कल्याणपूर्णः सङ्कल्पो यस्य तादृशमस्तु ॥१॥

हे सवितः! देव! = जगतः प्रसवाधिष्ठातः तेजोऽधिष्ठातश्च! ये ते पन्थाः = पन्थानो = मार्गाः अन्तरिक्षे सुकृताः साधुकृताः वर्त्तन्ते। कीदृशास्ते? पूर्व्यासः = पूर्वेषु कालेषु भवाः पूर्व्याः। अरेणवः = नास्ति रेणुर्यत्र = अपांसुलाः, तेभिः = तैः पथिभिः = मार्गैरस्मान्नय।

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥३॥
ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥४॥
स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥
शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु शान्तिं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥
पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम् ।
नन्दाम शरदः शतम्, मोदाम शरदः शतम् ।

पुनश्च गच्छतोऽस्मान् रक्ष = पालय । अधिब्रूहि च अधि अङ्गीकृत्य ब्रूहि एते मदीया इति । यद्वा अधिब्रूहि = उपदिश यदस्माकं हितं पथ्यञ्च तत् । किम्भूतैः पथिभिः । सुगेभिः = सुगैः । सुखेन गम्यते येषु ते तैः प्रभूतान्नपानैः । व्याधिविपद्रहितैः ॥२॥

हे देवाः = सत्त्वप्रधानाः, भग एव भगवानस्तु । भगः = ऐश्वर्यम् । "भगं श्रीकाम-माहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु" इत्यमरः । "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥" तेन भगेन वयं भगवन्तः = समस्तैश्वर्यसम्पन्नाः स्याम । हे भग ! सर्व इत् = सर्व एव जनः, तं प्रसिद्धं त्वा = त्वां जोहवीति=पुनः पुनरतिशयेन च आह्वयति इष्टसिद्धये । हे भग ! विश्वविदितवीर्य ! स त्वमिह नः = अस्माकं कर्मणि पुर एता = अग्रयायी भव । अग्रेसरो भूत्वा सर्वकार्याणि साधय ॥३॥

हे ब्रह्मणस्पते ! त्वमस्य जगतो यन्ता = नियन्ता । सूक्तस्य = अस्मदुक्तस्य साधु-वचनस्य (कर्मणि षष्ठी) सूक्तं बोधि = बुध्यस्व । अस्मदुक्ता स्तुतिर्भवता ज्ञायतामिति भावः । तनयञ्च जिन्व = अस्मदपत्यानि प्रीणीहि, त्वत्प्रसादाद्देवा यद्भद्रम् = कल्याण-मवन्ति = पालयन्ति तद् विश्वम्=सर्वम्, भद्रमस्माकमस्तु । किञ्च सुवीराः = कल्याणपुत्राः सन्तो वयं विदथे = यज्ञे बृहत्=महदूर्जितम्, वदेम = दीयतां भुज्यतामित्याद्युच्चारयेम ॥४॥

भवाम शरदः शतम्, शृणवाम शरदः शतम् ।

प्रब्रवाम शरदःशतम्, अजिताः स्याम शरदः शतम् ।। तैत्तिरीयआरण्यके ।

तस्य मुखहिमवतो निर्गच्छन्ती हितमितं च्योतन्ती मकरन्दझरी शब्दनिर्झरिणी घटीसप्तकमविरलभावेन श्रावकान् वचनामृतेनाप्लाव्य व्यरमत् । लघ्वीं गुर्वर्थगम्भीरां स्थिरतडिल्लेखाभास्वरां सरसां सुवर्णां लोकद्वयश्रेयस्करीमार्यहृद्यां नानापुराणनिगमागम-सम्मतां क्वचिदन्यतश्चाप्युपलब्धां विधूतान्तर्ध्वान्तां वाचमाकर्ण्य साधुवादस्य गगनव्यापिना हर्षघोषेण सह प्रस्तावानुमोदनपुरस्सरं स्वस्वराज्यमहमहमिकया सर्वाभ्युदयाय स्वीचकार वचश्चमत्कारप्रभावितं प्रसन्नमानसं नरेन्द्रमण्डलम् ।

* * *

उद्घोषितो निर्वचनसमयः सम्प्राप्तः । गृहेषु सद्बुद्धयः सङ्घीभूय शान्तचेतसा शासनसामर्थ्यं समाजप्रचालनयोग्यताञ्च विचार्य स्वप्रतिनिधीन् निश्चिच्युः । ग्राम-गणेशानां निर्वचनं समस्ते भारते शान्त्या प्रेम्णा सौहार्देन जातम् । निरुक्ता-श्चापरदिने दर्भपाणयः प्राङ्मुखाः प्रातर्देशस्य भूत्यै प्रतिजज्ञिरे । तस्माज्जनपदसमाजं गत्वा समाजं व्यवस्थापयामासुः, तस्माच्च गता भागीयसमाजं ततश्च राष्ट्रियसमाजम् । एवं विना व्ययं सर्वत्र निर्वचनमभूत् । राष्ट्रियसमाजश्च देशस्य सर्वां व्यवस्थां सम्पादयितुं समध्यत एकत्रिंशन्मानवानां वरिष्ठसभां निरुवाच । सबहुमानं सर्वैरागृहीतो गुणगरी-यान्नियोजितश्शक्तिधरो मन्त्रित्वे, जातश्चायं चन्द्रो महीपतिः पट्टराज्ञी कमला च । बहिश्चैका गजला गीतिर्वृन्दवाद्येन सहाश्रूयत—

अम्बिका भवतु प्रसन्ना राज्ञि चन्द्रे भूपतौ (स्थायी)

मारमिव यं वीक्ष्य वध्वो जालमार्गकृतेक्षणाः

विस्मृतालङ्कारवस्त्रा मूर्च्छिताः पतिताः क्षितौ ।।१।।

यस्य बलवत्कर्म मर्मत्रोटिनो भृशदुःसहम् ।

श्रुत्वा मृतं विज्ञाय दग्धाः शत्रुकामिन्यश्चितौ ।।२।।

यस्य धिषणां नीतिनिपुणां वीक्ष्य नीतिविचक्षणैः ।

तत्यजे गर्वो मनीषिभिराहितः स्वस्यां मतौ ।।३।।

रामवद्राज्यं प्रशासद् दूषणान् दमयन् दृढम् ।
श्रीनिवासं शं नमन् सम्पुष्पितं भवतात् क्षितौ ॥४॥

निश्श्वास एष नवमो गतश्चन्द्रमहीपतौ ।
तौहिने नलिनीपत्रे जगत्पत्रे विलासिनि ॥१॥

निरर्थकपदान्यासे मञ्ज्वलङ्कारशोभिनि ।
निचिते श्रीनिवासेन पण्डितेन्द्राज्जनिञ्जुषा ॥२॥ खङ्गबन्धः ।

कमला तरुणवुधानां कान्त्या हरतां कदापि नो चेतः ।
किन्तु समाहितशास्त्रं मानसमधिवसतु हंसीव ॥३॥

न्यासि क्वचन क्वचन प्रीत्यै विदुषां मया नु काठिन्यम् ।
नीरजमृदुला तन्वी, कुचयोः कठिनैव सम्भाति ॥४॥

किमिह कृतं प्रत्यग्रं सकटाक्षं भाषिणो वुधा बहवः ।
किन्तु समाजे विदुषां विरलाः प्रतिभान्ति कर्त्तारः ॥५॥

भ्वङ्काङ्केन्दु (१६६१) मितेऽब्दे ज्येष्ठे शुक्ले रवौ दिवसे ।
एकादश्यामेष प्रारम्भि श्रीनिवासेन ॥६॥

ताताङ्घ्रिपद्मयुगले सम्पीताशेषशास्त्रमकरन्दः ।
परमश्छात्रविनोदी प्रत्यवसितगुरुकुलक्लेशः ॥७॥

विद्वन्मण्डलकीर्त्तितकीर्त्तिः प्रेम्णा मुदे कवीशानाम् ।
श्रावणकृष्णतृतीयारविदिवसेऽपूरयत्स इमम् ॥८॥

रविदिनविहितारम्भो, रविदिनपूर्णो मनोहरन्यासः ।
सुखयेत्कवीँश्चिरायासौ चन्द्रः पञ्चसप्ताहः ॥९॥

यस्याभिजनो लाम्बी ह्यधिवसता राजदुर्गमक्लेशम् ।
चक्रे विंशे वयसि स्थित्यै भूत्यै च कीर्त्यै वा ॥१०॥

विद्वद्वीक्ष्य उपास्य आस्यरचनै रस्यः प्रशस्यः समैः
सल्लोकव्यवहारशास्त्रविधिभिः सम्पूरिताभ्यन्तरः ।
रम्यश्चन्द्रमहीपतिः सुकृतिभिः सेव्यः सुखाकाङ्क्षिभि-
र्विन्यस्तः कमलानिवासकविना हृद्योऽनवद्यश्चिरम् ॥११॥

वित्तो व्याकरणेषु काव्यनिपुणः पौराणिकेष्वग्रणी-
र्गण्यो दर्शनवेदिनां व्यवहृतौ सम्प्राप्तसम्पाटवः ।
आयुर्ज्योतिरधीतिनां सुकुशलो विज्ञानविज्ञो व्रती
राष्ट्राचारविदां वरो वरमतिः स्पृश्यादिदं पुस्तकम् ॥१२॥

वेदेन्द्वभ्रविलोचनेऽ (२०१४) नुसमयं संस्कृत्य पौषेऽल्पशः
काङ्क्ष्यश्चन्द्रमहीपतिर्मतिमतां मोदाय मुद्रापितः ।
यस्या निर्भरसेवया बहुविधे व्यस्तेन कार्यक्रमे
स्तौम्यम्बां व पतञ्जलेस्तनुमतीं सेवां क्षमां पार्वतीम् ॥१३॥

—:०:—

पार्वतीविवृतावुद्धृतेतराणामप्रसिद्धानां शब्दानां कोषः

पुष्पाङ्किताः शब्दा नवनिर्मिताः

अवकरः = कूड़ा
अपश्चिमः=पूर्वः
अनुपेया = अनुपानम्
अवगुण्ठन = घूंघट
*अष्टकेलि = अठखेली
*अवचूणन = पाउडर
अन्तर्हसन्ती=दिवाल की सिगड़ी
*अवस्तारकिङ्किणी = झालरी की घण्टी
*अयोसञ्जूषा = तिजोरी
अध्याढक = सेर से अधिक
अभ्यवहार = भोजन
अश्रुताभियोगः = मुकद्दमे की सुनवाई के विना
आयतिः = परिणाम
आरण्यकाः = वनके छाणें
आमनस्य = प्रसवकष्ट
*आवास = कम्पार्टमेन्ट
*आशुशुक्षणितरणिः = अगनबोट
आक्रीड = बाग
आश्वीन = अश्वसे एक दिन में जाने योग्य मार्ग
आप्रपदीन = अचकन
आवी = प्रसवव्यथा
इला = पृथ्वी
*उष्णीषः=साफा
*उत्त्वरा = उतावली
उपबर्ह = मसंड
उदन्यन् = पिपासुः
उत्कोच = रिश्वत
उष्णीषिका = टोपी, पगड़ी
एषमः = इस वर्ष (ऐसकै)
और्ण = ऊनी

क

कर्णेहत्य = आतृप्ति
*कञ्चुककोश = जेबका धन
*करकर्पट } रुमाल
*करवासः }
कविका = घोड़ेके मुंह का कड़ा
करटी = गजः
कशेरुका = पृष्ठास्थि
करोटिः = शिरोस्थि
कारण्डवः = पक्षिभेदः
कान्दविकः = कन्दोई, मिठाईवाले
कासरः = महिषः
कासारः = ह्रदः
कीकसम् = अस्थि
कुणिन्दः = वन्यजातिः
*कुचमादी = कुचानां स्तन्यं पीत्वा माद्यति सः = बालः ।
कुणिः = वक्रकरः

कृष्णाप = खिजाव
केकरः = विकृतनेत्रः (ऐंचा)
*केशनिर्मोकमोची—बालकी खाल खींचने वाला
कौलेयकः = श्वा
क्षीरस्यन् = दूध पीने की इच्छा से

ग

गुल्फालङ्करणम् = पाजेब
गोफणा = गोफिया
गंगाधररसः = अतिसाररोधकौषध ।

च

*चलचित्र = सिनेमा
*चषकः = प्याला

ज

*जम्बीरचूषिका = लेमनचूस
जीवातुः = जीवनौषधम् ।
जैवातृकः = चन्द्रः
*ज्योतिःशलाका = रंगशलाई

त

*तरलमञ्चः = स्प्रिंगदार मचाण
ताम्बूलबीटिका = पान बीड़ा

द

दाधित्थम् = दही से संस्कृत
दीपशलाका = दिवासलाई ।

ध

*धूमशकटीपथिकावासः = मुसाफिरखाना

न

निशान्तम् = गृहम्
*निवेशकः = तम्बू गाड़ने वाले
निष्ट्यः = चाण्डाल
निर्बन्धः = आग्रह
नीविः = अण्टी
नीशार = रजाई = सोड
नेमाक्रान्त = आधे दबाये हुए
नैकटिकः = भिक्षुः

प

परारि = गतवर्ष
पल्ली = छिपकली, छोटा गांव, ढाणी ।
*पक्षकोटर = पोकेट
*परिवरण = चौखटा, फ्रेम
*परिष्कारण = पालिस
पत्रपाश्या = ललाटाभरण = मांगटीका
*पटत्कारः = पटाखे
पत्त्ररथ = पक्षी
*पथिकावास = पेसेञ्जरट्रेन का डिब्बा
*परजीवी = } दूसरों पर जीने वाले
*परैधित = } (पैरासाइट)
*पदपद्या = फुटपाथ
*प्रतानिनी = झालरी
प्रसृतिः = चुल्लू
*प्रतीक्षाभवन = वेटिङ्ग रूम
*प्रतिपरीक्षण = ज़िरह

प्रवात = बवंडर (साईक्लोन)
प्रावरण = ओढ़नेका वस्त्र
*प्राभातिकः = परभाती राग
पाथः = जालम्
पात्रेसमिताः = भोजनकाले एव सङ्गताः
पारितथ्या = सीमन्तस्थस्वर्णपट्टिका (खांचा)
पारिहार्यः = (कङ्गन)
पिच्चित = पिचगये
पिचुमन्द = निम्ब
पेरुः = सूर्यः
प्रोञ्छन् = पोंछता हुआ
*पौरप्रतिष्ठान = सिटी कार्पोरेशन

फ

*फूल्लफरी = फूलफड़ी

ब

बालमित्रः = उदयन् सूर्यः

भ

*भूमिदारः = ज़मीन्दार

म

*मरुत्तर = मोटर
*मञ्चनटी = स्टेज एक्ट्रेस
*मार्गलाघव = शोर्टकट
माघवनी = इन्द्र की
मुद्रा = मुद्दा (वाग्दान)

र

*रसगुल्म = रसगुल्ला
राजिका = राई
रोमन्थ = जुगाली

व

वल्मीक = सर्पबिल (बाम्बी)
वृषस्यती = गर्भाधानार्थ वृषेच्छु गौ ।
वचक्नु = वाग्मी
वटक = वड़े
व्यञ्चाः = वेञ्चे
वितान = तम्बू, आसमाना
वायुध्वनि = ह्वीसल
वाशित = पक्षिशब्द
विस्फूर्जथुः = वज्रनिर्घोषः
*वृन्दवाद्य = बैण्ड
*विपद्विवरण = डायरी देना
वीध्रम् = विमलम्

ल

ललन्तिका = हारः
*लिङ्गाटः = लङ्गोट (लिङ्गमटतीति)
लुलायः = महिषः
*लोकपथः = राजमार्गः

श

*शकृच्छोधनजीवी = महतर
शामीलम् = शमी का भस्म
शिरोरत्नम् = शिरोभूषण, बोर
शुन्ध्युः = अग्निः (३०७ उणादिः ।)
*शुल्कावास = होटल ।

स

समाप्तसप्तमीक = सत्तरवर्ष से बूढा
समर्यादम् = पैतरें के साथ
सिकतापर्वतः = बालू के टीबे
*सेव = (एपल)
संसरण = राजमार्ग
सज्जः = प्रस्तुत, सतो जातो वा

शुद्धिपत्रम्

उपर नीचे की मात्रायें, रेफ टूट गये, भ म, व व, अनुस्वार म्, आश्चर्यबोधक, सम्बोधन, प्रश्नबोधक, चिह्नों का विपर्यय, ओ, ई की मात्रायें ठीक न लगीं, ये अशुद्धियां पाठक स्वयं शुद्ध करें। विशेष अशुद्धियों की शुद्धि दी जाती है।—प्रकाशकः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	४	आधारो	आधारी
१८	२१	हासप्रियः	उपहासप्रियः
२१	५	वार्द्धक्यभावा	वार्द्धका
२३	२	तदनु	तमनु
२५	२४	प्रार्थयामि	प्रार्थये
२९	११	स्त्व	स्नात्वा
३१	१५	ह्यमान	ह्यमानम
३२	१३	व्यत्या	व्यतिया
३४	५	चक्षते	चक्षन्ते
३४	६	,,	,,
३७	१४	स्वीय	स्वकीय
४२	२२	त्रातत्रात	त्रायध्वम् त्रायध्वम्
५०	६	माने	जाने
५०	६	दस्थाः मुग्ध	विदग्धमुग्ध
५२	२०	दूरयन्तों	दवयन्तो
५४	११	विधास्मामः	विधास्यामः
६३	१	एलायितु	पलायितु
६५	१२	वेत्त	वेत्तु
६७	२५	परश्वो	परं ह्यो
७१	६	सहन्तः	सहमानाः
७१	७	स्मिकार्ये	स्मिन् कार्ये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	१३	प्रत्यैत	प्रत्यैयत
७३	२४	वार्द्धक्यं	वार्द्धकं
७४	२३	प्रत्यैद्	प्रत्यैयत
७५	२०	मुदविजीत्	मुदवेजयत्
७५	२६	नाक्षिणी	नाक्षणि
७५	१४	लिहन्	लिहानः
७९	२३	मपानैवान्	मपानैषुः
८३	२	प्रत्यैत	प्रत्यैयत
९६	२२	गृहीदर्वी	गृहीतदर्वी
११२	२२	द्वावेव च महोत्कौ =	महोत्कं प्रत्यैयत
१०७	२१	रुद्धरिष्यतिरुद्धत्तुं	शक्यते
१२४	१७	सरोजिनी नितरा	मनोरमा नितरा
१२६	१९	समाकृष्टकामिनां	समाकृष्टकामिनीनां
१२८	१	हातः	हीनः
१३३	१७	प्रकृतिको	प्रकृतिकः
१३९	१९	मपेतः	मुपेतः
१४०	१९	वृताभोग	वृताभोगम
१४०	१८	इयन्तं महान्तंम	इयन्महद

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६१	२	हसितात्	हसिते	२०३	२	ड्डुरोय	रुड्डोय
१६४	२	मुक्तशर	मुक्तशरशङ्कितैः	२०८	२२	जगदक्षणि	जगतोऽक्षणि
१६५	१५	चन्नमदन्तः	चान्नमदन्तः	२२४	१९	निबन्धो	निर्बन्धो।
१६६	८	प्रोढ	प्रौढो	२२६	९	विस्फार्य	विस्फार्य स्वं
१७२	४	शाराः स	शाराःसर्वे	,,	२१	कौशल्येन	कौशलेन
१७२	१९	हितायास	हितायायस	२२८	३	अलिप्तापक्ष	अलिप्तापक्षै
१७८	९	सहतोड्डीय	सद्दसोड्डीय				

गीतिपरिचयः

पृष्ठे

३६ कुड्मला दधतिच्छविं मातरिश्वविचालिताः।

२८६ अम्बिका भवतु प्रसन्ना राज्ञि चन्द्रे भूपतौ।

१७३ हा! गतः क्वासौ प्रियो मे कृष्णकेशैः शोभितः

एतास्तिस्रो गजलपदवाच्याः।

१७२ निशे हे आलि नाथः क्वास्ते मे (स्थायी)

शुद्ध थाट, ताल कहरवा।

धॖ स स रे गग०० गमम० गग रेगस०

सुप्तासम्०—(अन्तरा)

ध स स ध स सा सरि सरि ग० सरिग गमम ग० रे ग स०

— ० —

१७१ प्रियवर! पातं नेत्रयोः। राजस्थानी माड़

———

शीघ्रमेव प्रकाश्यते

चन्द्रमहीपतेरुत्तरखण्डरूपोऽपि स्वतन्त्रः, सूर्यप्रभायात्रावृत्तान्तात्मको द्वितीयो भागः। यस्मिन् भारतस्य विशिष्टनगराणामाधुनिकः समुदाचारो जीवितभाषया पठिष्यते। विषयोऽयं संस्कृतज्ञानाँ कृते सर्वथा नवीनः परमं व्यवहारवर्द्धकः सातिशयमानन्ददश्च।

अभिलाषुकाः अग्रिमधनं विनैव केवलं नवकार्षापणपञ्चकस्य (५ N. P.) पत्रमेकं लिखित्वा नामाङ्कनं कारयेयुः। मुद्रिते च तस्मिन् श्रीमन्तः सत्वरं सूचयिष्यन्ते यथाभिलषितं कर्त्तुम।

स्वरचिह्न	तारसप्तक	मन्द्रसप्तक	कोमलसप्तक
	ं	॰	—

चाल— मन मोरा बावरा। तीन ताल। स्वरलिपिः भातखण्डेपद्धतिः।

१८९ पृष्ठस्थगीतिस्वरलिपिः पाठकसौकर्याय।

स्थायी

+	२	०	३
		सा सा रसा ध	गरे मग रे
		म म म- नो	— व्या ... कु
सा — — —	— — — —	प प ध नि	ध म ग रे
लम् ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	रा — त्रि —	दि व म लि
—निरे ग म	ग सानि ध प		
मिल नम् —	चिं -- -- त त्		

अन्तरा

		ग रे सा नि	सारे ग ग ऽ
		शो — त:	सा — न्द्रो—
— रेम प म	रे म ग ऽ	प नि नि नि	पनि सांनि ध ऽ
वा — यु —	र्वा — ति —	वि — द्यु त्	प — — त्या--
ऽ भम ग म	गम पप प —	प गं रें गं	सां रें सां —
सह चा —	भा ति	प्रो — पि त	प ति का —
नि — सां —	सां रें सांनि ध प	ध ध ध —	ध ध नि ध नि
मु — ग्धा —	त — रु — णी	घ न घो —	र घ टां —
— पध सां नि	ध ऽ प ऽ	सां सांनि ध ऽ	प पम ग ग
— — प —	श्यं ती	भृ श मे	त द उ द्
रेग मप धप मग	रेम गरे सानि ध प		
वि ज ते —	— — — —		

—.—

श्रीमतां कर्त्तव्यम्—

(१) संस्कृते नवीनाः सरला रचना विधेयाः।

(२) तासां विक्रयणे प्रचारे चेष्टितव्यञ्च।

(३) पुस्तकस्यास्य सर्वत्र प्रचारः कार्यः, येन संस्कृतप्रचारेण सह विषयस्यापि प्रचारो भवेत्।

(४) नवीनपुस्तकानां परीक्षासु निवेशनेन संस्कृतभाषाया वास्तविक उद्धारो भवितुं शक्नोति, तदर्थमधिकाधिकं चेष्टितव्यम्।

(५) सर्वविधः परामर्शः पत्रव्यवहारश्चाधो लिखितेन सङ्केतेन करणीयः। संस्कृतज्ञानां विश्वस्मिन् प्रसृतानां विदुषां मैत्र्यै परमाकुलोऽहम्।

श्रीनिवासशास्त्री
११८, अमहर्स्ट स्ट्रीट,
कलकत्ता-९